20758
16.4.97

वेदार्थ मञ्जरी

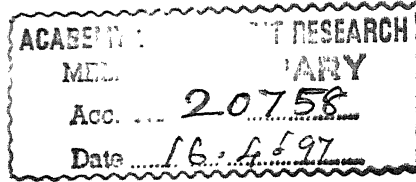
वेदार्थ मञ्जरी

(पं. चन्द्रबली त्रिपाठी स्मृति ग्रन्थ)

सम्पादक
विद्यानिवास मिश्र

ऋत्विज प्रकाशन, दिल्ली

भारत सरकार की 'भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेज़ी में प्रकाशन योजना' के अन्तर्गत
शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्राप्त आंशिक अनुदान से प्रकाशित



प्रथम संस्करण : 1995

प्रकाशक : ऋत्विज प्रकाशन
34, संस्कृत नगर
प्लॉट 3, सेक्टर 14, रोहिणी
दिल्ली-110 085
आवरण : श्री प्रमोद गणपत्ये
मूल्य एक सौ पचास रुपये
टाइपसेटिंग : बुकमैन
ए-121, विकास मार्ग, शकरपुर
दिल्ली-110 092
मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स
4/115 बाज़ार गली
विश्वास नगर, शाहदरा
दिल्ली-110 032

VEDARTHA MANJARI : Pandit Chandra Bali Tripathi Commemorative volume containing essays on religion and philosophy, some writings of Panditji and articles remembering him. Edited by Vidya Niwas Misra, Rs. 150/-

परामर्श मण्डल

चन्द्रचूड़ मणि
चन्द्रमौलि मणि
चन्द्रभाल त्रिपाठी
चन्द्रधर त्रिपाठी

सहायक सम्पादक

सरोज कुमार शुक्ल
शारदा वशिष्ठ

सम्पादन सहयोग

ब्रजेन्द्र त्रिपाठी

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।

गीता-17-3

[हे भारत! सब लोगों की श्रद्धा अपने-अपने सत्त्व के अनुसार अर्थात् प्रकृत स्वभाव के अनुसार होती है, मनुष्य श्रद्धामय है; जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है, वह वैसा ही हो जाता है।]



जन्म : 21 नवम्बर, 1893

पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी
(चित्र : 1967)

निधन : 5 जनवरी, 1985
(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)

अनुक्रम

खण्ड दो : कृतित्व (पं. चन्द्रबली त्रिपाठी के कुछ निबंध)

खण्ड तीन : व्यक्तित्व

भूमिका

पुण्यश्लोक पं. चन्द्रबली त्रिपाठी की स्मृति में ***केदार्थ मञ्जरी*** के रूप में यह श्रद्धांजलि प्रस्तुत की जा रही है। यह प्रस्तुति उनकी जन्मशती के वर्ष में हो रही है, यह हम लोगों के लिए आत्म परितोष का विषय है। त्रिपाठीजी एक अत्यन्त नम्र भाव के मौन विद्यासागर थे। दर्शन में एम्.ए. करते समय उन्हें जो तत्त्व जिज्ञासा हुई, वह उनके साथ आजीवन एक दिव्य प्रेरणा के रूप में रही और इसी के फलस्वरूप उन्होंने प्राचीन भारतीय वाङ्मय की गम्भीरता में अवगाहन किया और ***उपनिषद् रहस्य*** नाम से तीन खण्डों में महान ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के.बारे में विस्तार से चर्चा आगे की जायेगी। यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि केवल अध्ययन मात्र से ही इतने विशाल ग्रन्थ की रचना नहीं की जा सकती थी। त्रिपाठीजी की तपस्या और निर्मल आचरण ही ऐसे ग्रन्थ के प्रणयन में सहायक हुए। त्रिपाठीजी महामना मालवीय जी के सचिव रहे और उनकी छत्रछाया में उन्होंने कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिवेणी में डुबकी लगाकर मूल्यबोध के जो मुक्ताफल पाये, वे ही उनके जीवन के पाथेय बने। उस युग की राष्ट्र-साधना एक साथ स्वदेश और सुसंस्कृति की साधना थी। इसलिए त्रिपाठीजी-जैसे वरेण्य लोग नेपथ्य में रहते हुए एक जाग्रत राष्ट्र की वैचारिक पीठिका तैयार करने में अपनी आहुति देते रहे।

त्रिपाठीजी ने अत्यन्त निस्पृह भाव से वकालत की। वकालत करते हुए भी उनका अध्ययन निरन्तर चलता रहा। ***उपनिषद् रहस्य*** के अतिरिक्त जो उनकी पुस्तकें हैं, उनमें उन्होंने धर्म, ज्ञान, चिन्तन, संस्कृति आदि को अपना विवेच्य विषय बनाया है। ***उपनिषद् रहस्य*** की भूमिका में उन्होंने अपनी अध्ययन-यात्रा का जो विवरण दिया है, उससे पता चलता है कि उन्होंने केवल ग्रन्थ स्वारस्य के आधार पर ही उपनिषदों का रहस्य समझने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि उन्होंने भारतीय जीवन पद्धति के परिप्रेक्ष्य में उपनिषदों का रहस्य समझा और पाया कि यह रहस्य प्रत्येक जिज्ञासु के लिए है; ब्रह्म विद्या में उन सबका अधिकार है, जो जीवन की विशालता के आगे अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार हों। बड़े उदार और विशाल मन से त्रिपाठीजी ने उपनिषदों की संगति, अर्थगत संगति और महत्ता प्रतिपादित की है। औपनिषदिक परम्परा से अभिज्ञात सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य (जिनकी संख्या 108 कही जाती है) को उन्होंने मथा और ज्ञान का ऐसा नवनीत निकाला कि हिन्दी में क्या, किसी भी भाषा में यह अकेला ग्रन्थ है।

धर्मराज युधिष्ठिर त्रिपाठीजी की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसमें उन्होंने युधिष्ठिर के उस पक्ष पर नयी दृष्टि से विचार किया है, जिसे आम लोगों ने समझने की कोशिश नहीं की है। युधिष्ठिर ऊपर से थोड़े अपराक्रमी

दिखते हैं, परन्तु भीतर से उनका आत्मबल बहुत दृढ़ है तथा सत्य और विवेक के मार्ग से विचलित नहीं होने वाला है। उनके धैर्य के गुण को लेकर ही उन्हें युद्ध के जीवन में युधिष्ठिर की संज्ञा से अभिहित किया गया है। त्रिपाठीजी ने महाभारत के निचोड़ के रूप में ही उसके नायक युधिष्ठिर के चरित्र को सहज और सरल भाषा में प्रतिष्ठापित कर समाज का बहुत बडा उपकार किया है। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी को युधिष्ठिर की संज्ञा दी गयी है और महात्मा गाँधी के अवतरण को युधिष्ठिर की वापसी कहा गया है। इस दृष्टि से उनका यह ग्रन्थ विशेष रूप से पुनः परीक्षणीय है।

वेदार्थ मञ्जरी में स्वर्गीय त्रिपाठीजी के जीवन-संकलन, वेद और ज्ञान के अर्जन को केन्द्र में रखा गया है। इसमें तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में वेद और भारतीय ज्ञान की परम्परा से सम्बन्धित सुधी विद्वानों के लेख हैं। 'वेद और भारतीय परम्परा' नामक लेख आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेयजी का है, जिसमें उन्होंने वैदिक परम्परा को समग्र रूप मे आत्मसात कर उसकी संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। वैदिक अवधारणा की चर्चा करते हुए वे स्वयं कहते हैं, "मनुष्य का आत्मानुभव और विश्वानुभव एक साथ जुड़े रहते हैं और वे किस प्रकार सम्बद्ध हैं, यह अनुसन्धान सभी सांस्कृतिक विचारधाराओं को उनका आधारभूत रूप प्रदान करता है। सभी अनुभवों के विषयी के रूप में मानवीय स्वरूप के अनुसन्धान को आत्मविद्या कहा जा सकता है। विश्व-प्रकृति के उद्गम के विवेचन के रूप में सभी प्राकृतिक और विषय-तात्त्विक मीमांसाएँ सृष्टि विद्या में परिसम्पन्न होती हैं। इस प्रकार आत्मविद्या और सृष्टिविद्या, इन दोनों तरह के ताने-बानों से वैदिक विचार-वितान का निर्माण हुआ है। प्रारम्भिक वैदिक युग में सृष्टिविद्या के सूत्र प्रधान थे और पुरुषविद्या के अपेक्षाकृत गौण। परवर्ती वैदिक युग में आत्मविद्या का प्राधान्य देखा जा सकता है। पूर्व वैदिक युग में ऋत् ही सृष्टि का मूल नियामक तत्त्व था देवता ऋत्-सूत्र से जुड़ी ऋत्-यित् शक्तियाँ थीं। पुरुष एक ओर विश्वातिक्रामी देवतातत्त्व से अभिन्न था, दूसरी ओर अपने विश्वाभिव्यक्त रूप में वह देवताओं की सृष्टि, हवि और याजक माना जाता था। स्पष्ट ही मान पुरुष दिव्य पुरुष से यज्ञ द्वारा जुड़ा हुआ था। परवर्ती वैदिक युग में देवताओं का स्थान ब्रह्म ने, ऋत् का धर्म ने ले लिया और 'पुरुष' से अधिक प्रचलन 'आत्मशब्द' का हो गया। यज्ञ का स्थान उपासना और अन्ततः ज्ञान ने ले लिया और अन्तिम ज्ञान था—आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत। पूर्व वैदिक युग के मुख्य विचार-पद हैं—ऋत् और देवता, पुरुष और यज्ञ। अपर वैदिक युग के प्रत्यय हैं—ब्रह्म, आत्मा, उपासना, ज्ञान और धर्म। तब से आज तक ये प्रत्यय भारतीय चिन्तन को प्रकाशित करते आये हैं।"

दूसरा लेख स्वामी लोकेश्वरानन्द का है। यह लेख अंग्रेज़ी से अनूदित है। इस लेख में स्वामीजी ने उपनिषदों को ज्ञान का प्रतीक माना है और कहा है, "जब यह कहा जाता है कि 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' तब इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि 'जीवात्मा स्वयं कुछ नहीं, बल्कि विश्वात्मा ही है'। जीवात्मा अपने नाम और रूप के कारण ब्रह्मात्मा से भिन्न मालूम होती है। जीवात्मा अपने नाम और रूप को सत्य समझकर अज्ञान में डूबी रहती है। जब उसे आत्मज्ञान का बोध होता है, तभी उसे इस सत्य की अनुभूति होती है कि वह स्वयं ब्रह्म का ही रूप है। आत्मज्ञान अर्थात् जीवात्मा के ब्रह्मस्वरूप को जान लेना ही जीवन का उद्देश्य है। यह आत्मज्ञान योग्य गुरु की शरण में जाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। यही आत्मज्ञान वेदों का वर्णित विषय है। इसे वेदान्त के रूप में भी जाना जाता है।"

तीसरा निबन्ध संस्कृत में पं. गमनागयण त्रिपाठी का है, जिसमें उन्होंने वेदों की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में सर्वज्ञात्मा मुनि के मत की समीक्षा बहुत ही गम्भीरता से की है। इस मत के अनुसार शास्त्रीय तर्क का सहारा लेकर वेदों के स्वतः प्रामाण्य पर अपने चिन्तन द्वारा एक नयी शैली में अभिव्यक्ति प्रदान की है। यह एक गम्भीर शास्त्रीय निबन्ध है।

चौथा निबन्ध आचार्य ब्रजमोहन चतुर्वेदी का है। इस निबन्ध में चतुर्वेदीजी ने रस सिद्धान्त की अत्यन्त पुष्ट एवं दाशनिक समीक्षा प्रस्तुत की है। उन्हीं के शब्दों में, "आनन्दानुभूति आत्मपरामर्श के बिना नहीं हो सकती। वह स्वात्मपरामर्श जब किसी विषय के उपभोग के माध्यम से होता है, तो उसे विषयानन्द कहते हैं; पर वह अपूर्ण होता है। काव्य के द्वारा होने वाली आनन्दानुभूति में विषय साक्षात् तो नहीं होते, पर चित्त में चित्तवृत्ति के रूप में विद्यमान विषयों के संस्कार को उद्‌बुद्ध कर जो आनन्दानुभूति की जाती है, वह विषयानन्द की अपेक्षा उत्कृष्टतर होती है; उसे ही रस कहते हैं। वह भी अपूर्ण ही है। पर जहाँ न विषय होते हैं, न ही उनके संस्कार उद्‌बुद्ध किये जाते हैं, अपितु वहाँ निर्विकल्पक समाधि में एक घन आत्मा का ही निरतिशय अनुभव किया जाता है, वहीं परमानन्द है। आत्मा ही आनन्दस्वरूप है। उपनिषदों ने भी कहा है कि आनन्द को ही आत्मा समझना चाहिए। आनन्द से ही निखिल जीवों का आविर्भाव है, आनन्द से ही सकल जीव जीवित रहते हैं तथा अन्त में आनन्द में ही इनका पर्यवसान हो जाता है।"

पाँचवाँ लेख वेद विज्ञान के आधुनिक युग के प्रसिद्ध आचाय स्वर्गीय मधुसूदन ओझा का है। इस लेख में उन्होंने वैदिक विज्ञान-विमर्श के सार के रूप में प्रजापति की संकल्पना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन विचारों की प्रस्तुति श्री गोविन्द तिवारी ने की है। निष्कर्ष रूप में ओझाजी के लिखित विचारों को देखा जा सकता है, "मन, प्राण और वाक्—इन तीनों के समुच्चय से जो प्रजापति का त्रिधातु रूप सिद्ध होता है, वही फिर सन्निवेश क्रम से त्रिपर्वा होता है—नाभि, मूर्ति और महिमा—इनमें नभ्य भाग मन प्रधान होता है, मति वाक् प्रधान होती है और महिमा प्राण प्रधान होता है। यद्यपि इन तीनों पर्वो के मिलने से एक ही प्रजापति का रूप सिद्ध होता है, तथापि व्यवहार में इन तीनों के सम्बन्ध से तीन प्रजापति भी कहे जाते हैं. नभ्य, व्याकृत और सव; केवल नाभि भाव को नभ्य कहेंगे, किन्तु नभ्य और मूर्ति दोनों को एक साथ व्याकृत कहते हैं। इस प्रकार नाभि, मूर्ति और महिमा तीनों को एक साथ सर्वप्रजापति कहते हैं।"

छठा लेख 'अणुयुग में वेदान्त' प्रसिद्ध वेदान्त विचारक डॉ. कर्ण सिंह का है। इसमें उन्होंने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष का बहुत ही पारदर्शी प्रतिपादन किया है। उनका कहना है, "वेदान्त सभी जीवों के कल्याण की कामना करता है, केवल मानव ही नहीं, बल्कि सभी जीव-जन्तुओं का। अहंकार और अज्ञानवश हमने अपने ग्रह के पर्यावरण को बिगाड़ दिया है, हमने समुद्रों को दूषित कर दिया है, हमने वायु को साँस लेने योग्य नहीं रखा, हमने प्रकृति को अपवित्र किया और वन्य जीवन को नष्ट कर दिया है। हमें अपनी मुक्ति और विश्व के कल्याण के लिए काम करना चाहिए। अपनी नियति के लिए कार्य करते हुए हमारा सामाजिक उत्तरदायित्व भी है। हम जब तक समर्थ हैं, तब तक हमें मानवमात्र के कल्याण के लिए कार्यरत रहना चाहिए।"

सातवाँ लेख 'तत्त्वमीमांसा क्यों?' शीर्षक से प्रो. रेवतीरमण पाण्डेय का है। इस लेख में वैदिक वाङ्मय

की अद्वैत वेदान्त में किस प्रकार परिणति हुई है और किस प्रकार यह वेदान्त आज के युग में उतना ही सार्थक है, जितना पहले था, का विवेचन किया गया है—"वैदिक वाङ्मय में दार्शनिक जिज्ञासा के प्रति दो समानान्तर एवं स्पष्ट विधियों का प्रयोग हुआ है। वे हैं 'तत्पदार्थ शोध विधि' जिसे हम विषयनिष्ठ विधि कह सकते हैं एवं 'त्वंपदार्थ शोधन विधि', जिसे हम विषयितानिष्ठविधि कह सकते हैं। यदि प्रथम के माध्यम से हम जगत के उत्स को जानने का प्रयास करते हैं कि *स्विद्वनं क उस वृक्ष आस, किं कारणं ब्रह्म,* तो द्वितीय के माध्यम से हम अपने उत्स की तलाश करते हैं—*आत्मा व अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः*। इन दोनों विधियों की चरम निष्पत्ति 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में होती है, जिनमें 'तत्' एवं 'त्वम्' का तादात्म्य स्थापित होता है।"

आठवाँ लेख 'वैदिक उषा का आध्यात्मिक स्वरूप' शीर्षक से डॉ. उषा चौधुरी का है। श्रीमती चौधुरी ने उषा से सम्बन्धित समस्त सूक्तों का अध्ययन कर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि वैदिक उषा का रूप जितना निर्वचनीय है, उतना ही अनिर्वचनीय है। उन्हीं के शब्दों में, "दिव्य उषा के उदय से सभी भुवनों में—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक ज्ञानमय दृष्टिकोण प्रस्थापित हो जाता है। व्यक्ति दिव्य विवेक से पूर्ण हो जाता है और उस व्यक्ति को पदार्थो की गहराई कुछ अज्ञेय नहीं रहती। दिव्यालोक के इस प्रथम प्रभातोदय का वर्णन कितना मार्मिक है।"

नौवाँ लेख श्री ब्रजबिहारी चौबे का है, जिसमें उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों के सन्दर्भो का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि "ब्राह्मणकालीन ब्रह्मवादी याज्ञिक विधि-विधान के आग्रही होते हुए भी सृष्टि-प्रक्रिया के विवेचन से अपने को अलग नहीं करते। किसी भी ऐसी याज्ञिक विधि का उल्लेख नहीं, जिसके अर्थवाद के रूप में सृष्टि विज्ञान का विवेचन न किया गया हो। वस्तुतः याज्ञिक विधि के वर्णन में कर्मकाण्ड और सृष्टिविज्ञान दोनों विवेचित हुए हैं। यही वैदिक ब्रह्मवादियों के चिन्तन का वैशिष्ट्य है। ब्रह्म का अर्थ सृष्टि का आधार ब्रह्मतत्त्व भी है, याज्ञिक कर्मकाण्ड भी है और मंत्र भी है। इसलिए ब्राह्मणकालीन ब्रह्मवादी केवल याज्ञिक कर्मकाण्डी ही नहीं है, बल्कि सृष्टि-प्रक्रिया का विवेचन करने वाला एक वैज्ञानिक भी है तथा ब्रह्मतत्त्व का विवेचन करने वाला एक दार्शनिक भी है। इस प्रकार यज्ञ केवल कर्मकाण्ड ही नहीं बल्कि वेदविज्ञान भी है।"

दसवाँ लेख प्रो. दयानन्द भार्गव का है। इस लेख में उन्होंने यह माना है कि प्राण ही देव है। प्राण का अर्थ है ऊर्जा। प्राण ऊर्जा ही नहीं, अपितु चेतन मन की ऊर्जा है। वास्तविकता यह है कि जड़ कुछ है ही नहीं, सब कुछ चेतन है।

ग्यारहवाँ लेख 'श्रुति और स्मृति' शीर्षक से डॉ. सिद्धेश्वर प्रसाद का है। इसमें उन्होंने श्रुति और स्मृति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है, "श्रुति जोड़ती है, स्मृति बाँटती है; श्रुति दृष्टि प्रदान करती है और स्मृति दृष्टि-पटल पर अपना ऐनक लगा देती है, जिससे यथार्थ का वास्तविक स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। स्मृति श्रुति की दृष्टि की पकड़ में तभी सहायक हो सकती है, जब वह युगानुरूप अर्थात् श्रुति द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ के अनुरूप परिवर्तनशील यथार्थ को उस रूप में प्रस्तुत करती रहे कि वह जीवन के बोध में, जीवन को उसकी सम्पूर्णता में जीने में सहायक हो। उपनिषद्-वचनों में ब्रह्मसूत्रों ने जिस प्रकार विरोध नहीं, बल्कि एकवाक्यता स्थापित करने की कोशिश की, उसी प्रकार से स्मृतिकार को भी युगानुरूप अपना प्रयास करते रहना है।"

बारहवाँ लेख श्री रुद्रदेव त्रिपाठी का है। इसमें उन्होंने तांत्रिक योगाचार के द्वारा ज्ञान और क्रिया के समन्वय पर बल देते हुए कहा है, "योग परम्परा में 'ज्ञान और क्रिया' का अनूठा समन्वय रहता है। ये दोनों जब वाह्यभाव से अनुष्ठित होते हैं, तो इनके द्वारा उत्तम स्वास्थ्य, आन्तरिक उल्लास, शरीरावयवों की समुचित सुदृढ़ता एवं कार्यक्षमता, रोग निवृत्ति, द्वन्द्वसहिष्णुता आदि गुण भी विकसित होते हैं, जो व्यवस्थित आन्तरिक-साधना के लिए भी नितान्त आवश्यक होते हैं।"

तेरहवाँ लेख बौद्ध ज्ञान साधना पर आधारित श्री रामशंकर त्रिपाठी का है। इसमें उन्होंने आवरणों का वर्णन करते हुए उनको हटाने का उपाय बताया है।

चौदहवाँ लेख रामायण के अध्येता डॉ. इ. पाण्डुरंग राव का है। इस लेख में डॉ. राव ने रामकथा को जीवन-दर्शन के रूप में समझने का प्रयास किया है। उनके विचार से राम का अयन कहानी होकर भी केवल कहानी नहीं है। "इसमें जिजीविषा का जयघोष है, प्रसन्नता का प्रशस्ति-पाठ है, रमणीयता की रम्य रागिनी है और स्पृहणीयता का सस्वर स्वस्त्ययन है। निर्ममता के निष्ठुर परिहास का शिकार बनकर निरुपाय स्वर में चीत्कार करने वाले प्राणि-जगत की प्रणतर्ति में यह अयन अपनी 'सृष्टि' का बीज बटोर लेता है, जीने और जीने देने की सहज सात्विक लालसा में इसको 'इष्टलाभ' होता है। अपने और पराये के भेदभाव को भुलाकर, सुख-दुःख का निमित्त मानकर समुपलब्ध सुयोग का पूरा-पूरा उपयोग करने की सात्विक साधना के लिए समर्पित सत्यनिष्ठ और धर्मपरायण व्यक्तियों की महनीयता का गुणगान करने वाला यह अयन दृष्टिभेद को स्वीकार तो करता है, पर समदृष्टि का साम-गायन प्रस्तुत करने के लिए।"

पन्द्रहवाँ लेख डॉ. वाचस्पति उपाध्याय का है। रामायण के पूरक महाग्रन्थ महाभारत को केन्द्र में रखकर उपाध्यायजी ने महाभारत की असीम परिणति को एक नये ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

सोलहवाँ लेख डॉ. किरीट जोशी का है। इस लेख में जोशीजी ने संस्कृत को आज की दृष्टि से समझने की कोशिश की है। श्री जोशी की दृष्टि श्रीअरविन्द की विशाल दृष्टि से प्रेरित है। जोशीजी ने अरविन्द की सरणी पर संस्कृत का अध्ययन किया है। यह लेख अंग्रेज़ी से अनूदित है। अपने लेख में वे इस बात का दावा करते हैं कि "संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति की एकता एवं उसकी सुदृढ़ता की अव्यर्थ भावना के सृजन हेतु, तैयार साधन प्रदान कर सकता है। व्यास, वाल्मीकि तथा कालिदास हमारे तीन महानतम राष्ट्रीय कवि हैं, जिन्होंने भारत की अन्तरात्मा की प्राणवायु तथा वातावरण संस्कृत को उपलब्ध कराया है। संस्कृत के माध्यम से भारत की आन्तरिक एकता, उसकी आत्मा के मूल में विद्यमान है, जो प्रकृतया स्वतः अभिव्यक्त होने लगती है। अतः संस्कृत की वृद्धि और विकास को इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से अवलोकन करना होगा।"

सत्रहवाँ लेख श्री मुनीश जोशी का है, जिसमें उन्होंने सांस्कृतिक इतिहास के एक विस्मृत पृष्ठ को पुनः आलोकित करने का प्रयास किया है। यह पृष्ठ है सहस्रबाहु की पूजा। कार्तवीर्य अर्जुन की उपासना की पूरी पद्धति देकर जोशीजी ने सांस्कृतिक इतिहास की धरोहर को पूर्ण रूप से खोल दिया है और इसके साथ ही इस सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास भी इस लेख में बड़ी संजीदगी से प्रस्तुत किया है।

अठारहवाँ लेख डॉ. करुणेश शुक्ल का है, जिन्होंने पुष्ट प्रमाणों से अहंकार, अनीति और अधर्म को एक

साथ समेटकर उसके व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अहंकार को समेट कर, यदि धर्मपूर्वक आचरण किया जाये तो राजकर्म भी समुचित रूप से चलता है। यदि राजनीति धर्म पराङ्मुख है तो नैतिकता का ह्रास दृढ़ होगा। शील का परिग्रह करने पर ही लोक-कल्याण सम्भव है।

अन्तिम निबंध 'वैदिक ज्ञान की धारा' मेरा है, जिसमें आज के सन्दर्भ में वैदिक ज्ञान की प्रासंगिकता को प्रतिपादित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

वेदार्थ मञ्जरी के दूसरे खण्ड में स्वर्गीय त्रिपाठीजी के कुछ चुने हुए निबन्धों का संकलन है। इस संकलन से त्रिपाठीजी के ज्ञान की गरिमा, उनके प्रतिपादन की सहजता तथा राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत भाषा की झलक सहजता से मिल सकेगी।

अन्तिम खण्ड में स्वर्गीय त्रिपाठीजी के परिवार के लोगों और उनसे जुड़े आत्मीय लोगों के संस्मरणों को संकलित किया गया है। इस संकलन से त्रिपाठीजी के आर्जवमय स्वाध्याय, तपस्या में लीन रहने वाले जीवन का परिदृश्य उपस्थित होता है। वे पुण्यकर्मा थे कि उन्हें योग्य पुत्र और पौत्र मिले। उनका विवाह आधुनिक युग के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ज्येष्ठ पुत्री दुर्गावतीजी से हुआ था। उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रो. चन्द्रचूड़ मणि, द्वितीय पुत्र श्री चन्द्रमौलि मणि, तृतीय पुत्र श्री चन्द्रभाल त्रिपाठी और कनिष्ठ पुत्र श्री चन्द्रधर त्रिपाठी के महत्त्वपूर्ण सुझावों और परामर्शों से इस पुस्तक के प्रकाशन में बहुत सहायता मिली है।

इस *वेदार्थ मञ्जरी* के संकलन में स्वर्गीय त्रिपाठीजी के कनिष्ठ पुत्र श्री चन्द्रधर त्रिपाठी तथा उनके सहयोगियों श्री सरोज कुमार शुक्ल और श्रीमती शारदा वशिष्ठ ने अमूल्य योगदान दिया। उनके योगदान के बिना इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव नहीं था।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने अनुदान स्वीकृत कर जो सहयोग दिया है, उसके लिए हम भारत सरकार के आभारी हैं। हम ऋत्विज प्रकाशन के संचालकों के भी अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने अल्प समय में इस पुस्तक को इतने सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित करने का विचार सर्वप्रथम पं. चन्द्रबली त्रिपाठी जन्मशतवार्षिकी समारोह के अवसर पर उठा था, जो दिल्ली के श्री रामायण विद्यापीठ में 27 नवम्बर 1993 को आयोजित किया गया था। समारोह में उपस्थित विद्वानों और आत्मीय बन्धुओं ने साग्रह और सप्रेम इस ग्रन्थ के सम्पादन का दायित्व मुझको सौंपा था। धर्म और दर्शन से सम्बन्धित लेखों की यह मञ्जरी प्रस्तुत करते हुए आज उस दायित्व का पूरा करने का परितोष मुझे हो रहा है।

पं. चन्द्रबली त्रिपाठी की स्मरणाञ्जलि स्वरूप वेदार्थ प्रतिपादन के इस प्रयास का सुधी समाज स्वागत करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

विद्यानिवास मिश्र

अनुशीलन

वेद और भारतीय परम्परा

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

वेद या वेद भगवान, जैसा उन्हें परम्परानुसार श्रद्धापूर्वक कहा जाता है, एक विपुल ग्रन्थ-राशि हैं। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व, ये चार वेदों के नाम सुविदित हैं। ऋग्वेद की 21 शाखाओं का, यजुर्वेद की 101 शाखाओं का, सामवेद की 1000 शाखाओं का तथा अथर्ववेद की 9 शाखाओं का प्राचीन उल्लेख मिलता है।[1] इनमें से अधिकांश शाखाएँ सर्वथा लुप्त हो चुकी हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद की केवल शाकल शाखा ही शेष है, दो अन्य शाखाओं की कुछ ऋचाएँ भर शेष हैं। यजुर्वेद की पाँच संहिताएँ मिलती हैं—काठक, कपिष्ठल-कठ (अल्पांशमात्र), मैत्रायणी, तैत्तिरीय, जो कृष्णयजुर्वेद से जुड़ी हैं और वाजसनेयि संहिता जिसकी काण्व और माध्यन्दिन शाखाएँ मिलती हैं। सामवेद की राणायणीय, कौथुम और जैमिनीय संहिताएँ मिलती हैं। अथर्ववेद की शौनक संहिता प्रचलित है, पैप्पलाद संहिता विदित है।

ऋक्संहिता ही सभी संहिताओं में मौलिक और प्राचीन है। इसमें 1028 सूक्त हैं,[2] जिनमें प्रत्येक में प्रायः पाँच-दस अथवा न्यूनाधिक संख्या में ऋचाएँ या मंत्र मिलते हैं। प्रत्येक सूक्त के अपने निश्चित ऋषि, छन्द और देवता उल्लिखित हैं। सूक्तों के विषय नाना प्रकार के होते हैं—स्तुति, इतिहास, यज्ञविधान, प्रार्थना, ज्ञान विज्ञान, लोक-विधान आदि। स्पष्ट ही वेद नाना प्रकार के जिज्ञासुओं के लिए अध्येतव्य है—धर्माचरण के लिए, यज्ञसम्पादन के लिए, इतिहास-ज्ञान के लिए, भाषावैज्ञानिक अनुसंधान के लिए, दार्शनिक, वैज्ञानिक और समाजतात्त्विक विचारणा के लिए। इतनी प्राचीन पुस्तकें मनुष्य को और कहीं पढ़ने के लिए नहीं मिल सकतीं।

यजुर्वेद में यज्ञविषयक विस्तार है और गद्य का भी समावेश है। साम, गीति या धुन का नाम है और सामवेद ऋचाओं पर आधारित धुनों का संग्रह है। अथर्ववेद में प्रकीर्ण वैज्ञानिक और लोक-जीवन से सम्बद्ध विषय भी संगृहीत मिलते हैं जैसे राजनीति, आयुर्वेद, आत्मविद्या आदि। कर्मविधान से सम्बद्ध कुछ अंशों का वैदिक युग में एक व्याख्यात्मक विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थ विस्तृत और गद्यमय हैं। उनमें यज्ञविधान के बहुत-से नियम और अन्तर्निहित रहस्यों पर विचार किया गया है। आरण्यक ग्रन्थों में उपासना-काण्ड का प्राधान्य है। उपनिषद, जो वेद के अन्तिम या मूर्धन्य भाग माने जाने के कारण वेदान्त कहे जाते हैं, ज्ञान प्रधान हैं।

संहिताओं से उपनिषदों तक विस्तृत वैदिक साहित्य की संज्ञा श्रुति है। धार्मिक अनुष्ठान और ज्ञान से

सम्बद्ध इस साहित्य के समकाल ही नाना विद्याओं और उनके साहित्य का उदय हुआ। वैदिक चरणों में इन विद्याओं को वेद से सम्बद्ध देखा गया और इस प्रकार वेदांगों और उपवेदों की कल्पना हुई।[3] नाना सूत्रात्मक शास्त्रों में यह पद्धति फूली-फली और मूल ऐतिहासिक पौराणिक संहिताओं में उस युग के राजाओं और पुरोहितों के आख्यान भी निबद्ध किये गये हैं। शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष एवं कल्प के बिना मंत्र ठीक-ठीक नहीं समझे जा सकते, न उनका व्यावहारिक विनियोग ही ठीक हो सकता है। ऐसे ही आयुर्वेद, गान्धर्व वेद, धनुर्वेद, अर्थशास्त्र, आन्वीक्षिकी आदि का ज्ञान वेदसम्मत पुरुषार्थो के लिए आवश्यक है। इतिहास-पुराण की आवश्यकता तो पदे-पदे रहती है। इसीलिए प्रसिद्ध है—*इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यतीति।*

परम्परा के अनुसार वेद शब्दरूप में नित्य हैं। क्योंकि ऋषियों ने उन्हें सुना, वे शब्द, श्रुति कहलाते हैं। उनका दर्शन या साक्षात्कार करने वाले ही ऋषि कहे जाते थे—*साक्षात्कृत धर्माय ऋषयो बभूवुः* (निरुक्त, 1. 20) क्योंकि वेद एक विशिष्ट मानव-भाषा में निबद्ध हैं, यह मानना ठीक प्रतीत होता है कि स्थूल शब्दात्मक वेद न नित्य हो सकते हैं, न अपने उपलब्ध रूप में ईश्वरकृत ही। वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता के सिद्धान्तों का रहस्य अनेकधा व्याख्यात है, पर वे सिद्धान्त अक्षरशः लिये जाने पर तर्क के अनुरूप नहीं माने जा सकते। दूसरी ओर वेदों को ऋषियों के साक्षात्कारात्मक अन्तर्ज्ञान की अभिव्यक्ति मानने में ऐसी कोई अनुपपत्ति या विरोध नहीं है। वेदों को ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश मानने पर भी स्थिति समान रहती है।

इस प्रकार वेद न स्थूल शब्द मात्र हैं, न स्वयंभू ज्ञानमात्र। वे ज्ञान-विज्ञान को व्यक्त करने वाली विपुल ग्रन्थ-राशि हैं, जो किसी रहस्यात्मक अर्थ में नित्य या अनादि, अपौरुषेय या ईश्वरकृत मानी जाने पर भी उपपत्तितः अलौकिक प्रेरणा और अन्तर्ज्ञान से अनुप्राणित मनीषियों की रचनाएँ हैं, जो एक सुदीर्घ युग की ज्ञान-साधना प्रकट करती हैं। वे न केवल भारतीय परम्परा के मूलाधार हैं, अपितु मानवीय इतिहासमात्र में मानवीय आत्मोपलब्धि और विमर्श के ऐसे प्राचीनतम दस्तावेज़, हैं, जिनकी भाषा और विचार आज भी हमारे लिए सर्वथा अजनवी नहीं हैं। यदि इतिहास का मूल अर्थ वाह्य और परोक्ष घटनाओं का कार्यकारणात्मक अनुमान न होकर मानवीय चेतना के अभिलेखों की आत्मजिज्ञासा से प्रेरित परीक्षा है[4] तो वेद का परिशीलन आद्य मानवीय इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय हो सकता है, जिसकी तुलना मिस्र एवं मेसोपोटेमिया के अथवा हीब्रू जाति और चीन की प्राचीनतम आभिलेखिक सामग्री से ही हो सकती है। पर उस सामग्री में ऐतिहासिक, तिथ्यंकित तथ्यों का ब्यौरा अधिक प्राप्त होने पर भी, मानवीय संवेदना के अन्तर्जगत् में झाँकने के लिए वैसा अवसर नही मिलता, जैसा वेद में। वेद का अध्येता प्राचीन मानव के साथ जैसा हृदय-संवाद स्थापित कर सकता है, वैसा अन्यत्र असम्भव है। तुलनीय मर्मस्पर्शी लेख मिस्र और मेसोपोटेमिया से गिने-चुने ही मिलते हैं, जिनमें निजी अभाग्य एवं सामाजिक उत्पीड़न के विरोध में आक्रोश का स्वर स्पष्ट दीखता है। इन सभ्यताओं में राजा देवमूर्ति या देवदास होने के कारण स्वयं प्रथम पुरोहित था एवं देवता राजाओं के समान ही बली और बलि माँगने वाले थे। नियत अनुष्ठान के द्वारा ही वे सामान्यतया प्रसाद्य थे। अनेक अंशों में उन्हें अदृश्य राजशक्ति का मूर्तरूप कहा जा सकता है पर राज्य और समाज के व्यवस्थापक इस ऐश्वर्य और आडम्बर, अनुष्ठान और रूप-विधान में व्याप्त धर्म के पीछे मनुष्य की सनातन अमृतत्व की आकांक्षा, सदसद्विवेक, दृष्टलौकिक रूपों से अपरितृप्ति,

वास्तविक देवता की खोज, वृहत् महत् भूमा की खोज, अनुभव-विषयी के रूप में अपनी खोज, ये सभी आयाम अवश्य ही विद्यमान थे, पर उन्हें प्रबल स्वरों में उद्घोषित करने के लिए कवि, मनीषी, नवी का सहारा चाहिए। मिस्र में इस आध्यात्मिक अन्तःसलिला का उद्धार प्रथमतः इख्नातन ने असफल रूप से किया था, पीछे यहूदी नाजियों के द्वारा वह प्रकट हुई। इस प्रकार ईसापूर्व प्रायः छठी-सातवीं शताब्दियों में आध्यात्मिक चिन्तन-धारा स्पष्टतः उभरी। पर जैसा पीछे स्पष्ट किया जायेगा, यह परवर्ती आध्यात्मिकता एक प्रकार के द्वैत को मान कर और द्वन्द्वात्मकता को स्वीकार कर नागरिक सभ्यता के परिवेश में प्रकट होती है। यह उस मूल आध्यात्मिकता से भिन्न है, जो आदि मानव के सहज-बोध की सगी थी; पर जिसे भौतिक सभ्यता, हिंसक राजनीति के संगठन और आर्थिक लोभ की परतों ने क्रमशः लुप्त-सा कर दिया। वैदिक युग मानवीय इतिहास का आदि युग नहीं माना जा सकता; पर उसकी अरण्योत्संगवासिता, सरल जीवन-विद्या, देवनिर्भरता, सहजआध्यात्मिकता आदि विशेषताओं से उस आदि युग का निदर्शन प्रस्तुत करती देखी जा सकती है। वैदिक युग भौतिक निर्माण के अनागत युग का चारण नहीं था, अपितु सनातन आदि धर्म को अपना प्रतिमान मानता था। उसके मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य सभ्यता के बढ़ते चरणों को नहीं माना जा सकता।

वेदों में मुख्यतया देवताओं के ही नाम, गुण, जन्म एवं कर्म का कीर्तन किया गया है; पर कुछ सूक्तों में आख्यान, संवाद, दार्शनिक मीमांसा, प्रकृति-सौन्दर्य का वर्णन, सृष्टि, ऋतु, पुरुष, यज्ञ, वाक्, लोक-जीवन से जुड़े संस्कार, परलोक, कृषि, द्यूत, आजिधावन आदि विषय निबद्ध हैं। देवताओं में अग्नि, इन्द्र और सोम पर सबसे अधिक सूक्त हैं; मित्र, वरुण, सूर्य, विष्णु, वायु, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य, अश्विन्, सविता, पूषा, द्यावापृथिवी, अपानपात्, अदिति, सरस्वती, विश्वकर्मा, त्वष्टा, ऋभु, प्रजापति, रात्रि आदि देवताओं के विषय में भी न्यूनाधिक सूक्त मिलते हैं।

यह निस्संदेह है कि देवताओं को शुभ, ज्योतिर्मय, अमर, अतिमानवीय शक्तियाँ माना जाता था। वे प्रकृति और मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों की अध्यक्षता करती हैं और उपासना से प्रसन्न होकर मानव-हित का सम्पादन करती हैं। उनका नाम और रूप से बहुत्व उनमे किसी प्रकार का विरोध या संघर्ष आपादित नहीं करता। उनमें एक समष्टिगत सहकारिता एवं तात्त्विक एकता का अनेकत्र उल्लेख मिलता है। आधुनिक पश्चिमी विद्वान यह मानते हैं कि आरम्भ में वैदिक देवता नाना ही माने जाते थे और उनकी कल्पना प्राकृतिक शक्तियों को देखकर एवं भाषा की लाक्षणिक शक्ति से उत्पन्न हुई। यह प्राकृतिक बहुदेववाद ही कालान्तर में एकदेववाद में परिणत हुआ, किन्तु यह धारणा भारतीय देववाद की मौलिक विशेषता को नज़रअन्दाज करती है, जो देवता को तत्वतः एक, पर नाम-रूप से अनेक मानती है। अनेकता में अन्तर्निहित एकता का ज्ञान इस दृष्टि की विशेषता है। इसने नाना जातियों और सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित देवताओं की उपासना को एक सार्वभौम धर्म में समन्वित करना सम्भव बनाया। स्वधर्मनिष्ठा और विश्वसनीय बन्धुता दोनों ही इस प्रकार अविरोधी बन जाती है।

इस सन्दर्भ में धर्म की उत्पत्ति और विकास के विषय में इतिहासकार की दृष्टि क्या है, इसकी परीक्षा अत्यंत आवश्यक है। अनेक आधुनिक इतिहासकार इलहामी सामी धर्मो को छोड़कर शेष धर्मो को अज्ञानमूलक कल्पना की प्रसूति मानते हैं। नृतत्त्व-वेत्ताओं ने *ऐनिमिज्म, ऐनिमैटिज्म* आदि अनेक अभिकल्पनाएँ प्रवर्तित की हैं, जिनके अनुसार आत्मा, देवता आदि की कल्पना प्राचीन मानव की नासमझी का परिणाम है। कुछ लोग यह अवश्य

मानते हैं कि धर्म का आदर्श रूप सभी धर्मों का एकेश्वरवाद है, जिसका सही ज्ञान नबियों को प्राप्त इलहाम पर आधारित है। तो भी आदिम जनजातीय धर्मों में अथवा प्राचीन सभ्यताओं में इलहाम के अभाव मे श्रद्धा के माध्यम से एक अदृष्ट तत्त्व का आभास पाया जाता है, जिसका उन्होंने विभिन्न कल्पनाओं से पल्लवन किया। विकासवाद के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार प्राचीन धार्मिकता का क्रमशः तार्किक परिष्कार हुआ। इसी कारण वैदिक धर्म का बहुदेववाद कालान्तर में एकदेववाद में परिणत हुआ। नाना देवताओं में समान गुण देखने के कारण उनमें एक व्यापक एकता की कल्पना जन्मी। आरम्भ में कार्यकारण भाव को ठीक न समझने के कारण दृष्टि को इच्छा-सृष्टि के रूप में और स्रष्टा को शक्तिमान पुरुष के रूप में कल्पित किया गया। इस प्रकार प्रकृति के व्यापारों को चलाने वाले नाना पुरुषों के रूप में देवताओं की कल्पना हुई। कार्यकारणभाव के ठीक समझ आने पर समस्त सृष्टि के एक परम कारण के रूप में ईश्वर की कल्पना का उदय हुआ। अवधारणात्मक विकास के समानान्तर ही उपासना का भी विकास हुआ। पहले द्रव्ययज्ञ के द्वारा ही देवताओं का प्रसादन होता था, जिससे उनकी कृपा से ऐहिक अभ्युदय की प्राप्ति हो। पीछे जब देवता सूक्ष्म सत्तात्मक ईश्वर या ब्रह्म में विलीन हुए, तो उनकी उपासना भी ध्यान और ज्ञान में बदल गयी।

इन सामान्य धारणाओं के अनुसार ही वैदिक धर्म की आधुनिक व्यवस्थाएँ प्रवृत्त हुई हैं; पर इन धारणाओं की आधारभूत तीन मान्यताएँ आग्रहमात्र हैं—धर्म का आधार सामी इलहाम न होने पर मिथ्या कल्पनामात्र है, यह सामी धर्मो के अनुयायियो के लिए ही ग्राह्य है। धर्ममात्र का आधार कल्पना ही है, यह सिर्फ प्रत्यक्षवादियो के लिए ही सिद्ध है। धारणाओं का यौक्तिक विकास आधुनिक धारणाओं की दिशा मे होता है, यह भी कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है।

दूसरी ओर वेदों को नित्य, अभ्रान्त और सम्पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादक स्वीकार करना एक पारम्परिक वैदिक धारणा मात्र है, इतिहासकार के लिए स्वीकार्य सत्य नहीं। सभी धर्मो के भूल मे किसी-न-किसी प्रकार का लोकोत्तर आर्ष ज्ञान प्रतीत होता है; पर उनके प्रकाशक नाना नबी, ऋषि, मुनि, संत आदि नाना युगों में उन गुणों की भाषा और सन्दर्भ में अपने विशिष्ट ज्ञान का उपदेश देते रहे हैं। इस प्रकार वेदों में भी लोकोत्तर ज्ञान और लौकिक धारणाओं को सन्दर्भ-सापेक्ष वाक्यों में गुम्फित मानना चाहिए। उनकी व्याख्या के लिए स्वय वेदों के साक्ष्य को उनकी प्राचीन व्याख्या-परम्परा, जो कि ब्राह्मणों में और निरुक्त में शेष है; वेदाङ्ग, इतिहासपुराण, मीमांसाशास्त्र, मध्यकालीन व्याख्या परम्परा, विशेषतया सायण, आधुनिक भारतीय मनीषियों के व्याख्या-सकेत, आधुनिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र और पुरातत्व से पुष्ट करना आवश्यक है। संक्षेप मे यास्क और सायण, दयानन्द, अरविन्द और कुमारस्वामी एवं पाश्चात्य भाषाशास्त्री वेद की व्याख्या के लिए मार्गदर्शन प्रस्तुत करते है। पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों में वाकरनागल, ब्रुगमान और मैकडॉनेल का वैदिक व्याकरण का अनुव्याख्यान, रौथ और वाथलिंग, ग्रासमान और मायरहॉफर का कोश के क्षेत्र में कार्य एवं मैक्समुलर, लुडविग, ग्रिफ़िथ एवं गैल्डनर का अनुवाद एवं वाक्यार्थ के क्षेत्र में कार्य वैदिक व्याख्या का मार्ग प्रशस्त करता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक व्हाइटहेड के अनुसार प्रत्येक युग के चिन्तन की विभिन्न दिशाओ मे एक सामान्य विचार-योजना अन्तर्निहित होती है और यह सृष्टि विद्या के रूप में अभिव्यक्त होती है। यह निस्सन्देह एक गम्भीर सत्य है; पर इतना ही गम्भीर सत्य यह है कि प्रत्येक युग की विचारधारा, अन्ततोगत्वा मनुष्य की,

आत्मपरिकल्पना पर आधारित होती है। मनुष्य का आत्मानुभव और विश्वानुभव एक साथ जुड़े रहते हं और वे किस प्रकार सम्बद्ध हैं, यह अनुसन्धान सभी सांस्कृतिक विचारधाराओं को उनका आधारभूत रूप प्रदान करता है। सभी अनुभवों के विषयी के रूप में मानवीय स्वरूप के अनुसन्धान को आत्मविद्या कहा जा सकता है। विश्व-प्रकृति के उद्गम के विवेचन के रूप में सभी प्राकृतिक और विषय-तात्त्विक मीमांसाएँ सृष्टि विद्या में परिसम्पन्न होती हैं। इस प्रकार आत्मविद्या और सृष्टिविद्या, इन दो तरह के ताने-बानों से वैदिक विचार-वितान का निर्माण हुआ है। प्रारम्भिक वैदिक युग में सृष्टिविद्या के सूत्र प्रधान थे, और पुरुषविद्या के अपेक्षाकृत गौण। परवर्ती वैदिक युग में आत्मविद्या का प्राधान्य देखा जा सकता है। पूर्व वैदिक युग में ऋत् ही सृष्टि का मूल नियामक तत्त्व था, देवता ऋत-सूत्र से जुड़ी ऋत-यित शक्तियाँ थीं। ऋत्, सत्य और देवता एक ही तत्त्व के तीन आयाम थे। पुरुष एक ओर विश्वातिक्रामी देवतातत्त्व से अभिन्न था, दूसरी ओर अपने विश्वाभिव्यक्त रूप में वह देवताओं की सृष्टि, हवि और याजक माना जाता था। स्पष्ट ही मानव पुरुष दिव्य पुरुष से यज्ञ के द्वारा जुड़ा हुआ था। परवर्ती वैदिक युग में देवताओं का स्थान ब्रह्म ने, ऋत् का धर्म ने ले लिया और 'पुरुष' से अधिक प्रचलन 'आत्म' शब्द का हो गया। यज्ञ का स्थान उपासना और अन्ततः ज्ञान ने ले लिया। और अन्तिम ज्ञान था आत्म और ब्रह्म का अद्वैत। पूर्व वैदिक युग के मुख्य विचार-पद हैं ऋत् और देवता, पुरुष और यज्ञ। अपर वैदिक युग के प्रत्यय हैं—ब्रह्म, आत्मा, उपासना, ज्ञान और धर्म। आज तक ये प्रत्यय भारतीय चिन्तन को प्रकाशित करते आये हैं।

संदर्भ :

1. महाभाष्य
2. प्रसिद्ध कवि और मनीषी होन्द्रे का कथन था कि यह संख्या विदित तारों की संख्या है, जो कि टॉलमी के आल्मजेस्ट से मेल खाती है।
3. वेदांग 6 प्रसिद्ध हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष (आपस्तम्ब 2.4.8.11)। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र उपांग कहे गये हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, साम का गान्धर्व, अथर्व का स्थापत्य प्रमाता अर्थशास्त्र कहे गये हैं।
4. गोविन्दचन्द्र पाण्डे (सं.), इतिहास और उपन्यास (इलाहाबाद संग्रहालय, 1994)

उपनिषद्

स्वामी लोकेश्वरानन्द

उपनिषद् केवल एक पुस्तक या ग्रन्थ नहीं है, बल्कि यह प्रतीक है ज्ञान का; उस विद्या का, जो समस्त अज्ञान का नाश करती है। यह विद्या योग्य गुरु की शरण में जाकर ही प्राप्त की जाती है। एक योग्य गुरु ही जानता है कि ब्रह्म परम सत्य है और वह स्वयं ही वह ब्रह्म है। यह कोरी कल्पना नहीं है, वरन् एक अनुभूति है। ऐसी स्वानुभूति, जो इन्द्रियातीत स्तर पर होती है और ऐसी अनुभूति व्यक्ति के जीवन और चरित्र को पूर्णतः बदल देती है। तब वह एक बिल्कुल ही नया रूप धारण कर लेता है। 'ब्रह्म को जानने के लिए ब्रह्ममय हो जाना' ही इस परिवर्तन का परिणाम है। वह अनुभव करने लगता है कि समस्त विश्व उसी में समाहित हो गया है और उसकी स्वात्मा ही विश्वात्मा है।

पर इस विद्या की प्राप्ति के लिए साधक को घोर तपस्या करनी पड़ती है। सर्वप्रथम उसे चाहिए कि वह अपनी समस्त इन्द्रियों को उनके विषयों से पराङ्मुख करे। यह बोध कि मैं ही ब्रह्म हूँ, उसके लिए एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज़ है। उसे अपने मन और देह को कठोर अनुशासन में रखना चाहिए, जिससे गुरु उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति के उपयुक्त समझ सके। इस विद्या की प्राप्ति के लिए उसमें तीव्र उत्कण्ठा होनी चाहिए। ऐसी उत्कण्ठा कि मानो इस ज्ञान के अभाव में वह मर रहा है। तत्पश्चात् उसे अत्यन्त विनीत होकर गुरु के पास जाना चाहिए और उनके मार्गदर्शन के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। गुरु ऐसे ही शिष्य को विद्या प्रदान करके प्रसन्न होता है। सामान्यतः गुरु यह ज्ञान अपने पुत्र को देना चाहता है, क्योंकि यह ज्ञान गुह्य है और विशेष अधिकारियों को ही बताने योग्य है, न कि सभी को। इस ज्ञान के गुप्त और बहुमूल्य होने के कारण केवल प्रिय और विश्वस्त व्यक्ति ही इस ज्ञान को प्राप्त करने के अधिकारी समझे जाते हैं। प्रिय होने के कारण अपना पुत्र ही गुरु की पहली पसन्द होता है। तत्पश्चात् योग्य और परिश्रमी शिष्य इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकार रखता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर्ता चाहे गुरु-पुत्र हो अथवा शिष्य, दोनों को ही अपने मन पर संयम रखना चाहिए। अति विनीत हो, उसे गुरु के पास जाना चाहिए और यदि गुरु उसे विद्या देना स्वीकार कर लेता है, तो उसे गुरु के साथ रहना आरम्भ कर देना चाहिए। उसे लगन से गुरु की सेवा करनी चाहिए और गुरु द्वारा सौंपे गये प्रत्येक कार्य को प्रसन्नतापूर्वक पूरा करना चाहिए।

यह उस प्रशिक्षण का हिस्सा है, जो गुरु उसे दे रहा है। गुरु के सान्निध्य में रहने के कारण उसे अपने

गुरु के जीवन और चरित्र का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। गुरु के सान्निध्य के इन क्षणों से वह आत्मा की वास्तविकता का अर्थ जान सकता है। धर्मग्रन्थों के अध्ययन की अपेक्षा वह इस व्यावहारिक तरीक़े से अधिक सीख सकता है। शीघ्र ही उसे अनुभव होने लगता है कि धर्मग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, गुरु उसका जीता-जागता उदाहरण है। जिस सत्य तत्त्व को गुरु समझाना चाहता है, उसे स्वयं उसने अपने जीवन में उतार लिया है। इस सत्य तत्त्व को चर्चा द्वारा नहीं समझाया जा सकता, अतएव गुरु की शरण में जाने पर बल दिया जाता है।

पर सत्य तत्त्व क्या है, जिसका गुरु साक्षात्कार करवाता है। *ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः* ही है, जिसे गुरु समझाता है। अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत्य तत्त्व है। संसार जिसमें हम रह रहे हैं, असत्य है, अयथार्थ है, माया है। गुरु यह भी बताता है कि व्यक्ति (जीव) स्वयं ही विश्वात्मा (ब्रह्म) का रूप है। यह सचमुच आश्चर्यजनक है। ब्रह्म को सत्य कहा गया है, लेकिन ब्रह्म क्या है? ब्रह्म ही संसार का एकमात्र सत्य है, शेष सब माया है। सत्य क्या है? सत्य सार्वकालिक होता है; भूत, वर्तमान और भविष्य सभी कालों में उसकी सत्ता समान है। वह अनन्त और असीम है। उसकी स्वतंत्र सत्ता है। न तो यह किसी के द्वारा सृजित है और न यह किसी वस्तु का सृजन करता है। यह जन्म और मृत्यु से परे है। यह अव्यय और सदैव समरूप है। यह किसी से नियंत्रित नहीं होता। लेकिन ब्रह्म के बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक वस्तु इसी से उद्भूत है, इसी में विश्राम करती है और इसी में विलीन हो जाती है।

विश्वात्मा (ब्रह्म), जो मन और बुद्धि से परे हैं, एक विशुद्ध अनुभूति है। यह किसी भी वैचारिक रूप से रहित है, इसीलिए वर्णनातीत है। अच्छा, बुरा, छोटा, बड़ा और सभी कुछ इसके ही रूप हैं। यह तत्त्व क्या है—इसे पूर्ण तत्त्व कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में वह अद्वितीय है, अद्वय ब्रह्म है, जिसके सदृश दूसरा कोई नहीं है। उसका न कोई नाम है और न रूप। वह अनन्त है, असीम है, ब्रह्म है, परम तत्त्व है।

परन्तु अपनी शक्ति माया के साथ संयुक्त होकर इसका रूप सापेक्ष भी हो सकता है। माया क्या है? माया के प्रभाव से असत्य सत्य की भाँति दिखायी पड़ता है। वैसे ही, जैसे कभी तुम रस्सी को साँप जान कर डर जाओगे और रोशनी के लिए चिल्लाओगे। और जब रोशनी होगी, तब तुम्हें अपनी ग़लती का अहसास होगा। ठीक उसी प्रकार तुम इस संसार को सत्य मान कर चल रहे हो, परन्तु शीघ्र ही तुम्हें ज्ञान होता है कि यह सत्य नहीं है। माया भ्रम नहीं है, बल्कि ज्ञान का अभाव है, अविद्या का प्रभाव है। यह सत्य और असत्य का मिश्रण है। तुम नहीं कह सकते कि यह सत्य है; क्योंकि वह सदैव एक समान नहीं रहता। इसमें परिवर्तन होता रहता है। तुम इसे असत्य मानकर अस्वीकार भी नहीं कर सकते; क्योंकि जब तुमने रस्सी को साँप समझा, तो तुम्हारा भय सत्य था। एक प्रकार से माया सत्य है; क्योंकि इसके कारण ही ब्रह्म, विश्व प्रपंच के रूप में दिखायी पड़ता है। वस्तुतः यह संसार ब्रह्म पर अध्यारोपित है, उसी तरह, जैसे साँप रस्सी पर अध्यारोपित है। चलचित्र प्रदर्शन में, जिस प्रकार स्क्रीन पर प्रकरणों सहित स्त्री-पुरुषों की शृंखला आती है, उसी प्रकार ब्रह्म को भी एक स्क्रीन समझा जाये, जिस पर सम्पूर्ण प्रतिभासित विश्व अध्यारोपित है। ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान

हो जाने पर नानात्मक जगत् का दृश्य लुप्त हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है। लेकिन जब यह कहा जाता है–*जीवो ब्रह्मेव नापरः*–तब इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि 'जीवात्मा स्वयं कुछ नहीं बल्कि विश्वात्मा ही है'। जीवात्मा अपने नाम और रूप के कारण ब्रह्मात्मा से भिन्न मालूम होती है। जीवात्मा अपने नाम और रूप को सत्य समझकर अज्ञान में डूबी रहती है। जब उसे आत्मज्ञान का बोध होता है, तभी उसे इस सत्य की अनुभूति होती है कि वह स्वयं ब्रह्म का ही रूप है। आत्मज्ञान अर्थात् जीवात्मा के ब्रह्म स्वरूप को जान लेना ही जीवन का उद्देश्य है। यह आत्मज्ञान योग्य गुरु की शरण में जाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। यही आत्मज्ञान वेदों का वर्णित विषय है। इसे वेदान्त के रूप में भी जाना जाता है।

आत्म ज्ञान की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है।

(मूल अंग्रेज़ी से **शारदा वशिष्ठ** द्वारा अनूदित)

सर्वज्ञात्ममते वेदस्य कृतत्वाक्षेप समाधानम्

रामनारायण त्रिपाठी

वेदस्य पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोर्बहुधा विप्रतिपत्तयः सन्ति, तत्रा पौरुषेयत्वेपि विभिन्न दृष्टयो विचारकाणां लक्ष्यन्ते। तेषु सर्वज्ञात्म मुनेः का दृष्टिरितिविषयमवलम्ब्य किञ्चिदत्र लिख्यते–

परिणामदृष्ट्या विवर्तदृष्ट्या वा सर्वस्य जगतो ब्रह्मकार्यत्वे सति वेदस्यापि जगदन्तर्वर्तिवाद् ब्रह्मकार्यता स्यात्। तथाङ्गीकारे वेदस्यापौरुषेयत्वेन यत् स्वतः प्रामाण्यं मीमांसकैरङ्गीक्रियते तद् विरुध्येत्, इति चेन्न विरोधं हानाभावात्। यदि *शास्त्रयोनित्वात्* ब्र.सू. 1.1.3 इति सूत्रकारवचनानुसारं वेदस्य पौरुषेयत्वेऽङ्गीकृते *परतः प्रमाण्यम्* इति काणाद सिद्धान्तापातः। तदनु च वेदानां पोरुषेयत्वे सति वेदवाक्य रचना मूलभूत प्रमाण निरूपणे विसंवादित्वादन्मन्त वाक्यवदप्रमाण्येचार्वाकमत प्रवेशः स्यात् तत्परिहाराय यदि वेदस्य नित्यत्वयाश्रीयते तदाऽद्वैतहानिः स्यादिति चेन्न, पुरुष निर्वर्तितत्वमात्रं वेदस्य पौरुषेयत्वमिति यदि स्वीक्रियते मीमांसकैस्तदंदृशं पौरुषेयत्वम् अपौरुषेयत्व वादिनां भाट्टानां प्राभाकरणाभुभयेषां मीमांसकानां मतेपि समान रूपेण संघटते। तदित्थम्–अनादिपद सन्दर्भो वेदः, पदत्वञ्च वाचकत्वमेव वर्णानाम्, न त्वेकस्यानेकस्य स्वरूपतसतो वा वर्णमात्रस्य। वाचकत्वञ्च क्रमविशेषवद् वर्णविशेषेषु व्युत्पत्ति कालेऽवगम्यते, ततश्च क्रमविशेषघटितत्वात् पदत्वस्य, वर्णानां नित्य विभूनां स्वतः क्रमयोगासंभवात् प्रत्येक वर्णानुभवगतक्रमारोपवतां तेषां पदत्वं वक्तव्यम्? तदारोपस्य चानित्यतया पुरुष निर्वर्तितत्वात् तद्घटितं पद मप्यनित्यमिति न पदस्यानादिता मीमांसकमते। अपि च तन्मतेऽनुभवोपि क्षणध्वंस इष्टः, अतः क्षणिकानु भवाच्छिन्नस्य वाचकाकार स्यापि पदस्य क्षणिकत्वमेव सिध्यति।

किञ्च पदसन्दर्भमात्रस्यावेदत्वात् क्रमविशेषवत्पदसन्दर्भस्यैव वेदत्वं वक्तव्यम्। न च मीमांसकमते पदेषु स्वतः क्रमोऽस्ति तेन प्रत्येक पदगोचरधीगतनियत क्रमारोपगतैव पदाम वेदतेति न वेदस्य नित्यत्वम्? पदेष्वानुपूर्वी विशेषारोपस्यानित्यत्वात् तद्घटितवेदस्यापि तदवश्यम्भावात् तदधीनाप्रमाण्यमपरिहार्य स्यात्।

प्रमाणान्तरागोचरे वेदैकगम्ये वेदार्थे अस्मदादिपुरुषबुद्धिप्रवेशो नास्ति, इति कृत्वा यदि वेदस्य प्रमाणता स्वप्रयुक्ता इष्टामीमांसकैः तर्हि वेदानां परमपुरुषसृष्टत्वे (अविद्याशवलब्रह्मविवर्तत्वे) स्वीकृतेपि तादृशी प्रमाणता अक्षुण्णा एवास्ति। अर्थात् ब्रह्मकार्यत्वाङ्गीकारेपि पुरुषबुद्धिप्रवेशाभावरूप प्रामाप्यस्य सत्ता वर्तत एव।

ननु सृष्टेरीक्षण पूर्वकत्वात् कथं वेदस्य कार्यत्वे बुद्धिपूर्वकत्वाभावइति चेदुच्यते–विपदादि सृष्टेरीक्षण पूर्वकत्वेपि न वेदसृष्टेस्तथात्वम्; किन्तु यथा कस्यचिद् वेदार्थाभिज्ञस्याप्यध्यापकस्य वेदवाक्योच्चारणं न

तदर्थज्ञानाधीनम्, अपितु पूर्वमधिगतवेदस्मरणमात्राधीनं केवलं पाठकेषु तथैव दर्शनात्, तथैव ब्राह्मणोपि तदर्थज्ञानं विद्यमानमपि वेदसृष्टौ न प्रयोजकम् अपितु पूर्वकल्पीयस्मरणपूर्वक प्रथमजहिरण्यगर्भबुद्धौ स्वभावतो जायते। ईक्षणश्रुतेरुपयोगो भूत सृष्टावेव। श्रुतिरपि वेदसृष्टिं निःश्वासकल्पां श्वासोच्छ्वासवदबुद्धि पूर्वां स्पष्टं वदति—*अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः,* बृ. 1.4.10 इति। स्मृतरपि—*अत्रानादिनिधनानित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।*

पुरुष जन्यत्वमात्रेण वेदस्य स्वतः प्रामाण्याभाव इति यद्युच्येतृतन्न व्यभिचारात्। तद्यथाधर्माधर्मरूपपुरुष-कर्मजातानि श्रोतादीनि इन्द्रियाणि स्वं स्वं विशेषविषयम् अन्यप्रमाणानपेक्षंयथार्थतया वोधयन्ति, इति संमतं मीमांसकानां प्रत्यक्षादिप्रमाण्यस्य स्वत एवाङ्गीकारात्। तथैव वेदस्य प्रामाण्योपपत्तिः। कर्मद्वारा पुरुषसृष्टत्वेपि इन्द्रियाणां यथा प्रामाण्याविरोधस्तथा वेदस्याप्यन्विरोधः। अतः पुरुषकृतत्वमात्रं ना प्रामाण्यप्रापकमिन्द्रियेषु व्यभिचारात्। ननु *तदैक्षत वहु स्यां प्रजायेय* छा. 6/2/3 *सोऽकामयत बहुस्याम्* तै. 2/6/1 *इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च* बृ. 1/2/5 इत्यादि श्रुतिषु सामान्येन ईक्षणपूर्वकनिखिल सृष्टिश्रवणाद् वेदसृष्टेरपि ईक्षणपूर्वकत्वेन मानान्तरापेक्षत्वं कथं न स्यात्, मानं विना ईक्षणानुपपत्तेः। एवं वेदान्तमते वेदस्यानपेक्षप्रामाण्यं कथं स्यादिति चेदुच्यते—*न तस्य कार्य करणं चविद्यते* श्वे. 6/8 *अपाणिपादः* श्वे. 1/3/19 *अचक्षुष्कमश्रोतमवागमनः* बृ. 3/8/8 इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणः करणहीनत्वप्रतिपादनान्नास्ति सृष्टौ प्रामाणिकमीक्षणं ब्रह्मणः।

श्रूयमाणमीक्षणन्त्वत्र सामासमायावृत्तिरेव विविक्षितं वेदान्तनिष्णातैर्नतु करणजन्यं ब्रह्मणः करणाभावात्। सामासमायावृत्तिश्च चिदात्मनिष्ठाया जडात्मिकाया मायाशक्तेराद्योयो विकार इष्टः स च जडोपि चित्संनिकर्षेण तच्छायायन्नत्वात् प्रकाशमानः। अर्थादीश्वरस्य स्रष्टव्यालोचनमिति। सृष्टिकाले परमेश्वराध्यस्तानाद्यनिर्वचनीया-विद्यायाः सृज्यमान प्राणिकर्मसंक्षुब्धायाः सृज्यमानपदार्थाकारेण काचिद् बृत्तिरुदेति। साचस्वतो जरुडाप्यधिष्ठान चैतन्यामाससंवन्धात् प्रकाशमाना भवतीति तदैक्षतेत्यादि श्रुत्या तस्या ईक्षणत्वव्यपदेशः न तु मुख्यमीक्षणत्वं बुद्धिवृत्तेरेक्षणत्वाद् ब्रह्मणि बुद्धिवृत्तेरभावात्। तस्मान्न बुद्धिपूर्वकत्वं वेदस्य। ईश्वरो हि सर्गान्तरीयं वेदं कारणात्मना स्थितं तथैव सृजति नत्वन्यथा *धाता[1] यथा पूर्वमकल्पयत्* इति श्रुतेः। नेश्वरो वैदिकस्वरानुपूर्व्यादौ स्वतंत्रः।

नन्वेवं वेदस्य ब्रह्म कावेर्यत्वेपि मानान्तराधीनार्थज्ञानपूर्वकरचनाऽभावाद् मीमांसाकोक्तम् अपौरुषेयत्वं निरपेक्ष-प्रामाण्यं च न वाधितम् अपितु पूर्ववदेव स्थितम्, तथापि *वेदार्थसंबंधः सांकेतिकः शब्दार्थसंवन्धत्वात् डित्थादिशाब्दार्थसंबन्धवत्* इत्यनुमानाद्, अस्य शब्दस्येदं वाच्यमिति संकेत विशष्टिं निखिलं पदमिति वेदार्थ संवन्धस्य सांकेतिकत्वे सिद्धे सति संकेतस्य च वक्तृद्धयुपाध्यधीनत्वात् संकेतविशिष्टपदसमुदायरूपवेदोपि पौरुषेय एव सांकेतिकार्थसंवन्धिशब्दस्यैव पौरुषेयत्वात्। ततश्च वक्तृज्ञानप्रामाण्याधीनप्रामाण्यो वेद इति वेदस्य परतः प्रामाण्यमेव। न च क्वचिड्डित्थादिपदे संकेत दर्शनेनान्यत्र कथमनुमानमिति वाच्यम्, व्यभिचारादर्शनात् पूर्वानुभूतमहानसादिदृष्टान्तेन पर्वतादौ वह्न्यनुमानाच्च। नहि दृष्टान्तमात्रात् साध्यसिद्धः, अपितु अवाधितत्वमुपेक्ष्य, तच्चात्र सिद्धम्। तद् यथा—वृद्धव्यवहाराधीनं हि लोके प्रथम शब्दार्थ संवन्धज्ञानं, स च वृद्ध व्यवहरोपि पूर्वतन वृद्ध व्यवहाराधीनः, सोपि तथा इत्येवं वृद्धव्यवहारोऽनादिः। एवं व्यवहार स्यानादित्वे सति सिध्यति गवादिशब्दानां शब्दार्थ संवन्धज्ञानं व्यवहार पूर्वकमेव न तु सांकेतिकम्। तत्र संकेतस्य वाधितत्वात्।

ननु प्रलये सर्वव्यवहारस्योच्छेदात् सर्गादौ कथं व्यवहारात् शब्दार्थ संबन्ध सिद्धिः, अन्योन्याश्रयादिति चेन्न तत्रापि सुप्त प्रवुद्धवद्धिहिरण्यगर्भादीनां पूर्वकल्पावगत सामर्थ्यानुसन्धानेन प्रवृत्त्युपत्तेस्तद्व्यवहारेणार्वाचीनानां व्युत्पत्त्युपत्तेः। तथा च स्मृतिवचनम् ततः कृतयुगस्यादौ ब्रह्मभूतो महायशाः। सर्वज्ञो धृतिमानृषिः पुनराजायते स्मरन्।। ज्ञानमप्रतिमं यस्य··· इत्यादि।

ननु सर्वजगत्कर्तृत्वेनेश्वरस्य सिद्धत्वात् शब्दार्थसंबंधस्यापि तत्कृतत्वमेव। हिरण्यगर्भादीनां च व्यवहार प्रवर्तकत्वं तत्कृतसंकेतानुरोधेन कल्प्यत इति चेन्न सदर्थसिद्धयै अभिमतेषु प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्था पत्तिषु पञ्चसु प्रमाणेषु कस्यापि प्रमाणस्य तादृशेश्वरेऽभावात्। प्रत्युत प्रमाणाभावे तदभावः अत आकाशकुसुमकल्पः संकेतयिता ईश्वरः सिद्धः। नचानुपलब्धिमात्रेण तादृशेश्वरस्याभावो निश्चेतुं शक्यते विद्यमानस्यापि घटस्य करण दोषादिना यस्य कस्यचिद्ननुभवादर्शनादिति वाच्यम्, येन केनापि प्रमाणेन प्रमाणमुपलब्धो विषयो यदा न दृश्यते तदा तस्मिन् विषयेऽभा वादन्यत् किमपि दृष्टमदृष्टं वा अनुपलब्धिकारणं कल्प्यते। किन्तु तादृशस्य शब्दार्थसवंन्धसंकेतयितुरीश्वरस्य प्रमाणानधिगतस्य अत्यन्तानुपलब्धस्या दर्शनम् भावादेव न तु कारणान्तरात्। यथा लोके शशमस्तके शृङ्गादर्शनमात्रेणैव शशे शृङ्गात्यन्ता भावनिश्चयः।

किञ्च भवदभिमतेश्वरः शरीरं विनैव शब्दमर्थे संकेतयति, आहोस्वित् शरीरद्वारा, नाद्यो विना शरीरमुच्चारणासंभवात्, नापि द्वितीयस्तस्य शरीर संबन्धापादकादृष्टाभावात्। अपि च शरीरसंबन्धत्वे तस्य किमेक शरीर संबन्धेन, उताहो अनेक शरीर संबन्धेन संकेतयति? नाद्य एकेन शरीरेण सर्वत्र युगपत् क्रमेण वा गमना संभवात्, नापि परिच्छिन्नतशरीरवत्वे एकत्वे च सर्वशब्दानां संकेतकरणसंभवाच्च। नापि द्वितीयः तथा सति ईश्वरस्य नानात्वापत्तेः आनन्त्यापत्तेश्च। यदि ईश्वरोऽलौकिकपुरुषत्वात् कायव्यूहेन शक्ति विशेषाद् वा कुर्यात् तदपि न संभवति। लोके संकेतयिता श्रुतेन शब्दान्तरेण कञ्चिदर्थं निर्दिश्यायं डित्थ इति व्यवहर्तव्य इति संकेतं कुरुते। सर्गाद्यकालीनानां जनानां स्तनन्धयकल्पानामेकत्रापि पदे व्युत्पत्त्यभावात् तान् प्रतिपदन्तरेणार्थविशेषनिर्देशायोगाद् अज्ञाते तस्मिन् वस्तुनि पदविशेषस्य संकेतोऽशक्यो ग्राहयितुम्। यथाऽधुना अयमसावित्यादिना पदेनार्थमुल्लिख्य देवदत्तोडित्थ इत्यादिपदान्तरस्य संकेतः क्रियते तद्वत्। अथवा जगदुत्पत्तिसमये यदा कस्याप्यर्थस्य प्रतिपादकं किञ्चिदपि पदं नास्ति तद। पदेनार्थमनभिधाय कथं संकेतं करिष्यति।

ननु अव्युत्पन्नान् प्रति तदानीं पदान्तराभावेपि वा अङ्गुल्यादिना अभिनेयनार्थं प्रदर्श्य गवादिपदानां संकेतं ग्राहयिष्यतीश्वरः इति चेत्तदापि संकेताभिधानं दुर्घटम्। दुर्घटत्वञ्चेत्थम्—अवयवगुण कर्मजात्याद्यनेक पदार्थ-संकीर्णे गोपिण्डे यदीश्वरोऽङगुल्याद्यभिनयेन पुरोवर्तिनीं गान्तिर्दिश्य प्रतिपत्रे तत्र गोशब्द संकेतं कुर्यात् तदा गोपिण्डेऽनेकपदार्थसंभवात्नार्थविशेषस्य गोशब्दवाच्यत्वं प्रतिपत्तुः सिद्धयेद्, अभिनयेनेकतरनिर्धारणायोगात्। किञ्च यदि तत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणाधिगते विषये यथा कथञ्चिद् अभिनयेन शब्दसंकेतो भवेत् तदापि प्रत्याक्षानुपलब्धस्वरूपेषु धर्माधर्म स्वर्गनिरयदेवतादिषु अभिनयासंभवात् तत्तत्पद संकेतः कथं स्यात्। संकेताभावे तेषां पदानाम वाचकत्वं स्यात्। अपि च यथा पाणिनिना 'वृद्धिरादैच्'[2] इत्यादिसूत्रैः कृता या बृद्धयादिसंज्ञा तथा पिङ्गलेन कृता 'धीः श्रीः स्त्रीम्' इत्याद्या 'त्रिगुरुं विद्धिमकारम्' इत्याद्या च संज्ञा। आसु आकारादौ संकेतितासु वृद्धयादिसंज्ञासु पाणिनिपिङ्गलस्मरणं विना पाणिनिपिङ्गलसंज्ञया न खलु व्यवहरन्ति व्यवहर्तारः किन्तु

ननुस्मृतिपूर्वकमेव इतिसंकेताधीनव्यवहारः तत्कर्तृकस्मरणव्यापको दृष्टः। तथा न गवादिशब्दार्थसंबन्धव्यवहारे तत्र नु संकेतकर्तुः स्मरणं नास्ति लोकस्य। अतो जगति शब्दार्थसंबन्ध व्यवहारो न संकेतनिबंधनः। नापि पदपदार्थसंबन्धः करणादादिभिः पृथिव्यादिजगन्निर्माण लक्षण कार्य वलाद्नुमितेन अप्रतिहतज्ञानेच्छाप्रयत्न सामर्थ्यवता ईश्वरेण बुद्धिपूर्वकं कृतः। अपितु वेदैकगम्यात् सर्वप्रमाणाविषयाद् अनादिनिधानाद् अनस्तमितबोधलक्षणाद् एकरसात् सच्चिदानन्दस्वरूपात् परमात्मनो अबुद्धिपूर्व निःश्वासवदनायासेनेदं निखिलं वेदादि जगदभवत्।

ननु *वेदवाक्यानि पुरुषबुद्धिविरचितानि वाक्यप्रमाणत्वात्कालिदासादिवाक्यवद्* इत्यनुमानेन वेदकर्तृकतया ईश्वरसिद्धिः वेदस्य च पौरुषेयत्वसिद्धिश्चेतिचेन्न तथात्वेपि (पुरुष बुद्धिविरचत्वेपि) वैदिकवाक्यानां कस्यचिद् वक्तुरेव सिद्धत्वात्। न च सर्वज्ञेश्वरस्य वेदकर्तृत्वं सिध्यतीति वाच्यम्, पक्षधर्मतयातस्यापि सिद्धित्वात्। तद्यथा—नहि वेदार्थज्ञानं विना वेदवाक्य निर्माणं संभवति। नहि वेदार्थो वेदं विना अस्मदादिभिर्ज्ञातुं शक्यते, इति सर्वार्थप्रकाशकवेदवाक्यरदना न भादृशजनबुद्धिकृता भवितुं क्षमा, इति वेदवाक्य रचनान्यथानुपपत्त्या वेदरचयिता ईश्वरोऽनुमीयते। न चगमवाधः, अनुमानविरोधे आगमस्यैव दौर्बल्यादितिवाच्यम् अनुमानस्यागमवाधकत्वेनरशिरः कपाल शुचित्वानुमानस्याप्यागमवाधकत्वं स्यादित्यतिप्रसक्तेः। अतोऽनुमानं श्रुतिवाधनिमित्तं कथमपि भवितुं नार्हति। नहि वेदापौरुषेयत्व-प्रतिपादकश्रुतिविरुद्धमनुमानं स्वयमेवाप्रमाणं सद् वेद पौरुषेयत्वादि साधयितुमलम् *परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म* [3] *स्वयम्भु, ब्रह्म* [4] *स्वयंभु ब्रह्मणेनमः, ब्रह्म स्वयंम्वभ्यानर्षात्* इति श्रुतिः ब्रह्मपदवाच्यस्य वेदस्य स्वयंभुत्वं निगदति। *अस्य महतो* [5] *भूतस्य, इत्यादि श्रुतिरपि पुरुषनिः श्वासवद् वेदस्य मतिपूर्वकत्वं निराकरोति।* अतः श्रुतिवाक्येनानुमानं वाध्यते अन्यथा श्रुतिवाक्यं स्वयमपवाधितं सन्निर्विषयं स्यात्। न केवल मृग्वेदादिसृष्टिरेवामतिपूर्विका अपि तुं *यतो वा* [6] इमानि, *योऽन्तरायमयति,*[7] *मायांतु* [8] प्रकृतिम् *देवात्मशक्तिं* [9] *स्वगुणैर्निगूढां, महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्,*[10] इत्याद्युपक्रम्य ***इष्टं हुतं प्राशितं पयितमयञ्च*** [11] ***लोकश्च परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि,*** *इन्द्रोमायाभिहः पुरुरूप* [12] इयते, बृ.उ. २/5/19 मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, भ.गी. 9/10 इत्यादिश्रुतिस्मृतयः सर्वस्य कार्यस्य जन्मादिसकलविकारो निःश्वासवदमतिपूर्वक एवेति निगदन्ति। तस्मात् कार्य लिङ्गकानुमानमयपि श्रुतिविरुद्धार्थत्वादप्रमाणम्।

ननु मन्त्रायुर्वेदवत् तत्प्रामाण्यम् आप्त प्रामाण्यादित्युक्तेः कथम् आप्तोक्तत्वं विना वेद प्रामाण्यमिति चेन्न आप्तोक्तत्वात् प्रामाण्यं प्रमाण्याच्चाप्तोक्तत्वमित्यन्योन्याश्रयापातात्। तर्हि कथम् आप्त प्रणीतत्वाभावे वेदस्य तज्जन्यप्रमायाश्च प्रामाण्यमिति चेदुच्यते तस्य स्वत एव प्रमाण्यं न कारणापेक्षा अर्थोज्ज्ञानज्ञापक सामग्रीमात्रज्ञाप्य-प्रामाण्या वेदविद्या। यदैववेदविद्या स्फुरति तदा प्रमाणत्वे न स्फुरति न पुनस्तथास्फुरणेकारणान्तरमयेक्षते। वेदस्यापौरुषेयत्वेनानाप्तप्रणीतत्वादिनिबन्ध नाप्रमाण्यशंका नवकाशाद्वेदजन्यं ज्ञानं प्रमाणत्वेन गृह्यते, इति ज्ञानस्य प्रामाण्ये स्वतस्तत्वसिद्धिः। सर्वमुत्पत्तावपि वेदस्य स्वतस्त्वम्। यदैव यतो हेतोर्वेदस्वरूपाभिव्यक्तिस्तदैव ततएव प्रमाणत्वेनाभिव्यक्तिर्न तस्य प्रमाणस्वरूपत्व संपादनाय हेत्वन्तरापेक्षा। अतस्तत्प्रामाण्यस्य परतस्त्वमज्ञानविजृम्भितमात्रम्। यथा वेदोत्थप्रमाया उत्पत्तिज्ञप्त्योः स्वतः प्रामाण्यम् अर्थाज्ज्ञानव्यवहार सामग्री-मात्रव्यवहार्या तथैव चैतन्याभिव्यक्तिरूप फलेपि (विषयाभिव्यक्तिरूप प्रवृत्तौ) स्वतस्त्वमेव नतु हेत्वन्तरापेक्षा यत इयं बुद्धिवृत्तिर्विषयाभिव्यक्तिलक्षणाद् उत्पाद्याद् भिन्नं किमपि विषयाभिव्यक्तिलक्षणफलाय न काङ्क्षति। *अस्य*

महतो भूतस्य,[13] इत्यादिवेदो नामरूपात्मकस्य जगतो निःश्वासादितुल्यां सृष्टिं प्राह। तद्वेदोक्तमेव तथ्यं श्रुतेर्निरपेक्ष स्वतःप्रामाण्यात्, उत्तरभावित्वेनावाधि तत्वेन प्राबल्यात् पुरुष बुद्ध्यादिदोषग्रस्ताभावाच्च। वेदस्य पौरुषेयत्वानुमानन्तु आभासमात्रत्वेन मिथ्यैवाङ्गीकरणीयमागमबाधितत्वात्।

इत्थमबुद्धिपूर्वैव सृष्टिरिति स्थिते परिणामाश्रयणेन विवर्ताश्रयणेन वा सकलस्य जगतो जन्यत्वे तदन्तर्भूतस्य वेदस्यापि जन्मतायां निरपेक्षलक्षणस्वतः प्रामाण्यं वेदस्य न हीयेत।

संदर्भ :

1. ऋ.सं. 10/190/3
2. पा.सू. 1/1/1
3. बृ.उ. 2/6/3;
4. बृ.उ. 2/6/3;
5. बृ.उ. 2/4/10;
6. तै.उ. 3/1/1;
7. बृ.उ. 3/6/1
8. श्वे. उ. 4/10
9. श्वे.उ. 1/3
10. बृ.उ. 2/4/10
11. बृ.उ. 3/7/1
12. बृ.उ. 2/5/19
13. बृ.उ. 2/4/1

रसो वै सः

ब्रजमोहन चतुर्वेदी

वाङ्मयं कल्पवृक्षामं विद्यास्तस्य फलं स्मृताः।
काव्यं नु विद्यानिष्यन्दस्तस्यात्मा तु रसः स्वयम्।।

कवियों एवं साहित्यशास्त्रियों ने इस तथ्य का पुनः पुनः प्रतिपादन किया है कि श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहास सहित धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष विषयक सभी विद्याओं एवं मूर्ति, चित्र संगीत तथा नृत्य आदि सभी कलाओं का निगलित ही काव्य नामक वाङ्मय की विलक्षण विधा है। महाकवि बिल्हण ने अपने ***विक्रमाङ्कदेव चरित*** नामक महाकाव्य में घोषित किया है कि साहित्यरूपी समुद्र के मन्थन से काव्यरूपी अमृत की उपलब्धि हुई है—

साहित्यपायोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतम्।

काव्य मीमांसा के रचियता राजशेखर ने भी इसी बात की पुष्टि करते हुए कहा है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति में ही चार मूल विद्याएँ हैं। साहित्य पाँचवी है, जो पूर्वोक्त चारों विद्याओं का निष्यन्द है—*आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिश्चेति चतस्रो विद्याः। पंचमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हिचतसृणां विद्याना निष्यन्दः।*

काव्य गुणालङ्कार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति प्रभृति अनेक तत्त्वों का आश्रय होता है। काव्य की आत्मा अर्थात् उसका प्राणभूत तत्त्व क्या है?—इस पर भी आचार्यो ने गहन विचार किया है। यद्यपि रस के काव्यात्मा होने को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। आचार्य महिमभट्ट ने काव्यात्मतत्त्व की गहन मीमांसा करते हुए स्पष्ट किया है कि काव्य के आधायक तत्त्वों में से रस ही वह तत्त्व है, जिसके काव्यात्मा होने में किसी को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती—*काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।* इस बात का समर्थन मम्मट, कविराज विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उत्तरवर्ती सभी आचार्यो ने किया है। रस तत्त्व ही काव्यपुरुष की आत्मा है, ऐसा कहते हुए आचार्य राजशेखर ने सबसे पहले रस के काव्यात्मा होने का विधान अपनी विश्रुतकृति ***काव्यमीमांसा*** में किया। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य की रसात्मकता का प्रतिपादन एक अन्य प्रकार से ही किया है। उनका कहना है कि काव्यजन्य अनुभूति के तीन प्रकार हैं। काव्यानुशीलन से कभी सहृदयों के हृदय में विचित्रता की अनुभूति होती है, जिससे वह उनमें विद्यमान कुतूहलवृत्ति

का विषय बनता है। वैचित्र्य की इस अनुभूति को काव्य के प्रसंग में अलंकार की संज्ञा दी गयी है—वैचित्र्यमलंकारः। काव्य से होने वाली अनुभूति का यह प्रथम प्रकार है। काव्यानुभूति के दूसरे प्रकार को उन्होंने वस्तु की संज्ञा दी है। काव्यपाठ या नाट्यावलोकन से सहृदय सामाजिकों को जो कृत्याकृत्यविवेक होता है, उसी को वस्तु मात्र कहा गया है, जो हमारी ज्ञानराशि में बढ़ोत्तरी करता है। काव्यानुभूति का तीसरा प्रकार आनन्दानुभूति है। लोक में समय-समय पर अनुभूयमान रति आदि कुछ प्रमुख भावों की उनकी साक्षात् उपस्थिति के बिना ही काव्य के वर्णन अथवा नाट्य के अभिनय मात्र से ही सहृदय सामाजिकों को जो अनुभूति काव्य के माध्यम से सम्पन्न होती है, उससे सहृदय सामाजिक को एक विलक्षण आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी की संज्ञा रस है, जिसकी व्युत्पति है—*रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।*

काव्यानुभूति के उक्त तीनों प्रकारों में रस ही सर्वातिशायी है, क्योंकि उसी से सभी सहृदयों के मन का विनोद होता है। वह सभी प्रकार की अनुभूतियों का तिरस्कार करता है, क्योंकि उस समय अनुभवकर्ता व्यक्ति को उसके अतिरिक्त और किसी भी विषय या वस्तु की अनुभूति नहीं होती है। इसलिए उसे अर्थात् रस को ही काव्यानुभूति का प्रधान प्रकार माना गया है।

काव्यानुभूति के रसात्मक प्रकार अर्थात् रस का स्वरूप क्या है? इसके विषय में अनेक विसंवाद खड़े होते हैं, जो प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी युग के काव्यालोचकों में प्रचलित हैं। इनमें से कोई रस को कार्य बताता है, तो दूसरा उसे ज्ञाप्य अर्थात् अनुमेय कहता है। कोई उसे मात्र सुखात्मक कहता है, तो दूसरा उसे सुखदुःखोभयात्मक बतलाता है। ये सभी विसंवाद प्रसिद्ध नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत के रससूत्र की व्याख्या से समुद्भूत होते हैं। भरतप्रोक्त रस सूत्र है—*विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः।*

रसानुभूति के स्वरूप के विषय में समुपलभ्यमान विसंवादों का भौतिक एवं आध्यात्मिक वर्गीकरण कर निरूपण किया जा सकता है। रसानुभूति भी लौकिक रति आदि भावों की अनुभूति के समान ही मात्र भौतिक सम्भव है, क्योंकि इस अनुभूति के प्रदायक विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभाव ही है, जो काव्य एवं नाट्य में वर्णित या अभिनीत होते हैं। यद्यपि ये साक्षात् विद्यमान नहीं रहते, अपितु इनका केवल वर्णन ही किया गया होता है, तथापि कवि की वर्णनशैली अथवा अभिनयकला से ये सहृदय सामाजिकों के अनुभवपथ पर अवतरित हो जाते हैं। अतः अलौकिक होती हुई भी सामाजिकों की यह अनुभूति भौतिक ही होती है। यह मत भट्टलोल्लट, भट्टतौत एवं महिमभट्ट प्रभृति प्राचीन एवं मार्क्सवादी तथा प्रगतिशील आधुनिक सभी समीक्षकों को सम्मत है। आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि रस यद्यपि काव्य में वर्णित विषयों का अनुभव होने से वस्तुधर्म ही है, तथापि वह मात्र सुखात्मक इसलिए होता है कि वर्ण्यविषयों का यही स्वभाव है कि जब उनका ग्रहण साक्षात् होता है, तो वह सुख दुःख मोहात्मक सभी प्रकार के होते हैं, पर जब उनका ग्रहण उनकी साक्षात् उपस्थिति के बिना ही मात्र वर्णन या अभिनय से होता है, तो उनसे होने वाला अनुभव केवल सुखात्मक ही होता है। अतः रसानुभूति की सुखात्मता को सदोष नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वह भी वस्तु धर्म अर्थात् वर्ण्यवस्तु का स्वभाव ही है।

रसानुभूति भौतिक न होकर मनोमय होती है, यह पक्ष भट्टनायक का है। उनका कहना है कि सहृदय सामाजिक को होने वाली रसात्मक प्रतीति, न तो उनके अपने रतिभाव की अनुभूति हो सकती है, न ही रामसीतादि

अनुकार्य अथवा उनके चरित्र का अभिनय करने वाले पात्रों के भावों की अनुभूति, क्योंकि आत्मगतत्वेन प्रतीति होने पर उसके साथ ही लज्जा एवं आतंक की अनुभूति होनी चाहिए, जैसा कि किसी व्यक्ति या उसके द्वारा कृतचुम्बनालिंगनादि के देख लिये जाने पर उसे होती है। तटस्थ अर्थात् अनुकार्य एवं अनुकर्त्तागत भी वह नहीं हो सकती, क्योंकि सहृदय सामाजिक को यदि यह भान हो कि वह दुष्यन्त या शकुन्तला की रति का अनुभव कर रहा है, तो उसमें उस अनुभूति के प्रति विरसता उत्पन्न हो जायेगी। कोई भी भला आदमी किसी दूसरे के चुम्बन आलिंगन को देखने में रुचि नहीं लेता। पर काव्य एवं नाट्य में सहृदय सामाजिक की गहरी रुचि को देखते हुए यही मानना पड़ेगा कि सहृदय सामाजिक को होने वाली अनुभूति न तो आत्मगतत्वेन होती है, न ही ताटस्थ्येन, अपितु मेलों और समारोहों में एक दूसरे से अनभिज्ञ युवक युवतियों की परस्पर रुचि के समान नाट्य एवं काव्य में वर्णित पात्रों एवं उनके भावों का साधारणीकरण होना उचित है, जिसके लिए भट्टनायक ने भावकत्व नामक एक नये व्यापार की उद्भावना की, जिससे न केवल काव्य के पात्रों तथा उनके रत्यादि भावों, अपितु उनका अनुभव करने वाले सहृदय सामाजिकों का भी साधारणीकरण हो जाता है और उनके परिमित प्रमातृभाव (सामाजिकता) के विगलित हो जाने से वह सामान्य युवक-युवती के रूप में बदल जाते हैं। साधारणीकरण का नियामक तत्त्व वर्णन एवं अभिनय का औचित्य होता है। जिस वर्णन या अभिनय में औचित्य का जितना अधिक समाश्रयण होगा, उतना ही शीघ्र उसका साधारणीकरण हो जायेगा। साधारणीकरण होने का परिचायक है—सहृदय सामाजिक के हृदय में होने वाला सत्त्वोद्रेक। प्रत्येक व्यक्ति का मन सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुणों से युक्त होता है, चाहे उनका अनुपात हर एक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न ही क्यों न हो। साधारणीकरण से सहृदय सामाजिक के हृदय में रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्व गुण घर कर लेता है। दूसरे शब्दों में उसे रजस् एवं तमस् का निरोध होकर मात्र सत्त्वगुण का अवशेष होना भी कहा जा सकता है। सत्त्वगुण प्रकाशात्मक और आनन्दात्मक होता है, अतः विभावादि भावों के साधारणीकरण से होने वाले सत्त्वोद्रेक का बोध व्यक्ति को प्रकाशात्मक और आनन्दात्मक उभयरूप होता है, जिसकी परिणति चित्त की विश्रान्ति में होती है। उस समय व्यक्ति प्रकाशानन्दात्मक उस अनुभूति के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रकार की अनुभूति नहीं कर पाता। फलतः उसे एक ऐसे चैन की अनुभूति होती है, जहाँ न कोई दुःख, न कोई दर्द, न किसी से गिला, न किसी की शिकायत होती है। भट्टनायक इसे मुक्ति की संज्ञा देते हैं। जिस प्रकार योगदर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायामादि द्वारा योगी अपने चित्त के रजस् व तमस् गुणों का निरोध कर मात्र सत्त्व के माध्यम से आत्मानुभूति करता है, उसी प्रकार सहृदय सामाजिक भी भावकत्व से काव्य में वर्णित विषयों, पात्रों एवं स्वयं का साधारणीकरण करता हुआ चित्त के रजस् एवं तमस् गुणों का अभिभव कर अवशिष्ट मात्र सत्त्वगुण का प्रकाशानन्दात्मक अनुभव करता है।

सहृदय सामाजिक का अनुभवात्मकबोधरूप यह रस भट्टनायक की दृष्टि में आध्यात्मिक तो होता नहीं; पर यम, नियम, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि के द्वारा हठपूर्वक किये जाने वाले योगियों में आध्यात्मिक आनन्दानुभव की अपेक्षा उत्कृष्टतर कोटिका होता है; क्योंकि रसानुभूति सहज एवं स्वाभाविक होती है, जबकि यौगिक अनुभूति हठपूर्वक की गयी कृत्रिम है। इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त की *लोचन टीका* में भट्टनायक की एक कारिका उद्धृत मिलती है, जिसमें कहा गया है कि कवितारूपी वाक् नयी ब्यायी हुई उस गाय के समान होती है, जो बछड़े को घर पर बाँधकर चरने के लिए छोड़ दी जाती है। शाम को जब वह अन्य गायों के साथ

चरकर लौटती होती है और गाँव के परिसर में आने पर अपने बछड़े की पुकार सुनती है, तो वह हँकरती हुई बछड़े की ओर दौड़ पड़ती है। इस समय उसके स्तनों से अपने आप जो दूध बहने लगता है, उसका आस्वाद उस दूध से विलक्षण मधुर होता है, जो गाय के अगले पैर में बछड़े को बाँधकर पिछले पैरों को रस्सी से बाँधकर इतमीनान से बैठकर किसी पात्र में दुहा गया हो–

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद्दुह्यते योगिभिर्हि यः।।

काव्यजन्य रसानुभूति के स्वरूप विषयक तीसरा पक्ष आध्यात्मिक है। इस पक्ष की भी तीन शाखाएँ हैं: स्वात्मानुभूति, परमात्मानुभूति तथा ब्रह्मस्वाद। इनका विस्तृत विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

काव्यजन्य रसानुभूति की आध्यात्मिक व्याख्या का समारम्भ काश्मीरी शैव सम्प्रदाय के महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त ने किया। उनके अनुसार काव्यानुशीलन अथवा नाट्यवालोकन से उनमें निरूपित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों का तथा उनसे अभिव्यक्त रति आदि स्थायी भावों का साधारणीकरण होने से सहृदय सामाजिकों का परिमित प्रमातृभाव भी विगलित हो जाता है, जिससे उनके मन में रजस् व तमस् गुणों को दबाकर सत्त्व गुण का जो उद्रेक हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का विसंवाद नहीं है। उनका वैमत्य मन में सत्त्व गुण के अनुभवात्मक बोध से है। उनका कहना है कि व्यक्ति के सत्वशील मन में उसकी आत्मा का प्रतिफलन सम्यक् रूप से होने लगता है और व्यक्ति (सहृदय सामाजिक) अपने ही मन से अपने ही मन में प्रतिफलित अपनी ही आत्मा का अनुभव करने लगता है, साथ ही उसके चित्त में स्थायी रूप से विद्यमान चित्तवृत्तिरूप रत्यादि भाव भी प्रसंगानुरूप विभावादि से उद्‌बुद्ध होकर उसके अनुभव के विषय होने लगते हैं। फलतः सहृदय सामाजिक को उसकी आत्मा के साथ विभावादि से उद्‌बुद्ध रत्यादि भाव विशेष का उसी के मन से जो अनुभव होता है, वही स्वात्मपरामर्श के कारण आनन्दात्मक हो सकता है। अन्यथा जड़ सत्त्वादि गुणों में आनन्दात्मकता कहाँ से आ सकती है। उनका तो कहना है कि त्रैलोक्य में कहीं भी किसी भी रूप में आनन्द का जो अनुभव होता है, वह आनन्दसागर भगवान शिव का ही एक बिन्दु है:

त्रैलोक्येऽप्यत्र यो यावानानन्दः कश्चिदीक्ष्यते।
स बिन्दुर्यस्य तं वन्देमानन्दसागरम्।।

स्तवचिन्तामणि

अतः चिद्विशिष्ट रत्यादि ही रस है अर्थात् सहृदय सामाजिक का अपने सत्त्वशील चित्त में प्रतिफलित अपनी आत्मा के साथ उद्‌बुद्ध रत्यादि भावों का अनुभवात्मक बोध ही रस है, यह उनका सम्मत मत है। उनके अनुसार व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए योग के समान ही काव्यमार्ग का भी समारम्भ हुआ है। योग से होने वाली स्वस्वरूपोलब्धि योगियों को जहाँ स्थायी रूप से होती है, वहाँ सहृदय सामाजिकों को काव्यजन्य रसानुभूति क्षणिक होती है। इसका संकेत भरत के *नाट्य-शास्त्र* में भी उपलब्ध होता है, जहाँ कहा गया है कि दुःख, श्रम, शोक एवं तप से पीड़ित व्यक्तियों को नाट्य के द्वारा क्षणिक विश्रान्ति की प्राप्ति होगी–

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति।।

नाट्यशास्त्र

आचार्य अभिनवगुप्त के कथनानुसार आनन्दानुभूति आत्मपरामर्श के बिना नहीं हो सकती। वह स्वात्मपरामर्श, जब किसी विषय के उपभोग के माध्यम से होता है, तो उसे विषयानन्द कहते हैं। पर वह अपूर्ण होता है। काव्य के द्वारा होनेवाली आनन्दानुभूति में विषय साक्षात् तो नहीं होते, पर चित्त में चित्तवृत्ति के रूप में विद्यमान विषयों के संस्कार को उद्बुद्ध कर जो आनन्दानुभूति की जाती है, वह विषयानन्द की अपेक्षा उत्कृष्टतर होती है; उसे ही रस कहते हैं। वह भी अपूर्ण ही है। पर जहाँ न विषय होते हैं, न ही उनके संस्कार उद्बुद्ध किये जाते है, अपितु वहाँ निर्विकल्पक समाधि में एक घन आत्मा का ही निरतिशय अनुभव किया जाता है, वहीं परमानन्द है। आत्मा ही आनन्दस्वरूप है। उपनिषदों ने भी कहा है कि आनन्द को ही आत्मा समझना चाहिए। आनन्द से ही निखिल जीवों का आविर्भाव होता है। आनन्द से ही सकल जीव जीवित रहते हैं। तथा अन्त मे आनन्द में ही उनका पर्यवसान हो जाता है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तैत्तरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली

भक्ति रस के माध्यम से परमात्मा की अनुभूति ही वस्तुतः रसानुभूति है। यह रस की आध्यात्मिक व्याख्या की दूसरी शाखा है। इसका प्रतिपादन मधुसूदन सरस्वती ने अपने परम महनीय ग्रन्थ ***भक्तिरसायन*** मे किया है। उनका तर्क है कि धर्म, अर्थ और काम में पुरुषार्थता स्वतः सिद्ध नहीं होती, अपितु तज्जन्य सुख को ही पुरुषार्थ माना जा सकता है। अर्थात् धर्मजन्य सुख ही धर्म नामक, अर्थजन्यसुख ही अर्थ नामक तथा कामजन्य सुख ही काम नामक पुरुषार्थ है—यहाँ जन्यत्व विशेषण को यदि हटा दिया जाय जाये, तो सामान्य रूप से सुख मात्र को पुरुषार्थ स्वीकार किया जा सकता है। फिर मोक्ष की पुरुषार्थता समाधिसुख की दृष्टि से ही बनती है। अतः भक्ति के भी परमानन्दस्वरूप होने से समाधिसुख के समान ही भक्ति सुख को भी पुरुषार्थ मानने में कोई विवाद नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। सामाजिकों को दो विभाग में बॉटा जा सकता है। एक वे, जिनके चित्त में द्रवित होने की क्षमता है; दूसरे वे, जिनका चित्त किसी भी भाव से द्रवित नहीं हो पाता। उनमें से नित्यकर्मानुष्ठान से विशुद्ध अन्तःकरण में जब वैराग्य स्थान ले लेता है, चित्त की द्रुतिशीलता समाप्त हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को मुक्ति की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से ही सम्भव है। पर जिन सहृदयों के चित्त में द्रुतिशीलता विद्यमान है, उनके लिए तो भक्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है। भक्ति तो परमेश्वर के प्रति चित्त की वह वृत्ति ही है, जो भगवान् के गुणानुवाद से द्रवीभूत होकर धारावाहिकता को प्राप्त हो गयी होती है।

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।

भक्तिरसायन

स्वामी मधुसूदन का कहना है कि व्यक्ति का चित्त लाख की तरह ही होता है। जिस प्रकार लाख अग्नि के ताप से पिघल जाता है; उसी प्रकार काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष शोक आदि सांसारिक भावों से व्यक्ति का

चित्त भी द्रवित होता है। पिघले हुए लाख में जो भी वस्तु पड़ जानी है, वह बाद में उसमें जैसे जम जाती है, वैसे ही व्यक्तियों के द्रवित चित्त में भक्ति के द्वारा स्थापित भगवान् स्थायी रूप से विद्यमान हो जाते है। वही परमानन्द स्वरूप हृदय में स्थापित परमात्मा भक्तिपरक स्तोत्रों, काव्यों एवं भगवद्गुणसंकीर्तनपरक विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होकर स्वयं रसनीयता को प्राप्त होने लगते हैं।

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम्।।

भक्तिरसायन

इस प्रकार सहृदय सामाजिक द्वारा अपने द्रवित चित्त में स्थापित परमात्मा को स्थायी बनाकर समय-समय पर काव्यादि द्वारा उद्बुद्ध कर उनका अनुभवात्मक बोध करना ही वस्तुतः काव्यरस का आदर्श स्वरूप है। जीवात्मा के द्वारा परमात्मा का अनुभवात्मक यह बोध ही रस है। रूपगोस्वामी ने अपनी कृतियों ***उज्ज्वलनीलमणि*** एवं ***भक्तिरसामृतसिन्धु*** में इसी भक्ति रस का भेद-प्रभेदों के साथ विवेचन करते हुए भक्ति को रसराज सिद्ध किया है।

काव्य के आध्यात्मिक पक्ष की तीसरी शाखा उसे ब्रह्मास्वाद की कोटि में स्थापित करती है। कविराज विश्वनाथ ने अपनी लोकप्रिय कृति ***साहित्यदर्पण*** में रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादक अखण्ड, स्वप्रकाश एवं चिन्मय आदि पदों को काव्यरस के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है तथा अपने प्रयोग के समर्थन में युक्ति प्रस्तुत करते हुए कहा है कि क्योंकि रति आदि स्थायी भावों के ज्ञान की व्यक्ति के साथ एकात्मता होने से ही काव्यरस सम्पन्न होता है, अतः ब्रह्म के समान ही काव्यरस की भी स्वप्रकाशता एवं अखण्डता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति।।

सा.द.

विश्वनाथ ने स्पष्ट शब्दों में काव्यरस को वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मतत्त्व के समान ही परमार्थतः अखण्ड कहा है तथा इसके चिन्मय विशेषण में स्वरूप अर्थ में मयट् प्रत्यय को बताते हुए ब्रह्मतत्त्व के समान ही काव्यतत्त्व की भी चिद्रूपता सिद्ध की है—

परमार्थतस्त्वखण्ड एवायंरसो वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः। चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट्। लेन चिद्रूपतैव रसस्यापि ब्रह्ममतत्त्ववत् सिद्धयति।

वाग्देवता के साक्षात् अवतार आचार्य मम्मट ने काव्य प्रयोजन के प्रसंग में सद्यःपरनिर्वृतये पद से पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ब्रह्म में सहृदय सामाजिक की चेतना की लयात्मक निवृत्ति को ही रसात्मक बोध कहा तथा उसे वह आनन्द बताया, जो काव्यार्थबोध के अनन्तर ही होने वाले रसास्वादन से उद्भूत होता है तथा व्यक्ति को ऐसी दशा में पहुँचा देता है कि उसे उस आनन्दात्मक अनुभूति के अतिरिक्त किसी भी अन्य विषय का ज्ञान नहीं रहता—*समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्।*

पण्डितराज जगन्नाथ ने तो–*रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानदीभवति*–आदि उपनिषद् वाक्यों को उद्धृत करते हुए रत्यादि स्थायीभावों से समन्वित, अज्ञान रूपी आवरण के भंग होने से चित्तत्त्व को ही रस कहकर उपनिषद् प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया।

आचार्य अभिनवगुप्त ने रस के स्वरूप का जो प्रतिपादन किया था, उसमें रत्यादि को विशेष्य एवं चित्पद को विशेषण बनाकर उसे *चिद्विशिष्टोरत्यादिः* कहा था, जिससे विशेषण की अपेक्षा विशेष्य के प्रधान होने से रस स्वरूप में रत्यादि भावों की प्रधानता एवं चैतन्य की गौणता हो जाती है। पण्डितराज ने उसे समुचित नहीं माना; क्योंकि सभी तत्त्वों की अपेक्षा आत्मा के ही प्रधान होने से उसी का विशेष्य होना समुचित है। उनका तर्क है कि काव्यजन्यरसानुभूति में होने वाला आनन्द अन्य किसी भी प्रकार के मौलिक सुख के समान नहीं होता, क्योंकि कोई भी लौकिक सुख अन्तःकरण की वृत्तिरूप ही होता है, जबकि रस अन्तःकरण की वृत्ति नहीं होता। रत्यादि तो वस्तुतः चित्तवृत्ति रूप ही होते हैं।

अतः विभावादि के द्वारा स्थायी भाव की अभिव्यक्ति आत्मा के आवरण के भंगरूप में ही स्वीकार्य है। आवरणभंग नहीं तक रहता है, जब विभावादि का चर्वणा होती रहती है। आत्मा के आवरण के भंग हो जाने पर विभावादि की चर्वणा भी समाप्त हो जाती है; अतः चित्रवृत्ति के रूप में विद्यमान भी रत्यादि स्थायीभाव उस समय उसी प्रकार प्रकाशित नहीं होते, जिस प्रकार सूर्य के उदित होने पर विद्यमान तारागण भी प्रकाशित नहीं होते, अपितु जिस प्रकार समाधि अवस्था में योगी के चित्त में आत्मस्वरूप के आकार की एक वृत्ति का उदय हो जाता है, उसी प्रकार सहृदय सामाजिक के चित् में भी अपने स्वरूप के आकार की एक वृत्ति का उदय हो जाता है, जिसमें स्थायीभाव विशेष की भी स्थिति बनी रहती है। अतः चित्त पद को विशेष्य एवं रत्यादि पद को विशेषण करके पण्डितराज ने कहा है कि रत्यादि स्थायीभाव विशेष से अवच्छिन्न वह चित् अर्थात् चैतन्य ही रस है, जिसके अज्ञान के आवरण का नाश हो गया होता है। *रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति* –इन श्रुतियों के साथ काव्यरस का सामंजस्य स्थापित हो सकता है।

रसो वै सः–इस श्रुति वचन से काव्यरस के सामंजस्य का विधान भी अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि काव्य को तथा उसके आत्मभूत तत्त्व रस को सभी विद्याओं का निष्यन्द कहा गया है। उसकी संगति तभी बन सकती है, जब वेदान्त वाक्यों के साथ भी उसका सामंजस्य स्थापित हो जाय। जगन्नाथ के पण्डितराज कहे जाने की सार्थकता इसी में है कि उन्होंने वेदान्त प्रतिपाद्य आध्यात्मिक रस से काव्यरस की एकरूपता पूर्णरूप से स्थापित कर दी।

इस प्रकार उक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य सभी विद्याओं का निष्यन्द है, अतः इसकी आत्मा रस ही हो सकता है, जिसका स्वरूप वस्तुस्वभाव से लेकर ब्रह्मास्वाद तक अत्यन्त व्यापक एवं परम महनीय है।

प्रजापति की संकल्पना

मधुसूदन ओझा

मन, प्राण और वाक् रूपी तीन सत्यों से तीन धातु वाला जो प्रथम पदार्थ कोई प्रकट हुआ, उसी को प्रजापति कहते हैं। इस जगत् में, जहाँ जो कुछ दीखता है, बड़े-से-बड़ा पदार्थ और उसके अन्दर छोटे-से-छोटा पदार्थ, सवको एक-एक प्रजापति समझना चाहिए। इस प्रकार अनन्तानन्त प्रजापति एक जगत के रूप बन गये हैं। इनमें प्रत्येक प्रजापति मन, प्राण, वाक् का समवाय मात्र है, इसीलिए प्रत्येक प्रजापति का नाम 'ओम्' है। इस ओम् अक्षर में जितना-सा ध्वनि का भाग है, जो कान से पकड़ा जाता है और जिसके द्वारा एक वर्ण दूसरे वर्णों से अपनी भिन्नता रखता है, वही भाग वाक् है और जो उसमें स्वर का भाग है, जिसके द्वारा चढ़ाव-उतार या उच्चारण में तीव्रता व कोमलता भी ऊँची-आवाज या धीमी आवाज आदि जो अन्तर किया जाता है, वही इसमें प्राण का भाग है। और ओम् शब्द को सुनकर उसके द्वारा, जो किसी अर्थ पर बुद्धि दौड़ जाती हे, वही इसमें मन का भाग है। यद्यपि ये तीनों भाग प्रत्येक शब्द में हो सकते हैं और इसी से प्रत्येक शब्द को प्रजापति का नाम भी कह सकते हैं, तथापि उन शब्दों में से विशेषकर ओम् शब्द को इस कारण प्रजापति के नाम से कहा गया है कि प्रजापति के वहुत-से धर्म इस ओम् शब्द में दिखायी देते हैं।

यह प्रजापति जो, एक प्रकार का ब्रह्म है, उसको प्रथम हम दो भागों में देखते हैं—एक 'अनिरुक्त' और दूसरा 'निरुक्त'। जिसे दिग्, देश, काल, संख्या आदि से ग्रहण किया जाय, वही किसी वस्तु का निर्वचन है और उसको 'निरुक्त' कहते हैं; किन्तु जिसका इस प्रकार निर्वचन नहीं होता हो अर्थात् जिसका परिच्छेद (हदबंदी) न हो सकता हो, उसे 'अनिरुक्त' कहते हैं, क्योंकि वह अखण्ड, निष्फल, निर्धर्मिक, अनिर्वचनीय है। अनिरुक्त पदार्थ को वस्तु सत्ता से ही कह सकते हैं, किन्तु उसमें स्वगत भेद और द्वित्व आदि संख्या से नहीं कह सकते और यदि किसी पदार्थ में कई भेद बताये जायें, कुछ धर्म, कुछ धर्मो का फ़र्क़ किया जाय, तो वह उस वस्तु की 'निरुक्ति' होंगे- इस जगत् में जहाँ जो कुछ देखते हैं, उन सभी में भेद और संख्या पाते हैं, इसलिए ये सब निरुक्त हैं। किन्तु यह निरुक्त रूप किसी-न-किसी अनिरुक्त रूप से ही उत्पन्न हुए हैं, इसलिए इन सबका मूल अवश्य कोई अनिरुक्त रूप है। क्योंकि यह निरुक्त रूप सर्वदा परिवर्तनशील है, इसलिए इनका किसी मूल तत्त्व पर ठहराव अवश्य मानना होगा कि जिस पर यह परिवर्तन का सिलसिला अभंग रूप से प्रवर्तमान है। उस अनिरुक्ति रूप में मन, प्राण, वाक् ये तीनों उन्मुख रूप से रहते हैं अर्थात् जो भेद मन, प्राण, वाक

में छिपे हुए भेदों से आज हम पाते हैं, वे सर्वथा किसी समय न थे। तीनों एक रूप में जब थे, उसी रूप को हम 'अनिरुक्त' कहते हैं। उसी अनिरुक्त से यह निरुक्त रूप में प्रकट हो गया है, जिसमें हम मन, प्राण और वाक् को पृथक्-पृथक देखते हैं—इन दोनों भावों में अनिरुक्त का विशेष प्रकार से वर्णन न करके निरुक्त भाग का ही विशेष रूप से वर्णन किया जा रहा है।

मन, प्राण और वाक्– इन तीनों के समुच्चय से जो प्रजापति का त्रिधातु रूप सिद्ध होता है, वही फिर सन्निवेश क्रम से त्रिपर्वा होता है—नाभि, मूर्ति और महिमा—इनमें नभ्य भाग मन प्रधान होता है, मति वाक् प्रधान होती है। यद्यपि इन तीनों पर्वों के मिलने से एक ही प्रजापति का रूप सिद्ध होता है, तथापि व्यवहार में इन तीनों के सम्बन्ध से तीन प्रजापति भी कहे जाते हैं—नभ्य, व्याकृत और सर्व; केवल नाभि भाव को नभ्य कहेंगे, किन्तु नभ्य और मूर्ति दोनों को एक साथ व्याकृत कहते हैं। इस प्रकार नाभि, मूर्ति और महिमा तीनों को एक साथ सर्वप्रजापति कहते हैं।

इन तीनों में प्रधान व्याकृत है, क्योंकि इनमें जो मूर्ति भाग है, उसी का कर्म रूप नाम से व्याकरण होता है और उसी को हम अपनी दृष्टि से स्पष्ट देख सकते हैं; जो कुछ वस्तु हम देख रहे हैं, वह सब व्याकृत है। इसी व्याकृत मूर्ति के जो नाभि अर्थात् केन्द्र हैं, उनमें जो शक्ति रहती है, वह अनिरुक्त प्रजापति का अंश है; वह भाग यथार्थ में अज्ञात और अनिवर्चनीय है, किन्तु सर्व प्रजापति की शक्तियाँ वही से निकलकर अपना-अपना कार्य करती है और वही वस्तु का भार केन्द्र है, उस नभ्य के लिए वेद में ऋचा है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनि परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।।

अर्थात् प्रजापति गर्भ में रहता है, वह स्वयं जायमान नहीं है, अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु वह वहुत तरह से उत्पन्न करता है, उसके निज का स्थान विद्वान् लोग ही देख पाते हैं, उसी प्रजापति के आधार पर सव भुवन (भुवन से तात्पर्य मूर्ति और महिमा है) ठहरे हैं। यह ऋचा नभ्य प्रजापति, जो मूर्ति की नाभि में रहता है, के लिए है। किन्तु दूसरा भाग जो मूर्ति है, वही नभ्य के साथ मिल कर व्याकृत प्रजापति कहलाता है। उस प्रजापति की मूर्ति से चारों ओर नाना प्रकार के गौ अर्थात् किरणें निकलकर चारों ओर दूर तक फैलती है। इन किरणों के तीन भेद हैं—वेद, यज्ञ, रस। इनके अतिरिक्त सूर्य की किरणें भी इनमें सम्मिलित होकर चारों ओर बाहर फैलती हैं, जिनके कारण वेद उस मूर्ति का रूप बनाता है।

उन्हीं गौओं को चारों ओर फैलाते हुए व्याकृत प्रजापति के लिए यह ऋचा है—

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणे, विश्वैदेवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरूपा नोगोष्ठमाकम्तासां वयं प्रजयां संसदेम्।।

ऋ. संहिता 10/12/169

अर्थात् कि प्रजापति मेरे लिए गौ देता है। सभी देवता और मित्रों से मेल कर बहुत उत्तम होती हुई उन गौओं से हमारी गौशाला का उपकार करते हैं। इन गौओं की प्रजाओं से हम सम्पन्न होते हैं, यह अर्थ ***सायण भाष्य***

का है। अधिक विचार करने से इसका दूसरा अर्थ यह भी निकलता है कि प्रत्येक वस्तु की आत्मा ही प्रजापति सब ही देवताओं से अर्थात् सूर्य के प्राणों से और पित्रों से अर्थात् चन्द्रमा के प्राणों से मेल करके अपनी किरणों को प्रतिफल रूप में हमारी दृष्टि पर भेजता है, जिससे गोष्ठ अर्थात् किरण रूपी गौओं को टिकने की जगह हमारे चक्षु का उपकार होता है। जो सूर्य चन्द्रमा की रश्मि रूपी गो वस्तुओं पर आये थे, उनके प्रतिफल होने पर उन गौओं की प्रजा, जो उस वस्तु के रूप में बनी हुई वस्तु है, से हम सम्पन्न होते हैं अर्थात् अपने ज्ञान को बनाते हैं। इस प्रकार व्याकृत प्रजापति का प्रमाण सिद्ध होता है।

इस व्याकृत प्रजापति के चारों ओर जो वेद, यज्ञ, रस से एक अदृष्ट मण्डल बनता है, जिसको व्याकृत प्रजापति की महिमा कहते हैं, इस महिमा सहित यह जो एक धर्मी बना है, उसे सर्वप्रजापति कहते हैं। इसके लिए ऋचा है–

प्रजापते न त्वदेता न्यन्यो, विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नों अस्तु वयम् स्याम पतयो रयीणाम्।।

ऋजु. सं. 24/65 मंत्र

अर्थात् हे प्रजापति! आपसे भिन्न कोई भी पैदा हुई इस जगत् की अखिल वस्तुओं के चारों ओर नहीं है अर्थात् प्रत्येक पैदा हुई वस्तुओं के चारों ओर केवल आप-ही-आप दीखते हैं। इसलिए हम जिस कामना से हवन करते हैं, वह मेरा काम होना चाहिए, सम्पदाओं के स्वामी हम हों। इस ऋचा से तात्पर्य इतना ही है कि जो वस्तुएँ हमें दिखायी देती हैं, वे व्याकृत रूप हैं, किन्तु उनके चारों ओर जो महिमा फैली हुई है, वह एक प्रजापति रूप है। उस महिमा के द्वारा प्रजापति उस व्याकृत भाग को चारों ओर से घेरे रहता है। इसीलिए जव तक यह महिमा का प्रजापति मेरी दृष्टि में न आये, हम उस वस्तु को नहीं प्राप्त कर सकते। हम जो किसी वस्तु पर प्रभुत्व रखते हैं, सो उस महिमा के द्वारा देखने से उस वस्तु को पाकर ही करते हैं, इसलिए हम किसी वस्तु के पाने की अभिलाषा से अपनी आत्मा को दृष्टि द्वारा किसी वस्तु पर डालते हैं। यदि वह महिमा न होती, तो दृष्टि देने पर भी कोई वस्तु हमें न मिलती, केवल यही विज्ञान इस ऋचा में वर्णित है।

वेद, यज्ञ और रस से वने हुए देवता सर्वप्रजापति के ही अंग हैं। सम्पूर्ण वेद प्रजापति के अंग होने से प्रजापति हैं। इसी प्रकार यज्ञ और रस में सव देवता भी प्रजापति के ही स्वरूप हैं, किन्तु यह सृष्टि होने पर प्रजापति का जो सन्निवेश है, उसके द्वारा विभाग करके प्रजापति का रूप दिखाया गया है, किन्तु वास्तव में प्रजापति का रूप केवल मन, प्राण, वाक्–इन तीनों धातुओं से त्रिधातु होना ही है। यही त्रिधातुपन आदि प्रजापति से लेकर अब तक विद्यमान है। प्रजापति का निर्माण करने वाली तीनों धातु अर्थात् मन, प्राण और वाक् किसी असाधारण रूप में होकर इस जगत में दीखते हैं, उन्हें हम क्रम से रस, वल और अभ्व कहते हैं। मन का आदि रूप रस है और प्राण का आदि रूप वल है और वाक् का प्रथम स्वरूप अभ्व है। इनमें रस को आभु, वल को तुच्छ और अभ्व को माया भी कहते हैं।

आनन्द का स्वरूप

किसी-किसी का मत है कि ये तीनों भी क्रम से उत्पन्न हुए हैं; इनमें सबसे प्रथम, जो किसी आदियुग में सर्वथा प्रशान्त भाव से था, जिसमें अभी तक कोई भी क्रिया उत्पन्न नहीं हुई थी, उस प्रशान्त रूप को आनन्द समझना चाहिए। आनन्द के दो लक्षण हैं—शान्ति और समृद्धि। जब शूद्र आत्मा भूमा की ओर जाय अर्थात् कुछ आत्मा की वृद्धि हो, उस समय आनन्द का अनुभव होता है; किन्तु वह आनन्द कुछ क्षण तक रहता है। फिर आत्मा बढ़ कर अपनी शान्ति में आ जाती है। यदि आत्मा में किसी प्रकार का क्षोभ, कोई उपद्रव या हलचल न हो, तो उस समय आत्मा शान्तिमय आनन्द रूप में रहती है, उसी प्रकार जैसे गहरी नींद में सोकर उठने के बाद जीव आनन्द का अनुभव करता है। इन दोनों आनन्दों में वह शान्ति का आनन्द ही मुख्य है। वही आनन्द सृष्टि के आदि में किसी समय था अर्थात् उस समय मन से किसी प्रकार का प्राण उत्पन्न नहीं हुआ था; ऐसी स्थिति में मन को जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह 'रस' कहलाया। 'रस' आनन्द का ही नाम है। अब भी जगत में जब किसी को किसी बात में कुछ रस मिलता है, तो आनन्द आता है। इसलिए आनन्द और रस एक ही वस्तु हैं। इसी रस के पश्चात् बल अनन्त रूप में उत्पन्न होता है। बल कितने प्रकार के हैं, यह आज तक भी निश्चित नहीं हुआ है। ये बल प्रत्येक वस्तु में भिन्न-भिन्न शक्ति के नाम से अनन्त रूप में देखे जाते हैं। इन्हीं बलों के परस्पर मिलने से, परस्पर आघात-प्रत्याघात से, एक नया भाग उत्पन्न हो जाता है, वह अभ्व कहलाता है। इससे अभ्व सभी बलों से और बल सभी रस से उत्पन्न हुए माने जाते हैं, किन्तु वास्तव में शुक्ल यजुः के मतानुसार ये इनके प्रभाव स्थान हैं। जैसे दही में से घी, तिल में से तेल निकला करता है, उसी प्रकार मन में सर्वदा वर्तमान बल ही समय-समय प्रादुर्भूत होता रहता है—ये तीनों नित्य हैं, स्वतंत्र हैं।

वह रस जो मन का मुख्य रूप है (1) अपवर्ती है (प्रवर्तित) दूसरी जगह सरकने वाला जैसे वायु अर्थात् विकृत नहीं होता और (2) आवपन है अर्थात् प्राण और वाक् के लिए काम करने का क्षेत्र है। अव यह मन या रस (3) भूमा है अर्थात् अपना असीम स्वरूप रखता है, इसलिए अनन्त है। (4) आकाश के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है। आकाश प्रत्येक वस्तु के भीतर बाहर समान भाव से रहता है और कोई भी घन पदार्थ अपनी घनता से आकाश को रोक नहीं सकता। यदि घड़े का मुख बन्द करके कहीं ले जायें, तो उसके अन्दर से आकाश निकलता प्रवेश करता जायेगा, अर्थात् सूक्ष्म-से-सूक्ष्म परमाणु के अन्दर भी आकाश है। हम देखते हैं कि लवण या शर्करा को यदि पानी में घोल दिया जाय, तो उनके प्रत्येक परमाणु जल के परमाणुओं से घुलकर एक हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि उनमें भी आकाश है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु में आकाश है और आकाश में प्रत्येक वस्तु है; उसी प्रकार से मन व रस अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उनको कोई भी घन पदार्थ अपनी घनता से रोक नहीं सकते। प्रत्येक प्राण और वाक् में रस रहता है और इसमें ही प्राण और वाक् रहते हैं। इसीलिए रस व मन को आकाश की तुलना से आकाश कहते हैं और ये रस व मन अक्षुब्ध रूप हैं अर्थात् किसी प्रकार की हलचल होना, इनका निज का धर्म नहीं है। आकाश के अनुसार ये सदा शान्त रूप में रहते हैं और ये रस व मन (6) दिक्, देश, काल और संख्या से परिछिन्न नहीं होते हैं। इस रस से अपूर्व बल जो पूर्व में न था, सो बाद में उत्पन्न हो जाया करता है, किन्तु इस नये बल पदार्थ के उत्पन्न होने से उस मन का तनिक भी कोई अंश

कम नहीं होने पाता, न कोई विकार ही होता है। आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि अत्यन्त शान्त रस से अत्यन्त अशान्त बल उत्पन्न होकर उसी रस में फिर विलीन हो जाता है। यह कैसे होता है, यह समझ में नहीं आता, किन्तु अनुभव करने से यह सहसा देखने में आता है, इसलिए आश्चर्य होते हुए भी शान्त में अशान्त का व्यक्त होना मानना पड़ता है।

बल

यद्यपि यह रस (8) भूमा है, अर्थात् असीम है, तथापि उसमें जो बल उत्पन्न होता है, वह छोटा-वड़ा अनेक प्रकार के खण्ड रूपों में देखा जाता है। ये बल संख्या में अनन्त होते हुए भी उसका बड़ा-से-बड़ा खण्ड असीम नहीं है। छोटा हो या बड़ा हो, वह कुछ-न-कुछ अपना आयतन अवश्य रखता है। वह बड़ों में इतना वड़ा है कि जिससे एक-एक ब्रह्मांड का काम चल रहा है और छोटे-से-छोटा इतना है कि अपनी वायु के परमाणु जो दृष्टि में नहीं आते, वे सब उसी के एक-एक रूप हैं।

इन बलों में बड़े-से-वड़े या छोटे-से-छोटे कोई वल ऐसा नहीं है, जो रस के बिना आश्रय से हो। इसलिए बल के आयतन के अनुसार उस रस का आयतन कल्पित हो जाता है, इसलिए इस रस में भूमा के साथ-साथ बल के सम्बन्ध से (9) अणिमा भी उत्पन्न हो जाती है। ये बल अपने स्वरूप से यद्यपि सर्वथा असत् हैं, वह सर्वदा सत् रूप इस रस का आश्रय पाकर सत् रूप में आया हुआ दीखता है, किन्तु इस प्रकार रस के आश्रय से सत् बना हुआ भी बल कदापि दीखने में नहीं आता, जबकि इस प्रकार के बल दो, तीन या चार अथवा असंख्य आपस में मिलते हैं तो उनके आघात-प्रत्याघात से एक नया रूप उनमें आ जाता है वह (10) वाक् कहलाने योग्य होता है, अथवा यही बल इस वाक् पर अपना प्रभाव डाल कर कोई-न-कोई वस्तु उत्पन्न करता है। उसी नयी वस्तु को हम (11) अभ्व कहते हैं। हम देखते हैं कि कोई भौतिक परमाणु आकाश के जितने आयतन में रहता है, जब तक उस परमाणु को न हटाया जाये, उस आयतन में दूसरा भौतिक परमाणु प्रवेश नहीं कर सकता है, किन्तु बल में यह वात नहीं। यह बल दो-चार क्या प्रत्युत् सौ या हज़ार तक एक साथ एक ही बिन्दु में मिल कर रह सकते हैं। इनके संसर्गों के भी अनेक भेद हैं, जिनके कारण कभी-कभी इन बलों के मिलने पर इन बलों का सजातीय-विजातीय भेद अथवा बहुत्व की संख्या भी नष्ट होकर सब बल मिलकर एक अखण्ड तत्त्व हो जाता है। इस प्रकार बलों के परस्पर सम्बन्ध से जो प्रथम तत्त्व बना है, उसको हम अभ्व कहते हैं। जब कभी कहीं हम किसी अर्थ को देखते हैं, तो वह अर्थ क्या है, केवल रस और उस पर सैकड़ों प्रकार के बलों का वह एक घन मात्र है। वलों की भिन्नता अथवा बलों के परस्पर संसर्ग की न्यूनाधिकता अथवा संसर्ग की विचित्रता के कारण ये सव अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के भले ही दीखें, किन्तु सभी अर्थ रस में बलों का संग्रह रूप हैं, इसमें संदेह नहीं; इनमें रस के कारण, एकत्व की प्रतीति होती है, किन्तु बलों की न्यूनाधिकता के कारण एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न अवस्था व अनेक परिवर्तन हैं; यही इस जगत् का रूप है, किन्तु इन अर्थों पर सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला अभ्व सर्वत्र नियम से रहता है।

अभ्व

अभ्व तीन प्रकार का प्रतीत होता है–1. कर्म, 2. रूप ओर 3. नाम। ये तीनों ही जीव से तथा ईश्वर से सम्बन्ध नहीं रखते, किन्तु इनका शुद्ध निर्विकार परमेश्वर से सम्बन्ध है। ईश्वर का शरीर त्रैलोक्यमय है, इसीलिए जीव का भी शरीर तीन लोक से बना हुआ है। जीव और ईश्वर इन दोनों के शरीर में जो तीन लोक हैं, उनके सब पदार्थ एक से दूसरे लोक जाया करते हैं। वे इस लोक से निकलने के पीछे अवश्य ही किसी दूसरे लोक में पाये जाते हैं, किन्तु ये रूपरंग व वस्तु शक्ति रूपकर्म जब किसी वस्तु से निकल जाते हैं, तो उनकी इन तीनों लोक में कहीं भी सत्ता नहीं रहती। वे एक वस्तु से दूसरी वस्तु में जाते हुए नहीं दिखते और नये रूपरंगों और शक्तियों के उत्पन्न होने पर वे भी अकस्मात् कहीं से आ जाते हैं, तीन लोक वाले किसी वस्तु से निकल कर आते हुए प्रतीत नहीं होते। तेल से चिराग तथा धुआँ बना अथवा लकड़ी का कोयला तथा राख हुआ–इनमें पुरानी रंगत व शक्ति कहाँ से आ गयी, यह परीक्षा से निश्चित है कि इन जाने-आने वाले या नष्ट उत्पन्न हुए रूप, नाम, कर्म की त्रैलोक्य भर में किसी दूसरे स्थान में सत्ता नहीं है। इसीलिए यह सिद्धान्त बन चुका है कि यह नाम, रूप, कर्म तीनों त्रैलोक्य से बाहर की चीज़ हैं, किन्तु जबकि इन तीनों लोकों में भी परमेश्वर की सत्ता व्यापक होने के कारण अवश्य है, तो उसी सत्ता से ये अकस्मात् उत्पन्न हो जाते हैं और उसी परमेश्वर की सत्ता में फिर से लीन हो जाते हैं, इसलिए इन तीनों लोकों में इन तीनों के नष्ट होने पर पता नहीं चलता, जबकि ये तीनों लोकों में नहीं हैं। इसी से यह निश्चित होता है कि इन तीनों का ईश्वर से भी प्राचीन परमेश्वर से सम्बन्ध है, किन्तु ये रूप एवं शक्ति जगह रोकने वाली हैं। एक रूप दूसरे रूप से, एक शक्ति दूसरी शक्ति से विरोध रखती है, इसीलिये ये तीनों रस, बल न होकर परमेश्वर के शरीर की वाक् हैं। यद्यपि वाक् एक है और ये तीन हैं, तथापि परमेश्वर के वाक् का प्रथम विकास इन तीनों को कह सकते हैं। इस प्रकार रस, बल, नाम, रूप कर्मरूपी अभ्व ये सब परमेश्वर के शरीर से सम्बन्ध रखते हुए प्रथम उत्पन्न होने वाले तत्त्व हैं।

प्रस्तुति : **श्री गोविन्द तिवारी**

अणुयुग में वेदान्त

कर्ण सिंह

मानवता आज संक्रान्तिकाल से गुज़र रही है। यह परिवर्तन वैसा ही महत्त्वपूर्ण है, जैसा पहले का यायावरी जीवन खेतिहर जीवन, खेतिहर से औद्योगिक तथा औद्योगिक से उत्तर औद्योगिक समाज में परिवर्तित हुआ। सारे घटनाक्रम से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण हम इसके महत्त्व को अच्छी तरह समझते हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि हम भारी परिवर्तन से जुड़े हैं। राजनीति हो या अर्थशास्त्र, सचार हो या संस्कृति, सभी क्षेत्रों में प्रभावशाली नयी सार्वभौमिकता का विकास हो रहा है। वस्तुतः बीसवी सदी के उत्तरार्ध की ख़ास विशेषता भौतिकवादी प्रतिमान का समाप्त होना है, जो अनेक सदियों से विश्व की विचारधारा पर छाया रहा है। तथाकथित कार्टेस–न्यूटन–मार्क्स के प्रतिमान और उनके साथ उस दृष्टिकोण पर आधारित भौतिकवादी दर्शन टूट चुके हैं। मार्क्सवादी तथा पूँजीवादी व्यवस्थाएँ भी असफल हो चुकी हैं। पश्चिमी जगत में आइन्स्टाइन के वाद के भौतिकशास्त्र क्वान्टम मैकनिक्स (प्रमात्रा यांत्रिकी), हेसेनबर्ग का अनिश्चित सिद्धान्त तथा अन्य अनेक वैचारिक क्रान्तियों के संघात से पुराने ढाँचे चरमराने लगे हैं। 'ठोस पदार्थ' के रूप परिवर्तन की सम्भावना होती है और नया भौतिक विज्ञान उस रहस्यमय दूरदर्शिता के समीप पहुँच रहा है, जिसका वर्णन सभी परम्पराओं के द्रष्टाओं तथा सन्तों ने किया है।

मानव जाति की प्रमुख चेतना विकासोन्मुख है और यह कहना उपयुक्त होगा कि विकास के निर्णायक चौराहे पर खड़ी मानवता नये आदर्श, नये जीवन-दर्शन, नये प्रतिमान और पुरानी के स्थान पर नयी चेतना की खोज में है। मानवता द्वारा भारी संकट का सामना करने की यह परिस्थिति मात्र संयोग नहीं है। यह संकट दूसरी जातियों की ओर से नहीं, ब्राह्म आकाश से भी नहीं, बल्कि अपनी ओर से ही है। दुर्भाग्यवश ज्ञान एवं विवेक में भिन्नता रही है और मानव मन की गहराइयों में ऐसा भीषण विष घुला है, जिसका भय केवल हमारी पीढ़ी को ही नहीं, बल्कि अगणित अजन्मी पीढ़ियों को भी है; हमारी मानव जाति को ही नहीं, बल्कि इस ग्रह के समस्त जीवधारियों को है। हम सम्भवतः अद्वितीय महाद्वीप अटलांटिक की तरह सम्पन्न तथा दैदीप्यमान हैं, जिसे अन्ततोगत्वा सागर की लहरें निगल जाती हैं तथा यह अपनी शिल्पवैज्ञानिक प्रवीणता को बचाने मे असमर्थ रहता है।

प्राचीन पौराणिक कथाएँ प्रायः मानव की दुर्दशा को उजागर करती हैं। इसी प्रकार की प्रभावशाली हिन्दू पौराणिक कथा समुद्र-मन्थन है, जो सहस्रों वर्षो बाद आज भी पृथ्वी ग्रह में चेतना के लम्बे तथा संघर्षपूर्ण विकास

का प्रतीक है। इस पौराणिक गाथा के अनुसार देव तथा दानव, सत् तथा असत् दोनों ही शक्तियों ने समुद्र-मन्थन में सहयोग दिया था। हज़ारों वर्षों बाद दैवी उपहार प्रकट हुए—सब कुछ प्रदान करने वाली 'कामधेनु', दैवी अश्व 'उच्चैःश्रवस्', इच्छापूर्ति करने वाला 'कल्पवृक्ष' और दैवी गज 'ऐरावत'। इन तथा अन्य उपहारों को देवों तथा दानवों ने प्रसन्नतापूर्वक आपस में बाँट लिया। मन्थन चलता रहा, क्योंकि इसका प्रमुख लक्ष्य तो अमृत कलश प्राप्त करना था, जिसके लिए देवता भी लालायित थे। अकस्मात् चेतावनी दिये बिना समुद्र भयानक विष-गरल से खौलने लगा। यह ऐसा अशुभ आयाम था, जिसका देवों तथा दानवों को कोई पता न था। गरल बड़ी तेज़ी से तीनों लोकों—जल, थल तथा आकाश में फैल गया। मन्थन करने वाले भयवश पृथ्वी में चारों ओर भागने लगे तथा वे एकत्रित सभी उपहारों को भूल गये। देवों तथा दानवों की भौतिक धन लिप्सा से निस्पृह आदिदेव महादेव शिव प्रकट हुए। उन्होंने गरल को एक कटोरे में एकत्र किया और पी गये तथा इसे अपने में समाहित कर लिया। ख़तरा टला। फिर पूर्व व्यवस्था हो गयी और शिव जी की स्तुति करते हुए मन्थन में सहभागी लोग विदा हुए।

यह पौराणिक कथा मानव दुर्दशा का जीता-जागता चित्र उपस्थित करती है। दीर्घकालीन मन्थनों ने मानव को विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के महान उपहार प्रदान किये हैं। चिकित्साशास्त्र और संचार, कृषि और इलेक्ट्रॉनिक्स, अंतरिक्ष यात्रा और संचार में अविश्वसनीय प्रगति हुई है। अब हमारे पास इस पृथ्वी पर रहने वाले सभी मानवों के पूर्ण तथा स्वस्थ जीवन के लिए शारीरिक, बौद्धिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से आवश्यक पर्याप्त साधन तथा प्रौद्योगिकी उपलब्ध है; तो भी हमारे भीतर विष भी भरा है। प्रतिदिन अरबों-खरबों डालर रूबल, पौंड, फ्रैंक, रुपये और युवान अपूर्व विनाशक शक्ति वाले विकराल अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण में व्यय हो रहे हैं। अनुमान है कि इस समय पृथ्वी ग्रह पर पचास हज़ार से भी अधिक आणविक स्फोटक शस्त्र हैं और इनमें से प्रत्येक अणुयुग के प्रारम्भ के समय हिरोशिमा तथा नागासाकी में गिराये गये बमों की तुलना में हज़ार गुना अधिक विध्वंसक है और हर एक में समूचे दूसरे महायुद्ध में दोनों पक्षों द्वारा प्रयुक्त सामग्री से कहीं अधिक विस्फोटक शक्ति है।

इस बात के भारी प्रमाण हैं कि किसी भी प्रकार का अणुयुद्ध केवल मानव सभ्यता को ही नष्ट न करेगा, बल्कि यह वायु तथा सागरों को भी विषाक्त कर देगा और पृथ्वी को रहने के अयोग्य बना देगा। उस स्थिति में पृथ्वी झुलसा तथा उजड़ा हुआ ग्रह रह जायेगी और अति आदिम जीव रूपों के सिवा दूसरों को सँभालने में असमर्थ होगी। यह चाहे राजनैतिक मूर्खता से हो या दुर्घटना से, हंसों की उड़ान से हो या ठीक काम न करने वाले कम्प्यूटर की तीली से। अपने विस्मयकारी ज्ञान के बल पर मनुष्य तीन अक्षरों वाले मंत्र पसुवि (परस्पर सुनिश्चित विनाश) पर आ पहुँचा है। सहस्रों वर्ष पूर्व सभ्यता के उषाकाल में वैदिक द्रष्टाओं ने तीन अक्षरों वाले मंत्र 'ओऽम्' की खोज की थी, जो विश्व-व्यापक ईश्वर का प्रतीक है। समय आ गया है कि हमें पसुवि से ओऽम् में आ जाना चाहिए, ताकि सबसे बड़ा संक्रान्तिकालि, विश्व-चेतना का संक्रान्तिकाल निरापद रूप में पूरा हो सके और पृथ्वी विकास के अगले चरण का स्थल बन सके।

इस निराशापूर्ण परिस्थिति में वैकल्पिक जीवन-दर्शन की अत्यधिक आवश्यकता है और सार्वभौम मूल्यों

को प्रतिष्ठा देने के कारण वेदान्त निश्चित रूप से सर्वांगपूर्ण तथा सार्वभौम दर्शन का परिचायक है। द्रष्टाओं तथा मनीषियों की अनेकानेक पीढ़ियों के सामूहिक विवेक पर आधारित और आदि शंकराचार्य द्वारा प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादित होने के कारण उपनिषद् तथा भगवद्गीता प्राचीन भारत के भव्य आध्यात्मिक प्रयास और उपलब्धि के प्रमाण हैं। सामूहिक रूप से वेदान्त कहलाने वाला प्रज्ञा का यह अपार भण्डार ऐसी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, जिसका इस अणुयुग में मानव को जीवित बनाये रखने में निर्णायक महत्त्व है। यह क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत तथा मूल्यवान है। मैने इसमें से वेदान्त में पाँच प्रमुख सिद्धान्त निकाले हैं, जो सामूहिक रूप से ऐसे दर्शन की रूपरेखा प्रदान करते हैं, जो हमारे पृथ्वी ग्रह में विकसती सार्वभौम चेतना को बनाये रख सकते हैं।

पहला तथा बुनियादी विचार सर्वव्यापक ब्रह्म का है। *ईशावास्यमिदम् सर्वम् यत्किंचजगत्यां जगत्*—जो भी विद्यमान है और जहाँ भी विद्यमान है, चाहे यह चल हो या अचल, सभी दैवीशक्ति और सामर्थ्य से व्याप्त हैं। यह महत्त्वपूर्ण अनुभूति है, क्योंकि अनेक दर्शन ईश्वर और जगत, प्रकृति और जीवात्मा, पाप-पुण्य, दैवी तथा दानवी आदि द्वैतवाद मानते हैं। परन्तु तत्त्वपरक विश्लेषण के आधार पर उपनिषदों का मत है कि दैवी शक्ति सर्वत्र व्याप्त है।

वस्तुतः दैवी शक्ति के बिना कोई सृष्टि नहीं हो सकती और एक प्रकार से यह आधुनिक विज्ञान की मान्यता के सदृश है। पहले न्यूटन के शास्त्रीय विज्ञान में पदार्थ और ऊर्जा को अलग-अलग माना जाता था, परन्तु उत्तर आइंस्टाइन काल में अब यह मान्यता है कि जो कुछ भी विद्यमान है, उसमें एक ही ऊर्जा है। अतएव वैज्ञानिक लोग निर्भीकता के साथ जिस एकीकृत शक्ति के सिद्धान्त की जाँच कर रहे हैं, उसका आध्यात्मिक प्रतिरूप उपनिषदों के सर्वव्यापक ब्रह्म के विचार में है। सबसे बड़ी अनुभूति ऊपर या नीचे, दाहिने और बायें, भीतर तथा बाहर सर्वत्र ब्रह्म की व्यापकता है। वेदान्त ज्ञान का पहला महत्त्वपूर्ण विचार है—सर्वव्यापक ब्रह्म।

धर्ममार्ग

दूसरा विचार यह है कि ब्रह्म हर व्यक्ति की चेतना, आत्मा में विद्यमान है। आत्मा व्यक्ति की चेतना में सर्वव्यापक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, किन्तु अन्ततः यह ब्रह्म से अलग नहीं है, उसका अंग है। उपनिषदों में इसे अग्नि का उदाहरण देकर समझाया गया है। जब वृहत् अग्नि जलायी जाती है, तो इससे लाखों चिनगारियाँ ऊपर उड़ती हैं और फिर उसी में आ गिरती हैं; इसी प्रकार ब्रह्म से लाखों आकाशगंगाओं का उदय होता है और ये सब अंततोगत्वा उसी में विलीन हो जाती हैं। *ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति*—हर व्यक्ति के हृदय में ईश्वर का वास है, यह उपनिषद् की दूसरी अन्तर्दृष्टि है और आत्मा तथा ब्रह्म के सम्बन्ध का केन्द्र विन्दु है, जिसके चतुर्दिक् समस्त वेदान्त-चिन्तन घूमता है। चारों योगों का लक्ष्य आत्मा तथा ब्रह्म की एकता है—ज्ञानयोग, विवेक मार्ग, भक्तियोग, भावात्मक सम्बन्ध का मार्ग, कर्मयोग, समर्पित कर्म का मार्ग तथा राजयोग, आनन्दातिरेक का मार्ग—इन सभी का लक्ष्य बाह्य रूप से सर्वव्यापक ब्रह्म और अन्तर में बैठी अमर आत्मा की एकता है।

तार्किक दृष्टि से उक्त विचार से निःसृत वेदान्त का अन्य महत्त्वपूर्ण विचार है कि मानव मात्र अपनी साझी आध्यात्मिकता के कारण एक विस्तृत परिवार के सदस्य हैं। उपनिषदों में मानव के लिए 'अमृतस्य पुत्रः' (अमरता की सन्तान) का प्रयोग है। यह असाधारण वाक्यांश है। हम मानवों को सातवें आसमान में बैठी अदृष्ट शक्ति

के सम्मुख पापी, कमज़ोर और चापलूस, भिक्षुक अथवा याचक के रूप में नहीं देखते, बल्कि हम अमरता की सन्तान हैं, क्योंकि हमारी चेतना में ब्रह्म के प्रकाश और शक्ति का वास है। इसमें जाति या रंग, धर्म या लिंग अथवा अन्य कोई विभेद नहीं है। मानव के विस्तृत परिवार का सदस्य होने का आधार है—*वसुधैव कुटुम्बकम्*। प्रसिद्ध उक्ति है :

अयं निजः परोवेत्ति गणना वधु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

यह मेरा है, वह दूसरे का है, ऐसा विचार छोटे लोग करते हैं; उदार चरित्र वालों के लिए तो सारा संसार अपना कुटुम्ब है। यह उपनिषदों की अन्य महान अन्तदृष्टि है, जो मानव इतिहास के इस संकटकाल में विशेष रूप से प्रासंगिक है।

उपनिषदों का चौथा प्रमुख दार्शनिक विचार सभी धर्मो, सभी अध्यात्मिक मार्गो की एकता है। ऋग्वेद में कहा गया है—*एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति* (सत्य एक है, बुद्धिमान लोग इसे कई नामों से पुकारते हैं।) *मुंडकोपनिषद्* में एक सुन्दर मंत्र है :

यथा नद्याः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं
पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

जिस प्रकार विभिन्न उद्गमों से निकली नदियाँ अपना नाम और रूप त्याग कर सागर में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार किसी भी स्थान से आये हुए विद्वान नाम, रूप आदि भेदों को त्यागकर उसी परम् पुरुष को प्राप्त होते हैं। सभी धर्म तथा मत विभिन्न स्थानों तथा समयों में उत्पन्न होते हैं, परन्तु यदि उनमें सच्ची आकांक्षा होती है, तो वे एक ही लक्ष्य तक पहुँचते हैं। यह ऐसा दर्शन है, जो धर्म के नाम पर बने घृणा तथा धर्मान्धता के अवरोधों को लाँघ जाता है। वेदान्त सार्वभौम धर्म है, यह दैवीशक्ति की ओर ले जाने वाली अनगिनत सम्भावनाओं को स्वीकारता है; यह हमें किसी एक रूढ़ि में सीमित या क़ैद नहीं करता। यह दैवीशक्ति की ओर ले जाने वाले मार्गों को स्वीकार ही नहीं करता, वरन् उनका स्वागत करता है; पर शर्त यह है कि मार्ग में दैवी शक्ति को पाने की सच्ची प्रवृत्ति विद्यमान हो और यह मात्र बौद्धिक व्यायाम अथवा वाद-विवाद न हो।

यह पर्वत पर अलग-अलग अनेक स्थानों से चढ़ने के सदृश है। यदि हम इन आरम्भ करने वाले स्थलों पर तर्क-वितर्क करते रहे, तो हम मीलों दूर पड़े रहेंगे। किन्तु जब हम चढ़ना आरम्भ कर ऊपर की ओर जाने लगते हैं, शिखर के समीप पहुँचने पर हमारे मार्ग आमने-सामने होते हैं और अन्त में शिखर पर पहुँच कर हम वहीं मिलते हैं; क्योंकि शिखर तो एक ही है। इसी प्रकार जब एक बार आध्यात्मिक प्रयास के क्षेत्र में आगे बढ़ने लगेंगे, तो हमें यह अनुभव होगा कि हमारे साम्प्रदायिक तथा बौद्धिक अन्तर धीरे-धीरे अपनी दूरी खोते जा रहे हैं और शिखर पर पहुँच कर हमें मानवता के एक होने की अनुभूति होगी।

वेदान्त का पाँचवाँ विचार सभी जनों का हित तथा सभी जनों का सुख है—*बहुजन हिताय बहुजन सुखाय च*। वेदान्त सभी जीवों के कल्याण की कामना करता है, केवल मानव ही नहीं, बल्कि सभी जीव-जन्तुओं का। अहंकार और अज्ञानवश हमने अपने ग्रह के पर्यावरण को बिगाड़ दिया है। हमने समुद्रों को दूषित कर दिया है, हमने वायु को साँस लेने योग्य नहीं रखा, हमने प्रकृति को अपवित्र किया और वन्य जीवन को नष्ट कर दिया है। हमारे अक्खड़पन के कारण सहस्रों जीव-जातियाँ मिट चुकी हैं और अन्य हजारों विलुप्त होने वाली हैं। परन्तु वेदान्त द्रष्टा जानते थे कि मानव प्रकृति से अलग नहीं है। मानव चेतना सम्पूर्ण विश्व को ध्यान में रख कर विकसित हुई है और इसलिए उनके हृदय में सभी जीवों के प्रति सहानुभूति थी। यही कारण है कि वेदान्त हमें निरन्तर यही प्रेरणा देता है कि अपनी मुक्ति का प्रयास करते हुए हम हिंसा तथा घृणा के मार्ग से दूर रहें। हमें अपनी आत्मा के आन्तरिक और बाह्य, निवृत्तिवादी और सक्रियतावादी दोनों ही तत्त्वों को विकसित करना चाहिए। वस्तुतः ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसलिए हमें अपनी मुक्ति और विश्व के कल्याण के लिए काम करना चाहिए। अपनी नियति के लिए कार्य करते हुए हमारा सामाजिक उत्तरदायित्व भी है। हम जब तक समर्थ हैं, हमें मानव मात्र के कल्याण के लिए कार्यरत रहना चाहिए।

वेदान्त के पाँच विचार हैं—सर्वव्यापक ब्रह्म, सभी मानवों में बसने वाली आत्मा, भिन्नता के बावजूद एक मानव परिवार, एक लक्ष्य की ओर जाने वाले विभिन्न मार्गों के रूप में सभी धर्मों को मान्यता और यह विचार कि हमें सम्पूर्ण विश्व समाज के कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए, केवल अपने लिए ही नहीं। ये विचार एक व्यापक विश्व-दर्शन प्रस्तुत करते हैं, जो मानवता की सार्वभौमिकता की प्रक्रिया में सहायक बन सकते हैं।

विश्व सभ्यता का धीरे-धीरे उदय हो रहा है और इस अणुयुग में यदि मानवों को जीवित रहना है, तो इसका अभ्युदय अनिवार्य है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने हमें अपार शक्ति प्रदान की है और इस शक्ति को यदि हितकर कार्यों में लगाया जाये, तो इस शताब्दी के अन्त तक इस पृथ्वी से ग़रीबी और भुखमरी, कुपोषण और दुर्दशा, निरक्षरता और बेरोज़गारी को समाप्त किया जा सकता है। विश्व की युद्ध-सामग्री का सात दिन का ख़र्च अफ्रीका की भूख मिटा सकता है, युद्ध-सामग्री का दस दिन का ख़र्च लातीनी अमरीका को ऋणमुक्त कर सकता है। दस खरब अमरीकी डालर के बराबर की राशि प्रति वर्ष सामूहिक विनाश के हथियारों के निर्माण में ख़र्च की जा रही है। यह स्थिति इतनी भयावह है कि इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अब हमारे पास इतनी आणविक शक्ति है कि यह मानव जाति को चालीस से भी अधिक बार समाप्त कर सकती है। इससे मानव जाति की आत्म-हत्या ही न होगी, बल्कि यह पृथ्वी ग्रह का पूर्ण विनाश कर देगी।

हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि शक्ति कभी भली या बुरी नहीं होती। संसार में दैवी तथा आसुरी शक्तियाँ हैं, हितकर तथा अहितकर। शक्ति तथा विज्ञान की आराधना पर्याप्त नहीं; हमें विवेक, सहानुभूति तथा समझदारी की भी ज़रूरत है। अब तभी हम जीवित रह सकते हैं, जब हमारे पास ऐसी विचारधारा का विकल्प हो, साथ ही हम उस विचारधारा के अनुरूप कार्य कर सकें।

वेदान्त ऐसी विचारधारा का विकल्प प्रदान करता है और इतना विलम्ब हो जाने पर भी यदि हम इसके कुछ सार्वभौम सत्यों को आत्मसात् कर लें, तो सम्भवतः हम विनाश की ओर जाने वाली दौड़ को उलट सकते हैं और विवेक की ओर ले जाने वाली लम्बी तथा धीमी चढ़ाई का फिर शुभारम्भ कर सकते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में द्रष्टा का कथन है–*वेदाहमेतम पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्ण तमसः परस्तात*–मैं उस परमात्मा को जानता हूँ, जो अन्धकार से परे सूर्य की भाँति दैदीप्यमान है। इसे जान कर ही तुम मृत्यु को जीत सकते हो। अमरता का अन्य कोई मार्ग नहीं। उपनिषदों में वर्णित अमरता मृत्यु के बाद जीवित बने रहने की स्वीकृति मात्र नहीं, बल्कि यह जन्म तथा मृत्यु से कहीं बढ़ कर है। इसका अभिप्राय यह है कि हमारी चेतना उस स्थिति तक पहुँच जाती है, जहाँ हमें संसार-चक्र में बार-बार जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती।

क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि धरती के कीड़े–एक भद्दी सूंडी का कोषावस्था में चमत्कारी रूपान्तरण हो जाता है, जिससे यह सुन्दर, चमकीले रंगों वाली तितली के रूप में प्रकट हो जाती है? उपनिषद् मानव चेतना के लिए इसी प्रकार का विचार करते हैं, जो नयी सार्वभौम चेतना के लिए आवश्यक है। हमें भूमि से जुड़ी चेतना को इस चमकीली, बहुरंगी सार्वभौम चेतना में बदलना चाहिए, जो अब भी पृथ्वी पर सूंडी की तरह उतर सकती है और आकाश में भी उड़ सकती है, जो सूंडी के लिए सम्भव न था।

मेरे विचार से वेदान्त का सच्चा महत्त्व यही है, जिसका प्रतिपादन बारह शताब्दी पूर्व आदि शंकराचार्य ने किया था। अन्त में मैं अमर वैदिक प्रार्थना दुहराऊँगा, जो हमें अज्ञान के असत्य से ज्ञान के सत्य की ओर, आन्तरिक अन्धकार के ऊपर के प्रकाश की ओर और जन्म-मृत्यु के चक्र से अमरता की ओर ले जाती है। उपनिषदों की यह श्रेष्ठतम उपलब्धि है और यही लक्ष्य है जिसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न हम सबको करना है–

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।

तत्त्वमीमांसा क्यों?

रेवतीरमण पाण्डेय

वसन्त इन्नु रन्त्यः ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः।
वर्षाण्यनु हेमन्तो शरद् शिशिराः रन्त्याः।।

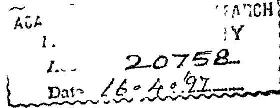
सामवेद, 6.4.2

"ग्रीष्म की धारा यंत्र-मुखरित सन्ध्या में चन्द्रकिरण अपना स्वर मिलाती है। वर्षा ऋतु में नवजल-सिंचित वनान्त में, हवा में झूमती हुई कदम्ब शाखाएँ भी इसी छन्द से आन्दोलित हैं। इसी ताल पर शरद्-लक्ष्मी अपने हंस-रुत-नूपुर की ध्वनि को मन्द्रित करती है, वसन्त के दक्षिण समीरण से चंचल कुसुमों से आम्र शाखाओं का कल-मर्मर इसी की तान-तान में प्रसारित होता है" (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)।

कितने उज्ज्वल धवल हंस, तो कितने हरे सुग्गे, फिर मयूरपिच्छों की चित्र-विचित्र रंग-सज्जा, पुनः मेघ गर्जन पर उनका उन्मत्त नृत्य किसे आह्लादित नहीं करता। अनन्त तारों से खचित तारामण्डल विभावरी की सघनता में उस रचना की (कृति) स्निग्ध कान्ति उड़ेलते हैं, शरद्पूर्णिमा की चन्द्रज्योत्स्ना अपनी अनन्त किरणों से उसी कृति की बाँकी झाँकी प्रस्तुत करती है।[1] आचार्य शंकर का उद्घोष है कि यह संसार इतना मनोरम एवं मनोज्ञ है कि इसका रूप-विन्यास मनसाप्यचिन्त्य है—*मनसाप्यचिन्त्य-रचना-रूपस्य*।[2] तुलसी-सा संत इसकी सुरम्यता पर मुग्ध है :

केशव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि
समुझि मनहिं मन रहिये।
शून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं,
तनु बिनु लिखत चितेरे।
...सो आपन पहिचाने।[3]

स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया 'पराँचि खानि'[4] ताकि वे भगवद् छवि का रसास्वादन करें। "जिन नयनन सों यह रूप लख्यो उन नयनन सों अब देखिये कहा।" रागात्मकता के अतिरेक में भक्त स्वयं उस राग से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, कबीर की उक्ति कितनी सशक्त है :



लाली मेरे लाल की जित देखहुँ तित लाल
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।

भावुक भक्त माधुर्य-पारावार में गोता लगा रहा है–

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरं
. . . .
मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।[5]

'रसो वै सः' जो ठहरा। तभी तो उद्धव-सा ज्ञानी भी वृन्दावन में गुल्म-लता-औषधि होकर श्रीव्रजाङ्गनाओं के पाद-पंकज-रज सेवन के लिए विह्वल हैं। यह एक कृती का चित्र है। कृती कल्पना-भावना प्रधान होता है। वेद का तत्त्वान्वेषी मनीषी भी आत्मविभोर है, वह अपना कुतूहल छिपा नहीं पाता--

किं स्विद्वनं क उस वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषणो मनसा पृच्छतेदु-
तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।[6]

वह कौन-सा वन था, कौन-सा वृक्ष था, जिससे विश्वकर्मा ने आकाश एवं पृथ्वी का निर्माण किया? मनीषीगण मन से पूछें कि उसने जब भुवनों को धारण किया, तो उसका आधार क्या था? हमारे ऋषियों, मनीषियों ने ऋतम्भरा प्रज्ञा का साक्षात्कार प्रकृति की नीरव गुफाओं एवं वनदेवी के पूत एवं शान्त कुंजो में किया। उस प्रकृति के पीछे सत्य का ऋतम्=लय (ऋतस्य गोपा) का साक्षात्कार किया। इस प्रकार ऋतम्=नर्तनम् =लय विधान है। *मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरः* –यह जगत मायी महेश्वर की माया-कृति है। भारतीय दृष्टि कृति, प्रकृति एवं संस्कृति के प्रति सुस्पष्ट है। तत्त्वतः समस्त इन्द्रियगोचर प्रपंच, जिसे देश काल एव कारणता से नियमित एवं व्यवस्थित पाते हैं, उसे हम प्रकृति की संज्ञा देते हैं। यह समस्त नाम रूपात्मक जगत्, जो देशकाल-कारणता से प्रतिनियत है, उसे हम प्रकृति की संज्ञा देते हैं।[7] प्रकृति या जगत प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित है। यह अपरिवर्तन कार्य-कारण-भाव से परिगृहीत जड़ वस्तुओं का विश्व है।[8] संस्कृति वस्तुतः मूल्यवोध है।[9] मानवीय सम्पदाओं का बृहत् कोष ही संस्कृति है।[10] मनुष्य के भीतर अपनी दैवी सम्पदाओं का साक्षात्कार संस्कृति है। मनुष्य के भीतर महान शिव बैठा है। वही सारी कलाओं का सर्जक है–*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*, संस्कृति मानव के अपने ही सद्गुणों का, दैवी सम्पत्तियों का संस्कार है, जिनसे वह व्यष्टि से समष्टि का, अपूर्ण से पूर्ण का, लघु से विराट् का साक्षात्कार है।[11] सांस्कृतिक जगत् अर्थ-गवेषणा एवं आत्मपर्येषण्य के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है।[12] इस प्रकार संस्कृतियों का शिल्पी ही अन्ततः तत्त्वान्वेषी होता है।

ऋग्वेद में यह जगत् एक शिल्प के रूप में वर्णित है। इसका शिल्पी कभी विश्वकर्मा है, तो कभी हिरण्यगर्भ। पुरुषसूक्त में महाविराट् पुरुष की चर्चा है। सम्पूर्ण पुरुषसूक्त में यज्ञ का माहात्म्य है। पुरुष अपने निक्षेप से महाविराट् बन जाता है, सारी सृष्टि ही स्रष्टा के यज्ञ का फल है। वैदिक संस्कृति को जिन लोगों ने कर्मकाण्ड-प्रधान या बहिर्मुख देखा है, उन्होंने अधूरा देखा है। 'परोक्षप्रियाः देवाः' का सिद्धान्त यह अपेक्षा रखता है कि बहुत

कुछ आँखों से ओझल है, मन की आँखों से ओझल है, उसके लिए आवश्यक है कि इन्द्रिय का मन में लय हो, मन का बुद्धि में, बुद्धि का अहंकार में और अहंकार का भी लय हो जाय, तो वह दीखेगा, और वह दीखेगा नहीं, देखने वाला हो जायेगा। यज्ञ के माध्यम से बाह्य आभ्यन्तर का, पृथ्वी एवं स्वर्ग का, व्यक्त एवं अव्यक्त का, मनुष्य एवं देवता का, अन्ततः त्वम् एवं तद् का तादात्म्य होता है। भगवद्गीता का कितना समीचीन उद्घोष है[13] :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

वैदिक वाङ्मय में 'एकं सद्' ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ सूक्त में, पुरुषसूक्त में एवं नासदीय सूक्त में बड़े समारोह के साथ हुई है—*पुरुष एवमिदं सर्वम् यत्भूतम् यच्च भाव्यम्*। उपनिषदों में 'किं कारणं ब्रह्म' यतो वा इमानि—ब्रह्म। माण्डूक्यकारिकाकार गौडपादाचार्य का उद्घोष है:

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः
माण्डूक्यकारिका।

इतना ही नहीं—

अद्वैतं परमार्थोहिद्वैतं तद्भेद उच्यते।[14]

मा.का., 3/18

सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार संग्रह के अनुसार ब्रह्मवादियों का ब्रह्म, शून्यवादियों का शून्य, विज्ञानवादियों का विज्ञान, मीमांसकों का कर्म, सांख्यों का पुरुष, योगवादियों का ईश्वर, शैवों का शिव तथा कालवादियों का काल वस्तुतः एक ही तत्त्व है। यही तत्त्व प्रत्येक दर्शन का मूल तत्त्व है :

यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत्
विज्ञानं विज्ञानविदां मलानां च मलात्मकम्
पुरुषः सांख्यदृष्टीनां ईश्वरो योगवादिनाम्
शिवः शैवगमस्थानां कालः कालैकवादिनाम्
यत् सर्वशास्त्रसिद्धान्तं यत् सर्वहृदयानुगम्
यत् सर्व सर्वम् वस्तु तत्त्वं तदसौ स्थितः।[15]

पुष्पदंत ने लिखा है कि वेद, सांख्य, पाशुपत मत, वैष्णव मत आदि एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न प्रस्थान हैं, जो मनुष्यों के रुचि-वैचित्र्य के कारण हैं :

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल नानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।[16]

उनके इस वाक्य पर मधुसूदन सरस्वती ने जो भाष्य लिखा है, वह *प्रस्थान-भेद* नामक ग्रन्थ बन गया है। इस ग्रन्थ का तात्पर्य है कि सभी दर्शन और शास्त्र वेदान्त से सोपान-परम्परा द्वारा सम्बन्धित हैं। उनके अनुसार मुख्य रूप से तीन प्रस्थान हैं–(1)आरम्भवाद, (2) परिणामवाद और (3) विवर्तवाद। पहला प्रस्थान न्याय वैशेषिक का है। दूसरा प्रस्थान सांख्य, योग, शैव और वैष्णव दर्शनों का है और तीसरा प्रस्थान वेदांत का है। इसी मत को सदानन्द यति ने भी माना है।[17]

कुमारिल भट्ट, मीमांसा भाष्यकार स्वयं कहते हैं कि शबर ने आत्मवाद का जो विवेचन किया है, उसका दृढ़तर ज्ञान वेदान्त के अभ्यास से होता है–*इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितांभाष्यकृदत्र युक्त्या।*

दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन।।[18]

उदयनाचार्य ने न्याय चर्चा से वस्तुतः वेदान्त का मनन स्वीकारा है, जो श्रवण के अनन्तर होता है–

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता।।[19]

आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया, अर्थात् वेदान्त में बौद्ध मत का भी समन्वय सम्भव है। शान्तरक्षित ने ***तत्त्वसंग्रह*** में इसे स्वीकार किया है कि वेदान्त का स्वल्प अपराध यह है कि वह ज्ञान को नित्य मानता है।

तेषामल्पराधे तु दर्शनम्
नित्यतो उक्तितः।
रूपशब्दादिभिर्ज्ञानं व्यक्तम्
भेदोपलक्षणात्।। [20]

कहने का आशय यह है कि भारतीय दर्शन की चरम निष्पत्ति अद्वैत वेदान्त में होती है–

तावत् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावत् वेदान्तकेसरी।।

वैदिक वाङ्मय में दार्शनिक जिज्ञासा के प्रति दो समानान्तर एवं स्पष्ट विधियों का प्रयोग हुआ है। वे हैं, 'तत्पदार्थ शोधविधि', जिसे हम विषयनिष्ठविधि कहते हैं एवं 'त्वंपदार्थशोधनविधि', जिसे हम विषयितानिष्ठ विधि कह सकते हैं। यदि प्रथम के माध्यम से हम जगत् के उत्स को जानने का प्रयास करते हैं कि 'स्विद्धनं क उस वृक्ष आस', 'किं कारणं ब्रह्म' तो द्वितीयक माध्यम से हम अपने उत्स की तलाश करते हैं–*आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य।*[21] इन दोनों विधियों की चरम निष्पत्ति 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में होती है, जिनमें 'तत्' एवं 'त्वम्' का तादात्म्य स्थापित होता है।

मनुष्य के सारे धार्मिक कृत्य अनुष्ठान, यज्ञ, उपासना एवं योग अहंता, ममता के त्याग के माध्यम से ब्रह्म का, पूर्णता का साक्षात्कार है–

तमेतमात्मान ब्राह्मणा यज्ञेन, दानेन, तपसा नाशकेन विविदिषन्ति।

अहंता, ममता के त्याग से अणु विराट् बन जाता है, विराट् अणु बन जाता है, भगवान् भक्त बन जाता है, भक्त भगवान् बन जाता है, मीरा गोविन्द को मोल ले लेती है। रसखान की अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पर सार्वभौम विश्वसत्ता को, जो सच्चिदानन्द है, आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम परम निष्काम है, नाचने के लिए विवश करती हैं। कितनी समीचीन उक्ति है–

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं ब्रह्म मुक्तं क्रीडा मृगीकृतम्।।[22]

निर्गुण निराकार अचिन्त्य, अनन्त, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य, अवेद्य ब्रह्म सर्वथा अपरोक्ष है, क्योंकि वह प्रत्यग्आत्मा है, अतः प्रेमास्पद है। दृश्यजगत् तो उसी का प्रकाश है। 'तस्य भासा' इतना ही नहीं 'सर्व खलुमिदं ब्रह्म' 'प्रतिबोध विदितम्' *तत्र कोशोकः कः मोहः एकत्वमनुपश्यतः*। *क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। शांते द्वैतं न विद्यते*।

तमसो मा ज्योतिर्गमय। अज्ञानान्धकार के तिरोहित होते ही सत् का साक्षात्कार होता है, *असतो मा सद्गमय* से अमृतत्व का आनन्द बोध होता है। *मृत्योः मामृतं गमय*। भारतीय तत्त्वमीमांसा का यही रहस्य है–

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः
संन्यास योगाद्यतयः शुद्ध सत्वाः।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले
परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे।।[23]

पाश्चात्य दर्शन में वहाँ की दार्शनिक जिज्ञासा का उदय 'तत्पदार्थशोधविधि' से होता है। थैलीज को पाश्चात्य दर्शन का प्रथम दार्शनिक माना जाता है। उसके अनुसार जगत् का उत्स जल है। उसके बाद यदि अनैक्ज़ीमैण्डर असीमित को मूल उत्स बताता है, तो अनैक्जीसिनीज अग्नि को। किन्तु यूनानी दार्शनिक भूमि पर सुकरात का ज्यों ही उदय होता है, त्यों ही 'त्वंपदार्थशोधनविधि' की प्रतिष्ठा होती है आत्मानंविद्धि। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक देकार्त के दर्शन में अस्मद् पद की प्रतिष्ठा होती है–Cogito Ergo sum। पश्चिम का महान् दार्शनिक काण्ट इसी क्रम में आकर Transcedented Unity of Apperception अहं-विमर्श की पुष्टि करता है। अस्तित्ववाद तो विषयिता प्रधान दर्शन है। भले ही स्वतन्त्रता अभिशप्त हो, भले ही विषयिता के स्वरूप के विषय में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हों, किन्तु इस दर्शन ने मानव का तादात्म्य स्वतंत्रता से किया, क्योंकि वह चेतना है। इसी प्रकार हुसर्ल का स्थगन का सिद्धान्त भले ही बड़ा स्थूल है, किन्तु दर्शन का मुख्य विषय 'अहं विमर्श' ही है। पश्चिम की दार्शनिक जिज्ञासा की यही सबसे बड़ी त्रासदी है कि आज तक यह दर्शन 'तत्' एवं 'त्वम्' का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका। अतः मृत्यु की विभीषिका, संत्रास, कुंठा से वह किसी को भी मुक्ति का मार्ग न दिखा सका। वहीं पर भारतीय दर्शन 'मृत्युः इन्नु रन्त्यः' का मान करता है। भले ही ह्यूम एवं एअर तत्त्वमीमांसा के निराकरण करने में सफलीभूत न हो पाये हों, किन्तु तत्त्वमीमांसा उनके लिए उतनी सार्थक नहीं, जितनी हमारी लिए है।

सन्दर्भ :

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1970, द्वितीय संस्करण, पृ. 125।
2. ब्रह्मसूत्र, शारीरिक भाष्य, 1.1.2।
3. तुलसीदास, विनयपत्रिका, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2031, चौबीसवॉ संस्करण, पदसंख्या 111.
4. कठोपनिषद्, 2.1.1.
5. वल्लभाचार्य, मधुराष्टक।
6. ऋग्वेद, 10.81.4।
7. रेवतीरमण पाण्डेय, दार्शनिक त्रैमासिक, वेदान्त एवं भारतीय संस्कृति : वासुदेव सर्वमिति, 1988, 2, पृ. 52।
8. जी.सी. पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1981, पृ. 5।
9. वही।
10. रेवतीरमण पाण्डेय, दार्शनिक त्रैमासिक, वेदान्त एवं भारतीय संस्कृतिः वासुदेवः सर्वमितिः, 1988, 34.2, पृ. 52।
11. जी.सी. पाण्डेय, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, पृ. 5।
12. रेवतीरमण पाण्डेय, समग्र योग, सुरेशोन्मेष प्रकाशन, वाराणसी, 1985, पृ. 9।
13. भगवद्गीता, 4.24।
14. गौडपादाचार्य, माण्डूक्यकारिका, 3.18।
15. सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-सार-संग्रह, 980-82।
16. महिम्नस्तोत्र, 7।
17. संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1987, द्वितीय संस्करण, पृ. 388।
18. मीमांसाश्लोकवार्तिक, आत्मवाद-148।
19. उदयनाचार्य, न्यायकुसुमांजलि, 1.3।
20. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, 303.30।
21. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.5।
22. रेवतीरमण पाण्डेय, समग्र योग, पृ. 11।
23. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3.2.5-6।

वैदिक उषा का आध्यात्मिक रूप

उषा चौधुरी

वैदिक काव्य-प्रतीक उषा का आध्यात्मिक अर्थ है—चिदाकाश में ज्ञान ज्योति का प्रथम स्फुरण। चित्त में ज्ञान चेतना की प्रथम रेखा, जो साधक को स्वारुणिम आनन्द में अभिभूत कर देती है, का ही नाम है उषा। योगी की तपस्या साधना में यह वह स्थिति है, जबकि वह शोक से रहित हो जाता है और अज्ञान की विभिन्न परिधियों से ऊँचे उठ प्रकाश के दर्शन करता है। योग सूत्रों में इसी स्थिति को कहा है—*विशोका वा ज्योतिष्मती।* [1] उषा के रूप में वर्णित आध्यात्मिक प्रकाश निर्मल सत्व गुण का प्रकाश है। इस प्रकाश रूप गुण में जब मन पूर्णतः लीन हो जाता है, शोक-रहित स्थिति का उदय होता है। यह ज्योति विशुद्ध सत्वगुण का प्रतीक है।

उषा सम्बन्धी सभी सूक्तों में वैदिक उषा की यह आध्यात्मिक प्रतीकता सर्वत्र लक्षित है। आन्तरिक आनन्द की प्रतीक उषा का यह आह्लाददायक रूप अत्यन्त ही रोचक ढंग से वर्णित है। उषा ज्योति का विस्तार करती है और सभी तामसिक द्वेष भावनाओं को दूर कर देती है,[2] जिससे चित्त राग और द्वेष से विरहित हो जाता है।[3] उस परमानन्द की अवस्था को ही पुकार कर साधक कहता है—हे प्रकाश की पुत्री उषा! तुम आह्लाददायक प्रकाश से प्रकाशित होवो। दिव्यता के आवरक अन्धकार को दूर करती हुई हमारे लिए उस परम सौभाग्य को ले आओ।[4]

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का 52वाँ सूक्त उषा के आध्यात्मिक रूप का अत्यन्त ही सारगर्भित वर्णन प्रस्तुत करता है। सुन्दर नेतृत्वशीला उषा अज्ञान रूप रात्रि की अन्तिम वेला में से प्रकाशित होती हुई दिव्यकन्या-सी दीख रही है। आध्यात्मिक गत्यात्मकता अथवा व्याप्ति की प्रतीक *(अश्वा इव चित्रा)*, दिव्य अरुणिमा से युक्त *(अरुषी)* ज्ञान-रश्मियों की जननी *(गवां माता)*, सत्य की प्रदर्शक *(ऋतावरी)* यह उषा सत्यरूप ज्ञानयुक्त कर्म एवं यथार्थ योग की शक्तियों अथवा सर्जन की द्वन्द्वात्मक पूरक शक्तियों के प्रतीक अश्विनों की सखी है। *(उषा अश्विनोः सखा अभूत्)* आत्मिक बल और धन की यह स्वामिनी है। *(अवस्व ईशिषे)*। हे सत्य एवं मधुर भाषण से युक्त उषा! शत्रुओं को (छह प्रकार के शत्रु—काम, मोह, लोभ, दम्भ इत्यादि) को दूर करने वाली तू है। तुम ज्ञानवती को स्तोत्रों के द्वारा हम जागृत करते हैं। कल्याणकारक किरणें धेनुओं के समूह की भाँति दीख रही है। यह उषा सर्वत्र तेज को भर देती है। हे निरन्तर विभासित होने वाली उषा! स्वतेज से मुझे प्रफुल्लित कर देने वाली तू ज्योति से सम्पूर्ण अज्ञान रूप अन्धकार को दूर करती हो और पुनः अपनी धारक शक्ति से मेरे दिव्यरूप का सरक्षण करती हो। हे उषा! अपनी किरणों से तू मेरे ज्ञान को आलोकित कर देती हो *(रश्मिभिः*

द्यां आतनोषि)। उषा पराविद्या का प्रकाश प्रदान करती है, और अन्तरिक्ष रूप मन को भी अपनी ज्योति से ज्योतित कर देती है।[5]

उषा को सर्वत्र 'दिवः दुहिता' 'दिविजा' विशेषणों से विभूषित किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह विशेषण अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। यह द्युलोक सत्त्वगुण से पूर्ण अन्तःकरण ही है। सत्त्वगुण का स्वरूप है प्रकाश, ज्योतिः[6]। अन्धकार रूप तमोगुण से सत्त्वगुणोद्रेक ही साधक के चित्ताकाश में उषा का जन्म है; इसीलिए इसका नाम है दिविजा अथवा दिवःदुहिता। वेद ने इसका वर्णन कितने सुन्दर रूप में किया है।

श्वेतवर्णा तेजस्विनी अन्धकार में उत्पन्न हुई[7] अर्थात् दिव्यप्रकाश का प्रभात अज्ञान की गहरी रात्रि को चीरता हुआ उदित हुआ। सम्पूर्ण विचार में दिव्य ज्ञान की लौ लगा देती है यह उषा।[8] उषा का तेजस्वी प्रकाश उदित होता है। यह प्रकाश सर्वत्र व्याप्त होकर महान काले अन्धकार को दूर कर देता है।[9] यदि दिव्य चेतना की प्रभात वेला सम्पूर्ण सत्ता को प्रकाशित कर देती है और जैसे गौएँ व्रज को घेर लेती हैं, ऐसे ही उषाएँ अन्धकार को घेर कर प्रकाश को प्रकट करती हैं।[10] दिव्य चेतना के सूर्य अर्थात् साधना की चरमस्थिति अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के लिए यह उषा मार्ग विस्तृत कर देती है।[11]

दिव्य उषा के उदय से सभी भुवनों में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक ज्ञानमय दृष्टिकोण प्रस्थापित हो जाता है। व्यक्ति दिव्यविवेक से पूर्ण हो जाता है और उस व्यक्ति को पदार्थों की गहराई कुछ अज्ञेय नहीं रहती। दिव्यालोक के इस प्रथम प्रभातोदय का वर्णन कितना मार्मिक है। वेद कहता है—

अतारिष्म तमसस्पारमस्य (अन्धकार को हमने पार कर लिया है); *उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी* (सम्पूर्ण अन्धकार को अपने तेज से दूर करती हुई उषा आती है); *अजीजनत्सूर्य यज्ञमग्निं अपाचीनं तमो अगादजुष्टम्* (दिव्य ज्ञान के प्रभात, दिव्य ज्ञान के पूर्ण सूर्य, दिव्य चेतनता एवं यज्ञमय उदार दृष्टिकोण को जन्म देती है); *मानुषान् यक्ष्यमाणान् अजीगः* (यज्ञ में रत उदार चरित और परोपकारी मनुष्यों को जगा देती है; आत्मतत्त्व के प्रति सुप्तभावना को दूर कर देती है।)

वेद दिव्य काव्य हैं।[12] उषासूक्तों में दिव्यज्ञान की प्रारम्भिक चेतना का वर्णन अत्यंत ही काव्यात्मक रूप में मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ही तीसवें सूक्त में उषा के दिव्यस्वरूप की व्यंजनात्मक अभिव्यंजना है—स्तुतिप्रिये! स्तुत्य, अमर, प्रभायुक्त उषे! तुझसे भोग प्राप्त करने के लिए कौन मनुष्य योग्य है? और तू किसके पास जाती है।[13]

योग साधना में रत साधक भी अन्तश्चेतनता के प्रथम स्फुरण की अनुभूति कर पुनः उसे पाने के लिए कह उठता है—हे व्यापिनी! चारु वरुणिमा से युक्त उषे! हम समीप से अथवा दूर से निरन्तर तुम्हारा ही ध्यान कर रहे हैं।[14]

उषा साधक में दिव्य ज्ञान, चेतनता, एक मधुरिमा, एक आत्मसन्तोष भर देती है।[15] इसी को कहा गया है—*निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।*[16] रज एवं तमोगुण के उपचय से उत्पन्न अशुद्धि एवं आवरण लक्षण मल से रहित प्रकाशरूप बुद्धि तत्त्व के उदय से आत्मप्रसाद की अनुभूति होती है। स्वच्छ प्रवृत्ति के स्थितिप्रवाह का उदय होता है, तो योगी को मधुरिम अध्यात्मप्रसाद का आस्वादन होता है, जो प्रज्ञालोक को स्फुटित कर

देता है। कहा भी है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

साधक इसी स्थिति में बहुत समय रहता है जब तक कि ज्ञान रवि के दर्शन नहीं हो जाते। वेद ने इसका वर्णन किया है—

तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।

ऋ. 7/76/3

सूर्योदय के पूर्व वह उषा के बहुत दिन प्रकाशित हुए थे। साधक की साधना-यात्रा में यह वह पड़ाव है, जहाँ कि वह अन्धकार और अज्ञान से ऊँचे उठ आत्मप्रसाद का अनुभव करता हुआ परमात्मप्रसाद की प्रतीक्षा करता है; और यह अवधि दीर्घ भी हो सकती है। किन्तु यह स्थिति है आत्मचेतना की, शोकरहितता एवं आत्मानन्द की। इसको वेद ने रमणीय कहा है। *रोचना रुरुचे रण्वसंदृक्*[17]—रमणीय दर्शनवाली, तेजस्विनी उषा प्रकाशती है। उषा को 'मघोनी', 'वाजिनवती' इत्यादि विशेषणों से सम्बद्ध किया गया है। पुनः पुनः उससे धन की याचना की गयी है।[18] उषा पोषक धनों को लाने वाली है। धन की स्वामिनी है। धन की इच्छा करने वालों को बहुत धन देती है। सूर्य की पत्नी उषा सब धनों एवं ऐश्वर्यों की अधिष्ठात्री है। यह प्रयत्नशील जनों को रत्न देती है; उषा से प्रार्थना है—'तू आज हमें धन से भरपूर कर दे। हमें सब प्रकार का सौभाग्य दे। स्तुति करने वाले को उत्तम धन एवं प्रशंसनीय यश दे।'[19] इस प्रकार वेद में उषा को अनन्त धन से युक्त बनाया गया है और बहुत-से स्थलों पर धन की प्रार्थना की गयी है।

किन्तु यह धन कैसा है? सामान्य अभिप्राय में भले ही इसे बाह्य और प्रकृतिवादी अर्थ दे दिया जाये और रयि, राधस्, वाम, वसु, रत्न, धन, कोष, वाज इत्यादि शब्दों से भौतिक समृद्धि अथवा धन दौलत का ग्रहण किया जाये, किन्तु आभ्यन्तर एवं आध्यात्मिक रूप में ये आन्तरिक ऐश्वर्य तथा समृद्धि के ही बोधक हैं। इस शब्दों का आध्यात्मिक अभिप्राय स्वीकार करने पर उषा सूक्तों का आध्यात्मिक रहस्य स्पष्ट हो उठता है और सूक्तों के अंश-अंश में आध्यात्मिक अनुभूति प्रवाहित होती हुई दीखती है। अन्यच्च, इन शब्दों से भौतिक समृद्धि को ग्रहण करने से जो अर्थ में एक बेसुरापन आ जाता है, आध्यात्मिक अर्थ के प्रकाश में वह नहीं रहता और समस्त सूक्त आध्यात्मिक रंगत में रँग जाते हैं। उदाहरणतया हम निम्न ऋक् को लेते हैं—

उदीरतां सूनृता उत्पुरंधीरुदग्नयः शुशुचानासो अस्थुः।
स्पार्हा वसूनि तमसापगूह्लाविष्कृण्वन्त्युषसो विभातीः।।

ऋ. 1/123/6

श्री सायणाचार्य इसका भाष्य करते हुए कहते हैं—

सूनृता प्रियसत्यात्मिकाः वाचः उदीरताम् उद्गच्छन्तु। हे ऋत्विजः उत्कृष्टं यथा भवति तथा स्त्रोत्रं प्रवर्तयध्वम्। तथा पुरंधी पुरंधयः। पुरं शरीरं यासु धीयते यामिर्वाताः पुरंधयः प्रज्ञाः प्रयोगविषयाः। ताः अपि उन्मिषन्तु।

प्रज्ञोपलक्षितानि कर्माणि प्रवर्तन्तामित्यर्थः । तथा अग्नयः अह्वनीयाद्याः शुशुचानासः अत्यंतं दीप्यमानाः उत् अस्तुः उत्तिष्ठन्तु प्रज्वलयन्तु इत्यर्थः । किमर्थमवमिति तदुच्यते । यतः विभातीः विविधं भासमानाः उषसः उषोदेवताः तमसा अपगूह्लानि अन्धकारेणात्यंतं गोपितानि स्पार्हा स्पृहणीयानि वसूनि वासयोग्यानि यज्ञसाधनभूतविहरादीनि आविष्कृण्वन्ति यथावस्तु प्रकटीकुर्वन्ति तस्मात् स्तोत्रदिकं कुर्वन्तिवत्यर्थः ।

उषा का अर्थ प्रातःकाल के रूप में लिया गया है, जिसके उदय से सभी जन यज्ञ तथा ईशस्तुति में प्रवृत्त होते हैं; किन्तु इस आधिदैविक अर्थ के आवरण को हटा देने पर इस सूक्त का विलक्षण आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट हो उठता है। दिव्यज्ञान के उदय से पूर्व किंचित् साधना के पगों की ओर इंगित है।

(सुनृतां उदीरता) सत्य एवं मधुर वाणी कहें, *(पुरंधी उत्)* विशाल बुद्धियाँ कार्य में लगें *(अग्नयः शुशचानासः),* दिव्य संकल्प की अग्नियाँ प्रज्वलित हो जायें, जब *(विभातीः उषसः)* प्रकाशमान उषाएँ *(तमसा अप गूल्हा)* अज्ञानरूपी अन्धकार से ढके *(स्पार्हा वसूनि)* स्पृहयन्णीय आत्मिक ऐश्वर्य को प्रकट करती हैं।

उषा के आध्यात्मिक दिव्य रूप को निम्नलिखित मंत्र अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखाता है–

व्युषा आवो दिविजा ऋतेना
विष्कृण्वाना महिमानभागात् ।
अप द्रुहस्तम आवरजुष्ट–
मङिगरस्तमा पथ्या अजीगाः ।।

सायणाचार्य इसका अर्थ करते हैं–

इयमुषाः दिविजाः दिव्यन्तरिक्षे प्रादुर्भूता वि आवः व्यौच्छत् । विभानं कृतवतीत्यर्थः । सैवोषाः ऋतेन तेजसा महिमानं स्वमहत्त्वमाविष्कृण्वाना आ अगात् आगतवती । आगत्य च द्रुहः अस्मद् द्रोग्धन् अजुष्टं सर्वेषामप्रिय तमश्च अप आवः अपवृणोति । किं च अङ्गिरस्तमा । अङ्गेर्गत्ययार्थदङ्गिः । गन्तृतमा पथ्याः पदवीः अजीगः उद्गिरति । प्राणिनां व्यवहाराय प्रकाशयतीत्यर्थः ।

प्रभात वेला का रूपक बाँधा गया है। यह उषा अन्तरिक्ष मे उदित होकर प्रकाश फैलाती है और अपने तेज में स्वमहिमा का प्रदर्शन करती है। आकाशद्रोहक जनों और अप्रिय अन्धकार को दूर करती है। जाने योग्य मार्ग को प्राणियों के व्यवहार के लिए प्रकाशित करती है।

यह तो है उषा का सामान्य भौतिक रूप। इससे बाह्यावरण थोड़ा हटायें, तो यहीं पर ही दिव्य उषा के दर्शन हो जाते हैं।

(दिविजाः) सत्त्वगुणोपेत प्रकाश से युक्त हृदयाकाश में प्रादुर्भूत *(उषा)* आत्मज्ञान की प्रभात वेला *(ऋतेन)* सत्य के पथ से *(विआवः)* प्रकाशित होती है। *(महिमानम्)* आत्मिक महत्ता को *(आविष्कृण्वाना)* दिखाती हुई *(अगात्)* आती है। यह आन्तरिक प्रकाश की प्रभा *(द्रुहः अजुष्टम् तमः)* द्रोहक एवं अप्रिय तमोगुण को *(अप आवः)* दूर कर देती है और *(अङ्गिरस्तमापथ्याः)* गति के चरम लक्ष्य को प्रकाशित करती है।

इसी सूक्त की दूसरी ऋक् है—

महे नो अद्य सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्रयन्धि।
चित्रम् रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्त्येषु मानुषि श्रवस्युम्।।

हे आध्यात्मिक ज्योति की प्रतीक उषा! तुम्हारा उदय परम आध्यात्मिक आनन्द के लिए हो। तुम परम आध्यात्मिक ऐश्वर्य, दिव्यज्ञानानुभूति एवं दिव्य यश हमें दो। हे देवि! तुम हमें मरने वालों में जो यश हैं—मृत्यु के पश्चात् प्राप्त मोक्ष का दान दो। अतः उषा सूक्तों के प्रारूप, प्रसंग, सभी पदार्थ और विशेषण आध्यात्मिक शक्तियों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत हैं।

सभी स्थानों पर दिव्यदिन के ज्योति-प्रसार अथवा आध्यात्मिक प्रकाश की प्रभा तथा निर्मलता की प्रतीक उषा से आध्यात्मिक विभूति एवं ऐश्वर्य की याचना है। उषा ज्ञान की वह शक्ति है, जिससे साधक बोधयुक्त दर्शन की अनुभूति पाता है और आध्यात्मिक शक्ति का निरन्तर संचय करता हुआ अन्त में दिव्य सूर्य के दर्शन भी पा लेता है;—जिस दर्शन के द्वार उषा ही अपावृत करती है। कहा भी है—हे उषा! आज तूने अपने प्रकाश से द्युलोक के द्वार खोल दिये हैं।[20]

इतना ही नहीं, उसके साथ ही उस परमानन्द स्थिति, जिसकी ओर उषा ले जाती है, का रूपक भी तो बाँधा गया है—हे उषा! चेतनता के स्थान में कल्याणकारी मार्गो से इधर आओ। तपस्या की रक्तिम अश्वरूप गति तुम्हें आनन्दरूप परमात्मा के घर तक पहुँचा दें।[21] 'सोमिनो गृहम्' के रूप में परमपद का वर्णन है। साधक की साधना में दिव्य ज्ञान को प्रथम आलोक से लेकर अन्तिम परमात्मानुभूति तक की साधना की अभिव्यंजना है।

उषा के वर्णन में गौवों और अश्वों का बहुत ही वर्णन है। उषा को गौओं की माता *(गवां जनित्री)*, गौओं का नेतृत्व करने वाली *(नेत्री गवां)*, गौओं से युक्त *(गोमती)*, अश्वों से युक्त *(अश्वया, अश्वावती)* इत्यादि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। अब इन धेनुओं और अश्वों का आध्यात्मिक अर्थ क्या है? उषा सूक्तों का अध्ययन करने पर यह प्रतीत हो जाता है कि उषा की गौएँ 'प्रकाश' की प्रतीक हैं। निरुक्तकार भी गौओं से रश्मियों को ग्रहण करता है।[22] अतः उषा को गोमती कहने का अभिप्राय यही है कि वह ज्योतिर्मय या किरणों से युक्त है, और यह ज्योति है अन्तः चेतना की। इसी प्रकार अश्व से हम दिव्य प्रभातोदय की त्वरित गति के व्यापक रूप को ग्रहण करेंगे।[23] उदाहरणतः—

सं ते गावस्तम आवर्तयन्ति ज्योतिर्यच्छन्ति।

ऋ. 7.79.2.

तेरी गौएँ (किरणें) अन्धकार को हटा देती हैं और ज्योति को फैलाती हैं।

तथापि, उषा का गौओं के दान और अन्धकार के विनाश का भी विशद दर्शन मिलता है। जैसे—

सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजत्रा यजत्रैः।
रुजद् दृढानिः दंदुस्त्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त।।

ऋ.7/75/7

वह सच्चे देवों के साथ सच्ची है, महान देवों के साथ महान है, वह दृढ़-स्थान अज्ञान को तोड़ती है, गौओं को देती है, गौएँ उषा के प्रति रँभाती हैं। यहाँ पर गौओं से अर्थ किरणें ही लेना होगा, जो दिव्यगुण के प्रकाश की रेखाओं की प्रतीक हैं। दृढ़ अज्ञानान्धकार को दूर कर उषा ज्ञान की किरणों को प्रदान करती है।

नू नो गोमद् वीरवद् देहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुषमोजो अस्मे [24] में साधक के लिए चरमानन्द की उस स्थिति की कल्पना की गयी है, जिसमें वह प्रकाशक *(गोमद्)*, व्यापक *(अश्वावत्)*, सशक्त (वीरवद्) और भरपूर *(पुरुभोजः* [25]*)* आन्तरिक रमणीयता अथवा समृद्धि *(रत्न)* से युक्त हो जाता है।

युङ्क्ष्वे गवामकणामनीकम् [26]—वह रक्तवर्ण गउओं को अपने रथ में जोतती है। उस स्थूल अलंकार के पीछे दूसरा अर्थ भी प्रत्यक्ष निर्दिष्ट है। ज्ञान की अरुणिम (प्रथम किरणों) किरणों को रथ में जोतती है।

उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि। रे वद स्म व्युच्छ सुनृतावति। [27]

उषा—दिव्य ज्ञान की प्रथम चेतना—विवेकरश्मियों, व्यापक शक्तियों, प्रकाशक रूप और सत्यता से युक्त है। *गोमतीरश्वावतीर्विश्वसुविदः* [28] उषाएँ—ज्योतियों (गौओं), त्वरित गतियों एवं सब प्रकार के विवेक से युक्त हैं।

योगी अरविन्द कहते हैं—"प्रकाश की देवी उषा आन्तरिक ज्ञान का ही अलंकारिक रूप है। उषा ज्योतियों की माता है और मन में दिव्यज्ञान के झण्डे को फहरा देती है। *गवां जनित्री अकृत प्रकेतुम्*। प्रकेतु प्रतीक है ज्ञान की उस शक्ति का, बोधयुक्त दर्शन का। उषा है 'प्रचेतीः' इस बोधयुक्त ज्ञान से पूर्ण।[29] आध्यात्मिक विकास की इसी अवस्था की ओर उपनिषद् ने भी इंगित किया है।[30]

वेद के मंत्रों में उषा का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है—इसका सत्य एवं ऋत् के साथ सम्बन्ध। सत्य का मार्ग सही ढंग से जानती हुई उषा जाती है।[31] विवेक से युक्त उषा सत्य मार्ग से चलती है तथा प्रदेशों को सीमित नहीं करती। अरविन्द यहाँ पर कहते हैं—"उषा सत्य के पथ की दृढ़ अनुगामिनी है और इस बात का उसे बोध रहता है, इसलिए वह असीमता को, विराट को, जिसकी वह ज्योति है, सीमित नहीं करती।"

आन्तरिक दिव्य ज्ञान की प्रकाशमयी उषा का उदय सत्य का दर्शन है। वेद के मंत्रों में तदनुकूल ज्योतिर्मयी उषा का सत्य अथवा ऋत् के साथ सम्बन्ध स्थान-स्थान पर मिलता है। यथा—

द्युतयामानं बृहतीमृतेन ऋतावरी मरुणप्सुं विभातीम्।
देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रति विप्रासो मतिमिर्जरन्ते।।

वह प्रकाशमय गतिवाली, ऋत् से महान है, ऋत् से युक्त है। अपने साथ स्वः अर्थात् प्रकाश को लाती है। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 51वें सूक्त में कहा है कि उषा सत्य से युक्त अश्वों द्वारा लोकों को चारों ओर से घेर लेती है—जगमगाती दिव्यज्ञान की उषा अपनी सत्यानुभूति से युक्त व्यापक शक्तियों से सम्पूर्ण भुवन—हृदय रूपी नगरी को आच्छादित कर देती है।[32] इतना ही नहीं, उषाएँ शिव, सत्य और सुन्दर का सन्देश लेकर आती हैं; किंच, वह शिवमय, ऋत् से उत्पन्न और सत्यरूपा जो हैं।[33] उषा सत्य एवं सुखमय शब्दों का उच्चारण करती हुई प्रादुर्भूत होती है—*सुनृता ईरयन्ती*। ऋत् के स्थान से इस अन्तःज्ञान प्रभात का उदय होता है—*ऋतस्य देवीः*

सदसो बुधाना[34]। इस सम्पूर्ण ऋक् का पूर्ण विश्लेषण करने से साधक के रूप साधना के साथ ही भावना से विचरण की बात भी स्पष्ट हो जाती है।

ता आ चरन्ति समना पुरस्तात्समानतः समना पप्रथानाः।
ऋतस्य देवीः सदसो बुधाना गवां न सर्गा उषसो जरन्ते।।

सत्यानुभूति से उत्पन्न इस दिव्य अन्तःज्योति का उदय, जब साधक के हृदय में हो जाता है, तो इसके लिए कुछ विशेष अथवा अविशेष नहीं रहता। *गीता* में इसी को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। उषा के प्रकाश को पाकर साधक की पूर्ण प्रकृति पवित्र हो जाती है, अनेक दिव्यगुणों का (देवताओं) मनुष्य की प्रकृति में प्रादुर्भाव होता है—ऋत् अथवा सत्य की देवी उषा के उदय से साधक असत्य एवं अनित्य से ऊँचे उठ जाता है। नित्यानित्य का उसे विवेक हो जाता है। उस सत्यरूप दृष्टि को ही योगसूत्रों में ऋतम्भरा प्रज्ञा का नाम दिया गया है।[35] समाहित चित्त में जिस प्रज्ञा का उदय होता है, उसे ही ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। अत्यन्त सत्य अर्थ को बताने वाली सत्य का ही प्रकाश करती है, उसके विपर्यास का उसमें गन्ध भी नही होता। कहा भी है—*आगमनेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्।* सत्य के पथ पर आत्मा के प्रयाण के लिए श्रुति, अनुमान ध्यान एवं अभ्यास तो पाथेय ही हैं। साधना के इस दीर्घ राजपथ को पार कर ही उस सत्यमयी प्रज्ञा का उदय होता है। अतः यह आन्तरिक ज्ञान का प्रभात सत्य की अनुभूति के साथ आता है। यही उषा का सत्यस्वरूप है।

श्रीअरविन्द, जिनके अनुसार वेद वह पवित्र वचन थे, जो आध्यात्मिक अनुभूति और ज्ञान के प्रभावोत्पादक प्रतीक चिह्न थे और आत्मसाधना के आन्तरिक नियम थे, उषा देवता को चित्तप्रभातोदयज्योति अर्थात् चित्त में ज्ञान के प्रकाश की प्रभातवेला (डिवाइन डान ऑफ़ इल्यूमिनेशन) मानते हैं। वह कहते हैं—"सब जगह उषा सत्य को लाने वाली के रूप में आती है, स्वयं वह सत्य की ज्योति से जगमगाने वाली है। वह दिव्य उषा है और यह भौतिक उषा (प्रभात होना) उसकी केवल छाया है और प्राकृतिक जगत् में उसका प्रतीक है।[36] वह पुनः कहते हैं—"हम अधिक देर तक 'गोमद् अश्वावद् वीरवद् राधः' को भौतिक अर्थों में नहीं ले सकते, वेद की भाषा ही हमें इसके बिल्कुल भिन्न तथ्य का निर्देश कर रही है। इस कारण देवों द्वारा दी गयी इस सम्पत्ति के अन्य अंगों को भी हमें उसी की तरह अवश्यमेव आध्यात्मिक अर्थों में ही लेना चाहिए; संतान, सुवर्ण, रथ —ये प्रतीक रूप ही हैं; 'श्रव' कीर्ति या भोजन नहीं है, बल्कि इनमें.आध्यात्मिक अर्थ अन्तर्निहित है और इसका अभिप्राय है, वह उच्चतर दिव्य ज्ञान, जो इन्द्रियों या बुद्धि का विषय नहीं है; बल्कि जो सत्य की दिव्य श्रुति है और सत्य के दिव्यदर्शन से प्राप्त होता है; 'राधः दीर्घश्रुतमम्'[37] 'रयिं श्रवस्युम्' सत्ता की वह सम्पन्न अवस्था है, वह आध्यात्मिक समृद्धि से युक्त वैभव है, जो दिव्यज्ञान की ओर प्रवृत्त होती है *(श्रवस्यु)* और जिसमें उस दिव्य शब्द के कम्पनों को सुनने के लिए सुदीर्घ, दूर तक फैली श्रवणशक्ति है, जो दिव्य शब्द हमारे पास असीम के प्रदेशों *(विशः)* से आता है। इस प्रकार यह उषा का·उज्ज्वल अलंकार हमें वेद सम्बन्धी उन सब मौलिक, कर्मकाण्ड़िक अज्ञानमूलक भ्रान्तियों से मुक्त कर देता है, जिनमें कि यदि हम फँसे रहते, तो वे हमें असंगति और अस्पष्टता की रात्रि में ठोकरों पर ठोकरें खिलाती हुई एक दूसरे अन्धकूप में ही गिराती रहतीं; यह हमारे

लिए बन्द द्वारों को खोल देती है और वैदिक ज्ञान के हृदय के अन्दर हमारा प्रवेश करा देती है।'' उषा के इस रूप को जान लेने पर समस्त उषा सूक्त अध्यात्मज्ञान का एक अपूर्व भण्डार-सा लगता है। उषा का कितना सुन्दर वर्णन है–

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः।।

ऋ. 1/113/6

हे मानवो! उठो, हमारा यह प्राणरूप प्रकाश आ गया है। अन्धकार दूर हुआ, ज्योति आ रही है। सूर्य (दिव्य ज्ञान के सूर्य) के गमन के लिए मार्ग खुल रहा है, जहाँ आयुः बढ़ती है, वहाँ हम पहुँच जायें। *आगन्म यत्र प्रतिरन्त आयूः* का अर्थ मुक्तावस्था की माँग ही है, जब कि आत्मा मरण धर्म से युक्त शरीर से मुक्त हो समय और स्थान के बन्धन से भी छूट जाता है। पर जब कि दिव्यज्ञान का सूर्य जगमगाने लगता हो; उषा तो उसका प्रभात ही है, जो उस चरम ज्ञान रूप सूर्य के लिए मार्ग प्रशस्त कर देती है।

इस आध्यात्मिक ज्योति का आगमन, जिन अन्य आत्मिक शक्तियों का विकास करता है, उनका निम्न मन्त्र में विशद वर्णन है।

उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य।
यन्मानुषान् यक्ष्यमाणां अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः।।

ऋ. 1/113/

हे दिव्यज्ञान के प्रभात *(उषः)*! दिव्य संकल्प को प्रज्वलित करने के लिए जो किया और *(सूर्यस्य चक्षमा यत् वियावेः)* दिव्य ज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश से जो तूने किया, और *(यक्ष्यमानान् मनुष्यान् अजीगः)* यज्ञमय जीवनयापन करने वालों (दिव्य पूर्णता के साधन के रूप में आभ्यन्तर यज्ञ करने की प्रेरणा की) में, आत्मिक चेतना दी, और वह जो *(यत् अप्नःभद्रं)* कल्याणकारी कर्म है, वह *(देवेषु चकृषे)* दिव्यगुणों के विकास के लिए है अथवा देव-परमात्मा से सम्बन्धित है। सत्यानुभूति से युक्त उषा दिव्य तत्त्व के सत्य को मानव के संकल्प में अनुप्राणित कर देती है; तभी मनुष्य उस क्रियारूप ऋतुम् अथवा दिव्य सत्ता के सत्य को पा लेता है, जिससे मन और शरीर दोनों सही क्रिया में परिचालित होते हैं। अतः उषा के उदय के साथ अग्नि अथवा दिव्य संकल्प की लौ जल उठती है और यह दिव्य संकल्प दिव्य बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है और सत्यचेतना क्रियाशील हो उठती है। यही है उषा का अग्नि के साथ सम्बन्ध।

व्यञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः।
प्रबोधन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन।।

ऋ. 1/113/14

उषा *(दिवः आतासु)* चेतनता की सभी दिशाओं में *(अंजिभिवि अद्यौत्)* ज्ञान की ज्योति की रश्मियों से प्रकाशित है। *(देवी कृष्णां निर्णिजं अप आवः)* यह दिव्य उषा अज्ञान एवं तमोगुण रूप अन्धकार को दूर करती

है। (अरुणेभिः अश्वैः सयुजा रथेन आ याति) प्रकाशमय, व्यापक शक्तियों की गति से यह आती है और *(एषा प्रबोधयन्ती)* जगा देती है—अन्तःज्ञान की प्राप्ति के लिए।

आध्यात्मिक ज्योति के प्रतीक के रूप में उषा का उज्ज्वल रूप निम्न मंत्र में अत्यन्त ही सार्थक है।

माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती विभाहि।
प्रशस्तिकृद्ब्रह्मणे नो व्युच्छा नो जने जनय विश्ववारे।।

देवों की माता एवं अदिति स्वरूपा उषा! यज्ञ का सन्देश लिये प्रकाशित होवो। हमारे लिए ब्रह्मज्ञान अथवा पूर्ण दिव्यज्ञान को प्रशस्त कर दो। अपने लोकों में हमें सम्मान के स्थान पर पहुँचा दो। उषा—देवों की माता, वह पराज्योति है, जिससे अन्य सब ज्योतियाँ निकलती हैं, अन्य दिव्य गुणों का उदय होता है। यह अदिति है, असीम चेतना, सभी चेतनाओं का आदिस्रोत। और उस दिव्य चेतना को पा लेने वाले मनुष्य के लिए एक ओर सन्देश भी तो उषा लेकर आती है—वह सन्देश है यज्ञ का। दिव्य पूर्णता की प्राप्ति के लिए सर्वस्व उत्सर्ग कर देना होगा, अतः आभ्यन्तर यज्ञ द्वारा सब कुछ हवि के रूप में दे देना होगा, ममत्व की भावना का भी विनाश कर देना होगा—कहना होगा—'इदन्न मम'। आद्या ज्योति उषा दिव्य ज्ञान के सूर्य, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग भी तो प्रशस्त कर देती है और सम्मानपूर्ण लोक, परमपद की ओर ले जाती है।

पुनः इस आध्यात्मिक चेतना के प्रभात की सूर्य और चन्द्र से तुलना की गयी है। सूर्य के समान तेज से युक्त जो अज्ञान रूपी रात्रि के अन्धकार को दूर करती है, ऐसा लगता है।[38] अमर उषा की भानुसदृश रश्मियाँ चारों ओर फैल रही हैं। दिव्य व्रतों (दिव्य संकल्पों) का निर्माण करती हुई अन्तरिक्ष को पूर्णतः भर देती है।[39] विशेष ज्योति से पूर्ण उषे! तुम चन्द्र सदृश प्रकाश से प्रकाशित हो जाओ। सत्य के पथ पर आत्मा के प्रयाण रूप यज्ञ में अन्धकार को दूर करती हुई हमारे लिए विपुल सौभाग्य ले आओ।[40] उषा के इस सम्पूर्ण रूप को योगसूत्रों पर व्यास एवं वाचस्पति मिश्र का भाष्य स्पष्ट कर देता है। श्री व्यासाचार्य कहते हैं कि 'हृदय पुण्डरीक में योगी की बुद्धि संचित् रहती है, वह बुद्धिसत्त्व ही प्रकाश से युक्त आकाश है (उषा सूक्तों में वर्णित द्यु, अन्तरिक्ष इत्यादि)। सूर्य चन्द्रमा, ग्रह, मणि की प्रभा के आकार के सदृश स्थिति का जब प्रादुर्भाव होता है, रजस्तम गुणों से समापन्न चित्त उन विकारों से वियुक्त हो, तरंग रहित महान समुद्र समान शान्त एवं व्यापक (विषयगत सीमाओं से परे) हो जाता है, जहाँ पर यह कहा है—'उस अणु आत्मा को मैं जानता हूँ, ऐसा तब उसे प्रतीत होता है।' यह शोक से रहित, रज एवं तमोगुण के विनाश से निर्मल सत्त्वमयी प्रवृत्ति ज्योतिरूपा है, जिससे कि योगी चित्त स्थितिपद को प्राप्त कर लेता है।[41] तो इस उषा की द्वयी प्रवृत्ति है—अज्ञानान्धकार को दूर करना और ज्ञान रूप प्रकाश का दान करना। दिव्य चेतना के उदय का उषा सूक्तों में सर्वत्र यह वर्णन देखने को मिलता है। वेद के आभ्यन्तर एवं बाह्य यज्ञ के अर्थ के आवरण को हटाकर देखने से हमें आत्मा के संग्राम और विजय और अनुभूति के महत्तम स्तरों का दर्शन होता है। और उषा के प्रतीक के मित व्यक्त हो उठा है—आध्यात्मिक दिव्य दिन का प्रभात। इस दृष्टिकोण से.पढ़ने से सभी उषा सूक्त उस महान साधना तथा उपलब्धि के रहस्य के भण्डार दीखते हैं और उषा के भौतिक रूप के उज्ज्वल सजीव वर्णन में महान आन्तरिक सत्य का ज्ञान होता है।

आन्तरिक ज्ञान के प्रभात के प्रतीक उषा के विभिन्न पदों पर विचार करके एक दो सम्पूर्ण सूक्तों में उषा के इस स्वरूप के दर्शन करते हैं।

ऋग्वेद के 7वें मण्डल का 78वाँ सूक्त अत्यन्त ही सुन्दर है—

प्रति केवतः प्रथमा अदृस्तन्नूर्ध्वा अस्या अञ्जयो वियन्ते।
उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि।।1।।

दिव्य चेतना के प्रभात की प्रथम रश्मियाँ दीख रही हैं। इसकी गतिशील किरणें ऊर्ध्व भाग में आश्रय ग्रहण कर रही हैं; (मूलाधार में कुण्डलिनीशक्ति जागृत हो, सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से होकर क्रमोत्तर ऊर्ध्वभागों—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र को भेदकर सहस्रदल कमल और परमशिव या परमात्मा के साथ मिलती है; जीव को चैतन्य लाभ होता है)। उषा देवि! आत्मज्ञान की प्रभात! महान व्यापक एवं ऊर्ध्वमुख *(अर्वाचा)* प्रकाश से हमें आध्यात्मिक ऐश्वर्य की प्राप्ति करा दो।

प्रतिषीमग्निर्जरते समिद्धः प्रति विप्रासो मतिभिर्गृणन्तः।
उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी।।2।।

ज्योतित हुआ दिव्य संकल्प दिव्य लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। ज्ञानी दिव्य मति से अपने कार्य की ओर बढ़ रहे हैं।[42] दिव्य चेतना की उषा अपने प्रकाश से सभी अन्धकारों एवं पापों को दूर करती हुई प्रकट होती है।

एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम्।।3।।

यह वह उषाएँ प्रकाशती हुईं और ज्योति को देती हुई दीख रही हैं। दिव्य चेतना के सूर्य, दिव्य संकल्प एवं यज्ञ को उसने प्रकट किया तथा अप्रिय अन्धकार को दूर किया।

अचेति दिवो दुहिता मघोनी विश्वे पश्यन्त्युषसं विभातीम्।
अस्थाद् रथं स्वधया युज्यमानमा यमश्वासः सुयुजो वहन्ति।।4।।

प्रकाश की पुत्री, आन्तरिक ऐश्वर्य से युक्त उषा का प्रादुर्भाव हुआ। (किसी साधक में) दिव्य चेतना के उदय को सभी देखते हैं। पोषक एवं शक्तिशाली तत्त्वों के साथ यह उषा आती है, जिसको संयोजित व्यापक शक्ति इष्ट स्थान तक पहुँचाती है। (यह इष्ट पद है निर्विकल्प समाधि)।

प्रति त्वाद्य सुमनसो बुधन्ताऽस्माकासो मघावानो वयं च।
तिल्विलायध्वमुषसो विभातीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।5।।

आत्मिक ऐश्वर्य एवं शोभन मननशक्ति से युक्त पुरुष उस दिव्य चेतना के उदय का वर्णन करते हैं। हे उषाओ! तुम प्रकाशित होकर दिव्य प्रेम की धारा बहा दो एवं मंगल शक्ति से हमारी रक्षा करो।

ऋग्वेद के 7वें मण्डल के 76वें सूक्त में भी आध्यात्मिक उषा का विशद वर्णन मिलता है।

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरर्भुवनं विश्वमुषाः।।1।।

इस दिव्य चेतना की उषा दिव्य चेतना रूपी सूर्य के साथ इतनी अधिक सम्बद्ध है कि इन दोनों स्थितियों का वर्णन करते हुए कहा है—अमर एवं विश्वजन्य तेज को सर्वप्रेरक दिव्यज्ञान भानु आश्रय देता है। देवों की आँख सूर्य शुभ कर्म के साथ उदय हुआ है—इससे सभी देवताओं के अन्दर उस सार रूप परम देव के दर्शन होते हैं। उषा ने सब भुवनों को प्रकाशित किया है।

निम्न मंत्र में निस्संदेह उस दिव्य पथ का निर्देश है, जिससे साधक जन पार जाते हैं।

प्रमे पन्था देवयाना अश्रन्नमर्धन्तो व सुभिरिष्कृतासः।
अभुदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः।।2।।

आध्यात्मिक ऐश्वर्य से युक्त आत्मचेतना से सम्पन्न (आत्म हनन जहाँ नहीं) देव मार्ग दिखायी देते हैं। सर्वप्रथम दिव्य ज्ञान की उषा का ध्वज लहराता है, उषा सम्पूर्ण सत्ता के विभिन्न प्रासादों को व्याप्त कर देती है।

चरम ज्ञान की पूर्ण प्राप्ति से पूर्व ही साधक को उसका आभास होने लगता है। आत्मचेतना के उदय के पश्चात् भी कई दिन निकल जाते हैं, तब उसे पूर्ण आत्मबोध होता है। वेद ने इसे कितने प्रसादात्मक शब्दों में रखा है—

तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।
यतः परिजार इवाचरन्त्युषो दृक्षे न पुनर्यतीव।।3।।

इस अध्यात्मचेतना का स्तुति-वर्णन अत्यंत ही सौष्ठवपूर्ण है—

त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूलहं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्।।4।।

जो सत्य के पालनकर्ता प्रचुर ज्ञान से युक्त मंत्रों के सत्य को जानने वाले, पालक शक्ति एवं दिव्यगुणों से संयुक्त ऋषि गुप्त सूर्य की ज्योति को, अन्तः चेतनता के भानु को प्राप्त करते हैं, वही उषा को प्रकट करते हैं। उस अमर चेतना के दर्शन कर लेने वाले साध्यजनों का वर्णन है—

समान ऊर्वे अधि संगतासः संजानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः।।5।।

परमतत्त्व के साथ संगति प्राप्त कर, सम्यक् ज्ञान से युक्त अनित्य *(मिथः)* के लिए यत्न नहीं करते। देवों के शासन का, आत्मादेश का अथवा दिव्य मार्गो का उल्लंघन नहीं करते। आत्महिंसा न करते हुए *(अमर्धन्तः)* आत्मिक ऐश्वर्य या समृद्धि को प्राप्त करते हैं।

दिव्य उषा, सत्य एवं चरमानन्द की ज्योति है; वह है अमरता की ध्वजा—*अमृतस्य केतुः*। उषा का यह स्वरूप वेद के सभी उषा सूक्तों में भासित हो रहा है।

उषा के इस रूप के दर्शन विश्वसाहित्य में मिलते हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ गीतांजलि में गा उठे—

विमल आनन्दे जागो रे।
मगन हओ सुधासागरे।।
हृदय-उदया चले देखो रे चाहि
प्रथम परम ज्योति राग रे।।

उषा द्वारा द्वारों को अपावृत करने के कार्य का वेद मे अनेक स्थलों पर वर्णन है। बाड़े के अन्धकार में बन्द द्वार खोलो और शुद्ध प्रकाश फैलाओ।[43] उषा ने सुदृढ़ किले का द्वार खोल दिया है और गौओं (ज्ञान रूपी प्रकाश की रश्मियों को) बाहर निकाला है। यह द्वार सुप्त आत्मचेतना के आवरण रजोगुण, तमोगुण इत्यादि के ही प्रतीक हैं। उन द्वारों को खोलकर, उषा आत्मचेतना के दर्शन करा देती है। कवि रवीन्द्रनाथ की कविता में भी बिल्कुल यही भाव व्यक्त है–

स्वल्प यदि माडिले रजनी प्रभाते

पूर्ण करो हिया मङ्गल किरणे।

राखो मोरे तब काजे,
नवीन करो ए जीवन हे।
खुलि मोर गृहद्वार डाको तोमारि भवने हे।।

आध्यात्मिक दिव्य चेतना की उषा को पुकार कवि रवीन्द्र कह उठे हैं–

भेङ्गेछ दुआर, एसेछ ज्योतिर्मय, तोमारि हउक जय।
तिमिर विदार उदार अभ्युदय, तोमारि हउक जय।।
हे विजयी वीर, नव जीवनेर प्राते
नवीन आशार खड्ग तोमार होते–
जीर्ण आवेश काटो सुकहोर घाते, बन्धन होक क्षय।।
एसो दुःसह, एसो एसो निर्दय, तोमारि हउक जय।।
प्रभात सूर्य, एसेछ रुद्रसाजे,
दुःखेर पथे तोमार तूर्य बाजे–
अरुणवह्नि ज्वालाओ चित्तमाझे, मृत्युर होक लय।।

अरुणिम प्रकाशयुक्त पद आध्यात्मिक उषा ही है, जिसका प्रकाश चित्त में होता है और जिसके उदय से मृत्यु का लय हो जाता है।

वेद के सम्पूर्ण उषा सूक्तों में यह दार्शनिक रहस्य-भावना सर्वत्र लक्षित है एवं इसके लिए आधार है वेदों में सर्वत्र दर्शनीय 'एक सत्' का विचार एवं उस असीम सत्ता में पूर्ण दृढ़ विश्वास। एडाल्फ ने रहस्यवाद में आस्तिकता को उसकी आधारशिला माना है। दिव्य उषा की गति का लक्ष्य भी तो उस इष्टदेव की प्राप्ति ही है। श्रीअरविन्द के शब्दों में 'दिव्य उषा परमदेव का आगमन है। वह है सत्य एवं परमसुख की ज्योति, जो

हम पर ज्ञान और आनन्द के अधिपति की ओर से बरस रही है।[44] उषा के अरुणिम अश्व उसे आनन्द रूप सोम अधीश्वर के पास पहुँचा दें।

वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम्।।

ऋ. 1/46/1

सन्दर्भ :

1. योगसूत्र, अध्याय 1/36
2. विश्वमस्या नानाम चक्षसे जगज्ज्योतिष्कृणोति सूनरी।
   अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिव उषा उच्छदप स्रिधः।। ऋ. 48/8
3. वीतरागविषयं वा चित्तम्, योगसूत्र, अध्याय 1/ सू. 37
4. उष आभाहिभानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।
   आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु ॥ ऋ. 1/48/9
5. प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः । दिवो अदर्शि दुहिता ॥ 1 ॥
   अश्वेवे चित्रारुषी माता गवामृतावरी। सखाभूदश्विनोरुषाः ॥
   उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि। उतोषो वस्व ईशिषे ॥ 3 ॥
   यावयद्द्वेषसं त्वा चिकित्वित्सूनृतावरि। प्रति स्तोमैरभुत्स्महि ॥ 4 ॥
   प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः। ओषा अप्रा उरुजयः ॥ 5 ॥
   आपप्रुषी विभावरि व्यावर्ज्योतिषा तमः ॥ उषो अनु स्वधामव ॥ 6 ॥
   आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम्। उषः शुक्रेण शोचिषा ॥ 7 ॥ ऋ. 4/52
6. सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
   गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपच्चर्थतो वृत्तिः ॥ सांख्यकारिका-13
7. शुक्राकृष्णाद्रजनिष्ठ श्वितीची। ऋ. 1/123/9
   कृष्णादुदस्थादर्याइ विहायाश्चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय। ऋ. 1/123/1
8. व्यूर्ण्वती दिवो अंतो अबोधि। ऋ. 1/92/1
9. प्रत्यर्ची रुशदस्या अदर्शि वि तिष्ठते बाधते कृष्णमभ्वम्।
   स्वरुं न पेशो विदधेष्वञ्जाञ्चित्रं दिवो दुहिता भानुमश्रेत् ॥ ऋ. 1/92/5
10. ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः। ऋ. 1/92/4
11. आरैक्पन्थां यातवे सूर्याय। ऋ. 1/113/16
12. देवस्य पश्य काव्य न ममार न जीर्यति।
13. कस्त उषः कधप्रिये भुजे मर्तो अमर्त्ये। कं नक्षसे चित्रे विभावरि ॥ ऋ. 1/30/20
14. वयं हि ते अमन्मह्याऽऽन्ता दा पराकात्। अश्वे न चित्रे अरुषि ॥ ऋ. 1/30/2
15. ऊर्ध्व मधुधादिवि पाजोऽश्रेत।
16. योगसूत्र, अध्याय 1/17
17. ऋ. 3/61/5

18. अस्मै रयिं नि धारय। ऋ. 1/30/22
सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितार्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती॥ ऋ. 1/48/1
आवहन्ती पोष्या वार्याणि। ऋ. 1/113/15
वि या सृजति समनं व्यर्थिनः पदं न वेत्योदती।
वयो न किष्टे प्राप्तिवांस आसते व्युष्टौ ताजिनीवति॥ ऋ. 1/45/6
वाजिनीवती सूयस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम्।
ऋषिष्टुता जरयंती मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना॥ ऋ. 7/75/5
19. सा नो अद्यामरद्वसुः। ऋ. 5/79/3
उषा दिवो दुहितः प्रत्नवन्नो भरद्वाजवद्विधते मघोनि।
सुवीरं रयिं गृणते रिरीह्युरुगायमधि धेहर श्रवो नः॥ ऋ. 6/65/6
20. उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः।
प्र नौ यच्छतादवृकं पृथुच्छदिः प्रदेवि गोमतीरिषः॥ ऋ. 1/48/15
21. उषो भद्रेभिरागहि दिवश्चिद्रोचनादधि।
वदन्तु व रुणप्सवं उप तवा सौमिनोगृहम॥ ऋ. 1/46/1
22. सर्वेऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते॥ नि. 26
23. अश्वः कस्मात्, अश्नुतेऽध्वानम्। नि. 1/17, 'व्यापक शक्ति से युक्त'।
24. ऋ. 7/75/8
25. यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्॥ छा. 7.23.1
26. ऋ. 1, 114-11
27. ऋ. 1. 62/14
28. ऋ. 1.48.2
29. ऑन दि वेदाज, पृष्ठ 154
30. प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वंहिविन्दते। केनोपनिषद्।
31. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति। ऋ. 1/124/3
32. यूय हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रायाथ भुवनानि सद्यः। ऋ. 4/51/5
33. ता घा ता भद्रा उपसः पुरासुरभिष्टिद्युम्ना ऋतजातसत्या। ऋ. 4/51/7
34. ऋ. 4/51 8
35. 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।' योग सूत्र, अध्याय 1/48
36. अरविन्द, ऑन दि वेदाज़, पृ. 150
37. ऋ. 7/81/5
38. या भानुना रुशता राम्यास्वज्ञायि तिरस्तमसश्चिदक्तून॥ ऋ. 6/65/1
39. एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतासः आगुः।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अंतरिक्षा व्यस्थुः॥ ऋ. 7/75/3
40. उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु॥ ऋ. 1/48/9

41. हृदय पुण्डरीके धारयतो वा बुद्धिसंवित, - बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थिति वैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते, तथा स्मितायां च चित्तं निस्तरङगमहोदधि कल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति, यत्रेदमुक्तं 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते' इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीति उच्यते, यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।। योगसूत्र ऋ. 1 36।। श्री वाचस्पति मिश्र इस प्रकार व्याख्या करते हैं–

विगतशोका दुःखरहिता। ज्योतिष्मती ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती प्रकाशरूपा। हृदय-पुण्डरीक इति। उदरोरसोर्मध्ये यत् पद्यमधोमुखं तिष्ठति अष्टदलं, रेचक प्राणायामेन तदूर्द्धमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्। तन्महयं सूर्यमण्डलमकारो जागरितस्थानं, तस्योपरि चन्द्रमण्डलमुकारः स्वप्नस्थानं, तस्योपरि वह्निमंडल मकारः सुषुप्तिस्थानं, तस्योपरि परं व्योमात्मकं ब्रह्मनादं तुरीयस्थानं उदाहरन्ति ब्रह्मवादिनः, तत्र कर्णिकायामूर्द्धमुखी सूर्य्यादिमण्डलमध्यगा ब्रह्मनाड़ी, ततोप्यूर्द्ध-प्रवृत्ता सुषुम्ना नाम नाड़ी, तया खलु वाह्यान्यपि सूर्यादीनि मण्डलानि प्रोतानि, सा हि चित्तस्थानं तस्यां धारयती योगिनश्चित् संविदुपपायते। उपपत्तिपूर्वकं बुद्धिसंविद आकारमादर्शयति बुद्धिसत्त्वं हि इति। आकाशकल्पमिति व्यापितामह। सूर्यादीनां प्रभास्तासां रूपं तदाकारेण विकल्पते नानारूपा भवति। मनश्चात्र बुद्धिरभिमतं, न तु महत्तत्वं, तस्य च सुषुम्नास्थस्य वैकारिकाहंकारजन्मनः सत्ववहुलतया ज्योतिष्मता विवक्षिता, तत्तद्विषयगोचरतया च व्यापित्वमपि सिद्धम। अस्मिताकार्य्ये मनसि संपत्ति दर्शयित्वा स्मितासमापत्ते स्वरूपमाह, तथा स्मितायामिति। शांत अपगतरजस्तरङ्गम् अनंत व्यापि, अस्मितामात्रं न मुनर्नानाप्रभारूपम्। आगमान्तरेण स्वमतं समीकरोति, यत्र इति। यत्रेदमुक्तं पंचशिखेन, तमणु दुरधिगमत्वात्, आत्मानम् अहङ्कारास्पदम्, अनुविद्य अनुचिन्त्य, अस्मीत्येवं तावज्जानीत इति। स्यादेतत्, नानाप्रभारूपा भवतु ज्योष्मती, कथमस्मितामात्ररूपा ज्योतिष्मती ? इत्यत आह, एषा द्वयी इति विधूत रजस्तमोमला स्मितेव सत्वमयी ज्योतिरिति भावः। द्विविधाया अभिज्योतिष्मत्याः फलमाह यया इति।। योगसूत्र अध्याय 1/36

42. ज्ञानी दिव्य मति से अपने कार्य की ओर बढ़ रहे हैं; इससे अभिप्राय उन जगद्गुरु आचार्यकोटि मनुष्यों से है, जो मुक्त होकर भी जगत् के कल्याण के लिए किसी विशेष ईश्वरीय उद्देश्यों की सिद्धि करने के लिए देह धारण करते हैं, वे ब्रह्मानन्द को भी तुच्छ गिनकर, जाग्रत कुण्डलिनी शक्ति को उसी मार्ग से सहस्रार (मस्तक) से अनाहत चक्र, हृदय में वापस नीचे लाकर, 'भावमुखी' होकर रहते हैं, अर्थात् द्वन्द्वातीत पारमार्थिक (एबसोल्यूट) और व्यावहारिक (रिलेटिव) ज्ञान में ही, चढ़ना-उतरना किया करते हैं और सहस्रावधि जीवों का अविद्या के मोह से उद्धार किया करते हैं।

43. व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः। ऋ. 4/51/2

44. ऑन दि वेदाज, पृष्ठ 339

मन्त्रभाग के सृष्टि विषयक चिन्तन में ब्राह्मण ग्रन्थों की उपादेयता

ब्रजविहारी चौबे

वैदिक मंत्रों में ऋषियों के सृष्टिविषयक अनेक चिन्तन दिखायी पड़ते हैं। यों तो प्रत्येक मंत्र में सृष्टि विज्ञान-सम्बन्धी किसी-न-किसी तत्त्व की अभिव्यक्ति हुई है; क्योंकि मंत्रसाहित्य का मूल प्रतिपाद्य देवतत्त्व मीमांसा ही है। देवविद्या ही वस्तुतः वेदविद्या है और वही सृष्टि विद्या अथवा सृष्टि विज्ञान है। किन्तु वैदिक संहिताओं में कुछ ऐसे विशिष्ट सूक्त हैं, जिनमें सृष्टि विषयक चिन्तन को सुनियोजित एवं व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। *ऋग्वेद संहिता* के जिन सूक्तों में सृष्टिविषयक चिन्तन हुआ है, उनमें प्रमुख हैं—अस्यवामीय सूक्त (1.164), विश्वकर्मा सूक्त (10.81-82), देव सूक्त (10.72), पुरुषसूक्त (10.90), हिरण्यगर्भ सूक्त (10.121), वागाम्भृणीसूक्त (10.125), नासदीय सूक्त (10.129) तथा अघमर्षण सूक्त (10.190)। *सामवेद संहिता* में इन्हीं सूक्तों के कतिपय मंत्र उपलब्ध होते हैं, सम्पूर्ण सूक्त उपलब्ध नहीं होते। *यजुर्वेद संहिता* में भी पुरुषसूक्त (अध्याय 31.1-22) उपलब्ध है, किन्तु कुछ पाठान्तर, मंत्र-क्रमभेद तथा 6 अधिक मंत्र-संख्या के साथ। ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में 16 मंत्र हैं, जबकि यजुर्वेदीय संहिता में 22 मंत्र हैं। शिवसंकल्प मंत्र (34.1-6), ईशावास्यसूक्त भी इसी कोटि के हैं। अथर्ववेदीय सूक्तों में विराट् सूक्त (8.9-10) मधु विद्या (9.1), कामसूक्त (9.0), ऋषभसूक्त (9. 3), पंचोदन अज सूक्त (9.5), अतिथि सूक्त (9.6), गौ. सूक्त (9.7), आत्मसूक्त (9.9-10), ब्रह्मप्रकाशन सूक्त (10.2), विष्णुक्रमसूक्त (10.5), सर्वाधार सूक्त (10.7), ज्येष्ठ ब्रह्म सूक्त (10.8), शतोदना गौ. सूक्त (10. 9), वशा गौ सूक्त (10.10), ब्रह्मौदन सूकत (11.1), ओदन सूक्त (11.3), प्राणसूक्त (11.4), ब्रह्मचर्य सूक्त (11.5), उच्छिष्ट ब्रह्म सूक्त (11.7), अध्यात्म (11.8), रोहित सूक्त (13.1-9); व्रात्यकाण्ड (15), कालसूक्त (9.53-54) आदि सृष्टिविषयक मीमांसा करने वाले सूक्त है।

इन सूक्तों में सृष्टि क्या है, कब से प्रारम्भ हुई, इसका उत्पत्ति-क्रम क्या है, इसके धारक तत्त्व कौन हैं, इनका सम्बन्ध क्या है—आदि विषयों का प्रश्न-उत्तरात्मक, प्रतीकात्मक, रहस्यात्मक, आख्यानात्मक, आलंकारिक आदि अनेक शैलियों में विवेचन किया गया है। कई जगह तो ऋषियों का सृष्टिविषयक चिन्तन अत्यन्त स्पष्ट है, किन्तु अनेक स्थलों पर वह इतना प्रतीकात्मक, रहस्यात्मक एवं आलंकारिक हो गया है कि उसको साधारण बुद्धि के व्यक्ति के लिए समझना अत्यन्त कठिन है। उसको समझने के लिए तो ऋषि-प्रज्ञा चाहिए। वेद-विज्ञान विवेचन में ऋषियों ने ऐसे पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये हैं, जो उनके समय में तो प्रचलित थे और उनका अर्थज्ञान था, इसलिए उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु कालान्तर में वे परिभाषाएँ बदल गयीं;

उन शब्दों का प्रयोग अन्य अर्थों में होने लगा। ऐसी परिस्थिति में उन वैदिक पारिभाषिक पदों का अर्थ करना और उनके मूल में निहित भाव को समझना अत्यन्त कठिन है। कोशकारों ने जो अर्थ दिये हैं, वे भी मूल अभिप्राय को समझने में हमारी बहुत अधिक सहायता नहीं करते। इसलिए उन कोशों में दिये अर्थों के आधार पर यदि कोई वैदिक पारिभाषिक पद का विवेचन करता है, तो स्थिति हास्यास्पद बन जाती है, क्योंकि उसके स्वरूपबोधन कथनों में कोई सामंजस्य नहीं दिखायी पड़ता। इसलिए मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषियों द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक पदों के वास्तविक अर्थ को समझने का आधार, आज यदि हमारे पास कोई है, तो वह है विशाल ब्राह्मण साहित्य। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणों को मंत्रों में निहित अर्थ को उलझाने वाला जंगल ही माना है, किन्तु वैदिक परम्परा को सुरक्षित रखने का श्रेय ब्राह्मणों को ही है। इसीलिए वेद के एक भाष्यकार वेंकटमाधव ने स्पष्ट रूप में यह घोषणा की है कि निरुक्त, व्याकरण आदि के आधार पर, जो वेद-मंत्रों का व्याख्यान करते हैं, वे वेद का सम्पूर्ण अर्थ न कर चतुर्थांश ही करते हैं, किन्तु जो ब्राह्मणों के आधार पर वेद मंत्रों की व्याख्या करते हैं, वे उसके सम्पूर्ण भाव को व्यक्त करते हैं। इसीलिए वेद व्याख्या के क्षेत्र में ब्राह्मणवेत्ताओं को 'वृद्ध' कहा जाता है। आधुनिक युग के भारतीय वैदिक चिन्तकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीअरविन्द, पं. मधुसूदन ओझा, पं. मोतीलाल शास्त्री आदि ने वैदिक तत्त्व-चिन्तन में ब्राह्मणों की उपादेयता को स्वीकार किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्राह्मणों का देवत्व तो स्वीकार नहीं करते, किन्तु उनके वेदभाष्यत्व में उन्हें कोई सन्देह नहीं। श्रीअरविन्द का मत है कि ब्राह्मण काल में मंत्रकालीन ऋषियों के तत्त्वदर्शन की परम्परा लगभग आधी लुप्त हो चुकी थी, किन्तु उसके बाह्य रूप तथा कर्मकाण्ड को ब्राह्मणों ने सुरक्षित रखा तथा उसकी आत्मा को उपनिषद्कारों ने सुरक्षित रखा। स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा श्रीअरविन्द की ब्राह्मणविषयक दृष्टि से भिन्न दृष्टि पं. मधुसूदन ओझा तथा पं. मोतीलाल शास्त्री की थी। इन्होंने ब्राह्मणों को वेदकोटि से अलग न करते हुए, उन्हें वेदविज्ञान का आधार ग्रन्थ माना। उनके मत में वैदिक ऋषियों का जो सृष्टि विज्ञान-विषयक चिन्तन है, उसकी परम्परा ब्राह्मण-ग्रन्थों में सुरक्षित है। इसीलिए वेद विज्ञान विवेचन में उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों का भरपूर उपयोग किया। ***शतपथ ब्राह्मण*** का विस्तृत हिन्दी विज्ञानभाष्य लिख कर पं. मोती लाल जी शास्त्री ने स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया कि वेद विज्ञान किंवा सृष्टिविज्ञान को सही रूप में समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ कुंजी रूप हैं। ये ही वेदविज्ञान के ताले को खोलते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय यद्यपि याज्ञिक विधियों का विवेचन करना है, किन्तु विधि के वर्णन में वे अर्थवाद का प्रयोग करते हैं। इन अर्थवादों का विधि के साथ एकवाक्यता होने से प्रामाण्य है, ऐसा मीमांसक भी मानते हैं। हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, प्रक्रिया, पुराकल्प आदि अर्थवाद-विवेचन की विभिन्न शैलियाँ हैं, जिनका ब्राह्मण ग्रन्थ प्रचुर रूप में प्रयोग करते हैं। इन्हीं विवेचनों में ब्राह्मण सृष्टि तत्त्वों की मीमांसा करते हैं और प्राचीन ऋषियों के सृष्टि विषयक चिन्तन को आख्यान आदि कई माध्यमों से वोधगम्य वनाते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण-कालीन ब्रह्मवादी याज्ञिक विधि-विधान के आग्रही होते हुए भी सृष्टि-प्रक्रिया के विवेचन से अपने को अलग नहीं करते। किसी भी ऐसी याज्ञिक विधि का उल्लेख नहीं, जिसके अर्थवाद के रूप में सृष्टिविज्ञान का विवेचन न किया गया हो। वस्तुतः याज्ञिक विधि के वर्णन में कर्मकाण्ड और सृष्टिविज्ञान दोनों विवेचित हुआ है। यही वैदिक ब्रह्मवादियों के चिन्तन का वैशिष्ट्य है। ब्रह्म का अर्थ सृष्टि का आधार ब्रह्मतत्त्व भी है,

याज्ञिक कर्मकाण्ड भी है और मंत्र भी है। इसलिए ब्राह्मणकालीन ब्रह्मवादी केवल याज्ञिक कर्मकाण्डी ही नहीं हैं, बल्कि सृष्टि-प्रक्रिया का विवेचन करने वाला एक वैज्ञानिक भी है तथा ब्रह्मतत्त्व का विवेचन करने वाला एक दार्शनिक भी है। इस प्रकार यज्ञ केवल कर्मकाण्ड ही नहीं, बल्कि वेदविज्ञान भी है। दोनों में अभूतपूर्व सामंजस्य ब्रह्मवादियों ने स्थापित किया है। यज्ञों में जो एक निश्चित क्रमबद्धता दिखायी पड़ती है, वह सृष्टिविज्ञान में एक निश्चित व्यवस्था की अनुकृति होने के कारण ही है। अग्निहोम, दर्शपूर्णमासेष्टि, चातुर्मास्येष्टि, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, अग्निचयन, गवामयन आदि सत्रों का विस्तृत विवेचन किया जाये, तो मालूम होगा कि उनमें सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया का ही विवेचन है।

यह बात उल्लेखनीय है कि सृष्टि-प्रक्रिया के विवेचन में ब्राह्मण ग्रन्थ संहिताओं के सृष्टिविवेचक सूक्तों की कोई क्रमिक सुनियोजित व्याख्या नहीं करते और न ही उस सूक्त के सम्पूर्ण चिन्तन को कहीं एकत्र अभिव्यक्त करते हैं; प्रत्युत जो सृष्टि-विषयक तत्व हैं, उनका विभिन्न स्थलों पर उल्लेख करते हैं। विभन्न स्थलों पर उद्धृत सृष्टि-विषयक तत्त्वों के ये विवेचन एक प्रकार से परिभाषा का काम करते हैं। इन परिभाषाओं को एकत्रित करके यदि संहितागत सृष्टि-विषयक सूक्तों की व्याख्या की जाये, तो उस सूक्त के अन्दर निहित सम्पूर्ण सृष्टिविषयक चिन्तन समग्र रूप में उपस्थित हो सकता है। मंत्रगत पद का उस प्रकरण में क्या अर्थ है, वह ब्राह्मणों की इतस्ततः बिखरी परिभाषाओं के द्वारा ही जाना जा सकता है। पुरुष, विराट्, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, परमेष्ठिन्, आपः, सलिल, तपस्, ऋत, सत्य, ब्रह्म, यक्ष, अभ्व, अहोरात्र, अग्नि, वायु, इन्द्र, विष्णु, अग्नीषोम, अदिति, ऋक, यजुस, साम, उक्थ, महोक्थ, स्तोम, गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, बृहती, पङ्क्ति, गौ, व्योम, ऋषि, सत्, असत्, आदि अनेक पदों की जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनके विविध प्रतीक तथा बन्ध दिये गये हैं, उनका ज्ञान मंत्रों में प्रतिपादित सृष्टिविषयक चिन्तन को समग्र रूप में जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यहाँ सृष्टिविषयक सूक्तों में विवेचित सभी तत्त्वों का ब्राह्मणों में दी गयी परिभाषाओं के आधार पर विवेचन करना सम्भव नहीं, इसलिये उदाहरण के लिए हम यहाँ केवल अथर्ववेदीय विराट् सूक्त में जो विराट् का स्वरूप विवेचित है, उस विराट् को समझने में ब्राह्मण ग्रन्थ कितने उपयोगी हैं, इसी का विवेचन करेंगे।

अर्थववेद के 8वें काण्ड के दो सूक्त 9वाँ एवं 10वाँ विराट् सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इन सूक्तो का देवता विराट् है। अनुक्रमणी के अनुसार नवम् सूक्त के द्रष्टा ऋषि कश्यप तथा दशम के अथर्वाचार्य हैं। अनुक्रमणीकार ने–*यस्यवाक्यं स ऋषिः*–इस परिभाषा के अनुसार नवम् सूक्त का ऋषि कश्यप को माना है–किन्तु यहाँ कश्यप कोई व्यक्ति न होकर सप्त ऋषिगणों में से एक है, ऐसा इस सूक्त के ही 7वें मन्त्र से ज्ञात होता है। यहाँ मन्त्रद्रष्टा ऋषि का व्यक्तित्व प्रच्छन्न है। मन्त्र इस प्रकार है–

षट्त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तो नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः।।

अवे. 8.9.7

अर्थात् हे कश्यप! हम छह आपसे पूछते हैं, क्योंकि आप ही युक्त और योग्य को संयुक्त करते हो; हम मित्रों को आप जितने प्रकार से हो सके, उतने प्रकार से बताइये कि विराट् को ब्रह्मा का पिता क्यों कहते हैं? इस मंत्र में आलंकारिक भाषा में छह ऋषिप्राणों का ऋषिप्राण से प्रश्न पूछने का तथा सातों ऋषिप्राणों का मित्रभाव

में रहने का उल्लेख है। यहाँ कश्यप प्राण का लक्षण दिया गया है 'युक्त और योग्य को संयुक्त करना'। दो वस्तुओं का परस्पर आधार आधेय भाव कश्यप प्राण से ही सम्भव है। मंत्र में उद्धृत कश्यप पद व्यक्तिवाचक न होकर प्राणवाचक है, इसका प्रमाण क्या है? सात ऋषियों का व्यक्ति रूप से मित्र होना सम्भव नहीं, क्योंकि सभी एक ही काल के नहीं और दूसरी बात व्यक्ति विश्वामित्र तथा वशिष्ठ में परस्पर शत्रुता भी दिखायी पड़ती है। कश्यप व्यक्ति नहीं, प्राण है; इसका मंत्रों में तो अनुमान से ज्ञान होता है, किन्तु ब्राह्मण प्रत्यक्ष रूप से कश्यप को प्राण कहता है। तै. आ. (1.8.8) में कश्यप की व्याख्या 'पश्यकः' द्वारा की गयी है, क्योंकि सूक्ष्म होने के कारण वह सबको देखता है–*कश्यपः पश्यको भवति। यत्सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यातं*। तै.आ. कश्यप को अष्टम कहता है। उसका शिल्प अर्थात् कार्य प्रकाश करना है। अरोग से लेकर विभास पर्यन्त सात सूर्य (आरोग, भाज, पटर, पतंग, स्वर्णर, ज्योतिष्मान्, विभास) उसमें एक साथ अर्पित हैं। वे सभी उसी कश्यप से प्रकाश ग्रहण करते हैं। उन प्रकाशों को सोम कश्यप से निर्धमन करता है, इसी से उसे *भ्रस्ताकर्मकृत्* कहा गया है–*कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति। ···यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावत्, इन्द्रियावत् पुष्कलं चित्रभानुं।* यस्मिन्तरर्या अर्पिताः सप्त साकम् तस्मिन्राप्ता नमधिविश्रयेमम्।।·····तान्त्सोमः कश्यपादधि निर्धमति भ्रस्ताकर्मकृदिवैषम् (तै आ. 1.7.1-2)। ***मैत्रायणी संहिता*** में कश्यप को मासों का द्रष्टा कहा गया है–*कश्यपो मासाम्* (मै. 3.14.18)। जै.ब्रा. में कश्यप को समुद्र पार कराने में समर्थ बताया गया है–*कश्यपो वै समुद्रमतिपारमितुमर्हति* (जै.ब्रा. 3.2.73)। श. ब्रा. कश्यप को कूर्मप्राण कहता है–*कश्यपो वै कूर्मः* (श.ब्रा. 7.5.1.5)। कूर्मसंज्ञक इष्टकोपधान के प्रसंग में श.ब्रा. विस्तारपूर्वक इस कूर्म प्राण का विवेचन करता है। रस ही कूर्म है–*रसो वै कूर्मः* (श.ब्रा. 7.5.1.1)। सम्पूर्ण लोकों का जो श्रेष्ठ रस निकला, वही कूर्म हुआ–*यो वै स एषां लोकानामप्सु प्राविद्धानां पराङ्रसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मः। ·····यावानु वै रसस्तावानात्मा स एष इम एव लोकाः* (श.ब्रा. 7.5.1.1)। इसी कूर्म का रूप ग्रहण कर प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की।

इसका कूर्म नाम इसीलिए है कि उसको प्रजापति ने उत्पन्न किया। यही कूर्म कश्यप भी है। क्योंकि इसी कूर्म या कश्यप से सभी प्रजाएँ उत्पन्न हुई, इसीलिए सभी प्रजाओं को काश्यपी कहा जाता है–*स यत्कूर्मो नाम। एत द्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति* (श.ब्रा. 7.5.1.5)। जगत् में कोई भी ऐसा नहीं, जिसमें यह कश्यप या कूर्म प्राण न हो। कश्यप और कूर्म का जब तादात्म्य हो गया और कूर्म को श.ब्रा. स्पष्ट रूप से प्राण कहता है·····प्राणो वै कूर्मः (श.ब्रा. 7.5.1.7) और यह भी कहता है कि प्राण ही सबको उत्पन्न करता है–*प्राणो दीमाः सर्वाः प्रजाः करोति* (श.ब्रा. 7.5.1.7), तब इस बात को मानने में कोई बाधा नहीं कि कश्यप प्राण ही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अथर्ववेदीय विराट् सूक्त का जो ऋषि कश्यप बताया गया है, वह प्राण ही है। सम्भवतः इस कश्यप प्राण का आविष्कार करने के कारण सूक्त द्रष्टा ऋषि व्यक्ति भी कश्यप नाम से विख्यात हो। ओझा जी ने ***महर्षिकुलवैभवम्*** में इसका विवेचन किया है।

अथर्ववेदीय विराट् सूक्त में कुल 26 मंत्र हैं। इन मंत्रों में प्रतीकात्मक प्रहेलिका रूप में प्रश्नोत्तर शैली में विराट् के विषय में विविध प्रश्न पूछे गये हैं और उनके उत्तर दिये गये हैं। पहले मन्त्र में प्रश्न किया गया है–"वे

दोनों कहाँ से उत्पन्न हुए? उनमें अर्धभाग कहाँ से है? किस लोक से, किस पृथ्वी से, किस सलिल से विराट् के दो वत्स उत्पन्न हुए? तुमसे पूछता हूँ कि दोनों में से किस वत्स के द्वारा दुही जाती है?'' यह विराट् कौन है और उससे उत्पन्न होने वाले दो वत्स कौन हैं, इसका उल्लेख मंत्र में नहीं है। सम्भवतः स्त्रीत्व और पुरुषत्व का अविभाज्य युगल रूप ही विराट् है, जहाँ से स्त्रीत्व और पुरुषत्व रूप दो वत्स उत्पन्न होते हैं। दूसरे मंत्र में बताया गया है कि त्रिभुज स्थान बना कर विश्राम करने वाले कामधेनु विराट् के जिस वत्स ने अपनी महिमा से सलिल को प्रक्षुब्ध किया, उसी ने गुहा में दूर शरीरों का निर्माण किया। यहाँ प्रश्न उठता है कि अपनी महिमा से सलिल को प्रक्षुब्ध करने वाला, त्रिभुज आश्रय बना कर उस पर शान्त होकर शयन करने वाला, गुफा में दूर शरीरों का निर्माण करने वाला कामधेनु विराट् का वत्स कौन है? तीसरे मन्त्र में कहा है कि जो तीन वृहत् है, ज्ञानी उस ब्रह्म को तप से जानें। चतुर्थ मंत्र में यह प्रश्न पूछा गया है कि वृहत् षष्ठ के ऊपर पाँच सामों का निर्माण हुआ है, बृहती से बृहत् का निर्माण हुआ है, किन्तु बृहती का निर्माण कहाँ से हुआ है? पाँचवे मंत्र में रहस्यात्मक रूप में ही उत्तर दिया गया है—माला की मात्रा के आधार पर बृहत्री मात्रा का निर्माण हुआ है। छठे मंत्र में बताया गया है कि ऊपर जो द्यौ है, वह वैश्वानर की प्रतिमा है। द्युलोक से पृथ्वी तक जितनी रोदसी, है, वहाँ तक वैश्वानर अग्नि व्याप्त है। यह अग्नि छठा है। इसी छठे से स्तोम आते हैं और वे यहाँ से छठे दिन ऊपर उठते हैं। सातवें मन्त्र में छह ऋषि-प्राण कश्यप प्राण से पूछते हैं कि विराट् को ब्राह्मन् का पिता कैसे कहा गया है? 8वें मंत्र में कश्यप (प्राण) का उत्तर है—जिसके चलने पर यज्ञ चलते हैं, जिसके स्थिर होने पर स्थिर होते हैं, जिसकी आज्ञा में यज्ञ गतिमान होता है, हे ऋषियो! वह विराट् तत्त्व है और वह परम व्योम में है। नवम् मंत्र में उल्लेख है कि स्वयं प्राण रहित होकर भी अन्य साँस लेने वालों के प्राण के साथ विराट् चलती है, वह स्वराट् के पास पहुँचती है। सबको स्पर्श करने वाली उस सुन्दर विराट् को कुछ लोग देखते हैं, कुछ नहीं देखते। यह उल्लेखनीय है कि विराट् को स्त्री-पुरुष का मिथुन रूप कहा गया है। 10वें मन्त्र में यह प्रश्न पूछा गया है कि उस विराट् के मिथुन रूप को कौन जानता है? यह सभी जानते हैं कि मिथुन से ही सृष्टि होती है। स्त्री का ऋतुमती होना आवश्यक है, तभी पुरुष के साथ मिथुनीभाव होने पर सृष्टि होती है। विराट् के अन्दर जो स्त्रीत्व है, उसका ऋतुकाल और कल्प कब होता है, यह कौन बता सकता है? विराट् के द्वारा जिन तत्त्वों की उत्पत्ति होती है, उनके क्रम को कौन जानता है? इसका धाम कहाँ है तथा कितने रूपों में यह प्रकाशित हुई है, इसको कौन जानता है? 11वें मंत्र में यह उल्लेख है कि विराट् तत्त्व ही सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ और अन्यों में प्रविष्ट होकर वह सर्वत्र विचरण करता है। इस विराट् के अन्दर बड़ी महिमा वाले तत्त्व हैं। यहाँ विराट् की तुलना एक जननी वधू से की गयी है, जो सबका प्रिय होने से उनके हृदय को जीत लेती है। 12वें मंत्र में स्त्री-पुरुष के मिथुनलय वाले विराट् को छन्द रूप दो पंखवाला बताया गया है, ये दोनों सुन्दर हैं तथा समान मार्ग का अनुसरण करते हैं; ये चेतना शक्ति से युक्त हैं, प्रकाशमान हैं, कभी जीर्ण होने वाले नहीं तथा प्रचुर रेतस वाले हैं। 13वें मन्त्र में तीन शक्तियों के अन्त के मार्ग पर चलने का उल्लेख है। इनमें से एक प्रजा को प्रेरित करती है, एक वल की रक्षा करती है तथा एक देवमु लोगों के राष्ट्र की रक्षा करती है। 14वें मन्त्र में यह उल्लेख है कि अग्नि और सोम से यज्ञ के दो पक्ष हैं, ऐसा ऋषियों ने माना है। जो चतुर्थ अवस्था है, उसको तथा गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् तथा बृहती को, जो यजमान के लिये प्रकाश लाने

वाली है, इन सबको वे धारण करते हैं। 15वें मन्त्र में पाँच व्युष्टियों, पाँच गो-दोहों, पाँच नाम वाली गायों, पाँच ऋतुओं तथा पाँच दिशाओं का उल्लेख है, जो पंचदश के साथ संयुक्त होकर तथा एक सिर वाले होकर एक लोक बनते हैं। इस मंत्र में पाँच संख्या में जिन तत्त्वों का बोध होता है, वे सभी यहाँ अभिप्रेत हैं। 16वें मंत्र में छह संख्या से व्यक्त होने वाले तत्त्वों का उल्लेख है : ऋतु से प्रथम षड्-भूत उत्पन्न हुए, छह साम, छह दिन को ले जाते हैं। छह बैल से जोते हुए हल को साम-साम कहते हैं। छह द्यावापृथिवी है, छह भूमियाँ हैं। छह शीतकाल के महीने हैं, छह उष्णता के महीने हैं; जो इनसे अतिरिक्त है, उस ऋतु को हमसे बतलाओ। 17वें के उत्तरार्ध तथा 18वें मंत्र में सप्त संख्या से जिनका बोध होता है, उन तत्त्वों का उल्लेख है : सात सुन्दर पर्णवाले कवि निवास करते हैं; सात छन्द हैं, सात दीक्षायें हैं, सात होम हैं, सान समिधाएँ हैं, सात मधु हैं, सात ऋतु हैं, सात आज्य हैं; ये सम्पूर्ण जगत में व्याप्त हैं। उनके साथ सात गीघ भी हैं, ऐसा हमने सुना है। सात छन्द चतुरुत्तर लक्षण वाले हैं और उनमें एक दूसरे में अर्पित है। छन्दों से ही स्तोमों का निर्माण होता है। 19वें मन्त्र के उत्तरार्ध तथा 20वें में यह प्रश्न है कि इन छन्दों से स्तोमों का निर्माण कैसे होता है : किस प्रकार गायत्री त्रिवृत्स्तोम को व्याप्त करती है? त्रिष्टुप् किस प्रकार पंचदशस्तोम से संयुक्त होता है? किस प्रकार जगती नामस्त्रिंश स्तोम से तथा किस प्रकार अनुष्टुप् एकविंश स्तोम से संयुक्त होती है? 21वें मंत्र में अष्ट संख्या से बोध होने वाले तत्त्वों का उल्लेख है : प्रथम उत्पन्न ऋत से आठ भूतों की उत्पत्ति हुई, आठ ऋत्विज् हैं, जो दिव्य हैं, अदिति आठ उत्पत्ति स्थान वाली है और उसके पुत्र भी आठ हैं, अष्टमी रात्रि को हव्य प्राप्त होता है। 22वें मन्त्र में विराट् कहती है—इस प्रकार कल्याण को मानने वाली यह मैं आपकी मित्रता में आ गयी हूँ, मैं आपके लिये सेवनीय हूँ, आपके साथ उत्पन्न हुआ आपका वह यज्ञ कल्याणकारी है, वह जानता हुआ सबमें संचार करता है। 23वें मन्त्र में इन्द्र के आठ, यम के छह तथा ऋषियों के सात प्रकार का उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि पाँच प्रकार के जल उन मनुष्यों और औषधियों के प्रति अनुकूलता से सिंचन करते हैं। प्रथम मंत्र में, जो यह प्रश्न पूछा था कि विराट् रूपी गौ उसके दोनों वत्सों में से किसके द्वारा दोही जाती है, उसका उत्तर 24वें मंत्र में दिया गया है—केवली गौ ही अमृत रूप दूध सबसे प्रथम देने वाली इन्द्र के लिए अनुकूलता के साथ दुहती है और इसके बाद देव, मनुष्य, असुर और ऋषियों को चार प्रकार से तृप्त करती है। 25वें मंत्र में पुनः प्रश्न किया है : कौन गौ है? कौन एक ऋषि है? कौन-सा धाम है? कौन-से आशीष हैं? पृथिवी में एक ही व्यापक यज्ञ है, एक ही ऋतु है; किन्तु वह कौन है? 26वें मंत्र में इसका उत्तर है : एक ही गौ है; एक ही एक ऋषि है; एक ही धाम है; एक ही प्रकार का आशीष है। पृथिवी पर एकवृत, एक-ऋतु अर्थात् समान रूप से व्याप्त होने वाला एक ही यज्ञ है, उससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है।

अथर्ववेद के अष्टम काण्ड का जो दशम सूक्त है, वह गद्यात्मक है और उसकी प्रकृति ब्राह्मणात्मक है। इसमें विराट् की महिमा का तथा सृष्टि के प्रत्येक तत्त्व में उसके व्याप्त होने का उल्लेख है : सृष्टि के प्रारम्भ में यह विराट् ही थी। उसके उत्पन्न होने पर सभी भयभीत हो गये कि अब केवल यही रहेगी। वह ऊपर उठी और क्रमशः गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा, समिति तथा आमंत्रण में परिणत हो गयी। वह पुनः ऊपर उठी और अन्तरिक्ष में चार रूपों में विभक्त होकर स्थित हुई। देवमनुष्य उसके विषय में बोले कि यही वह जानती है, जिससे हम दोनों जीवित रहते हैं, इसलिए इसको हम बुलाते हैं। उन्होंने 'अर्ज एहि', 'स्वध एहि',

'सूनृत एहि' 'इरावत्येहि'—ऐसा सम्बोधित कर उसको बुलाया। उसका इन्द्र वत्स था, गायत्री रस्सी थी, मेघ उसका थन था, वृहत, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय और कामदेव्य उसके चार स्तन थे। देवताओं ने रथन्तर से औषधियों को, वृहत् से आकाश को, वामदेव्य से जलों को तथा यज्ञायज्ञिय से यज्ञ को दुहा। यह विराट् पुनः ऊपर उठी और वनस्पतियों के पास आ गयी। वनस्पतियों ने उसे मारा, किन्तु वह संवत्सर में परिणत हो गयी। वह फिर ऊपर उठी और पितरों के पास आ गयी। पितरों ने उसे मारा, किन्तु वह मास में परिणत हो गयी। वह पुनः ऊपर उठी और देवताओं के पास आ गयी। देवताओं ने उसे मारा, परन्तु वह प्रत्येक अर्धमास में उत्पन्न होने लगी। वह पुनः ऊपर उठी और मनुष्यों के पास आ गयी। मनुष्यों ने उसे मारा, परन्तु वह तत्काल उत्पन्न हो गयी। वह पुनः ऊपर उठी और असुरों के पास आ गयी। उसको असुरों ने 'माय एहि' सम्बोधित कर बुलाया। प्रहलाद पुत्र विरोचन उसका वत्स था। लोहे का दुग्धपात्र था। ऋतुपुत्र द्विमूर्धा ने उसका दोहन किया और उससे माया को ही दुहा। इसी माया पर असुरों का जीवन होता है। वह पुनः ऊपर उठी और पितरों के पास आ गयी। पितरों ने 'स्वध एहि' सम्बोधित कर उसे बुलाया। राजा यम उसका वत्स था और चाँदी का दुग्धपात्र था। मृत्यु पुत्र अन्तक ने उसका दोहन किया और उससे 'स्वधा' को ही दुहा। इसी स्वधा पर पितर जीवित रहते हैं। वह पुनः ऊपर उठी और मनुष्यों पास आ गयी। मनुष्यों ने 'ईरावत्येहि' सम्बोधित कर उसे बुलाया। विवस्वान-पुत्र मनु उसके वत्स थे और पृथिवी का दुग्धपात्र था। वेन पुत्र पृथि ने उसका दोहन किया और उससे कृषि तथा धान्य दुहा। इसी कृषि और धान्य पर मनुष्य जीवित रहते हैं। वह पुनः ऊपर उठी और सप्तर्षियों के पास आ गयी। ऋषियों ने 'ब्रह्मण्वत्येहि' सम्बोधित कर उसे बुलाया। राजा सोम उसका वत्स था और छन्द ही दुग्धपात्र। अङ्गिरस वृहस्पति ने उसका दोहन किया और उससे तप को दुहा। उस तप और ब्रह्म पर सप्त ऋषि जीवित रहते हैं। वह पुनः ऊपर उठी और देवताओं के पास आ गयी। देवताओं ने 'उर्जे एहि' सम्बोधित कर उसे बुलाया। इन्द्र उसका वत्स था और चमस दुग्धपात्र। सविता देव ने उसका दोहन किया और उससे 'ऊर्जा' को ही दुहा। इसी ऊर्जा पर देवता जीवित रहते हैं। वह पुनः ऊपर उठी और गन्धर्व तथा अप्सराओं के पास आ गयी। गन्धर्व तथा अप्सराओं ने 'पुण्यगन्धे एहि' सम्बोधित कर उसे बुलाया। सूर्यवर्चस पुत्र चित्ररथ उसका वत्स था और पुष्करपर्ण दुग्धपात्र। सूर्यवर्यस् पुत्र वसुरुचि ने उसका दोहन किया और उससे पुण्यगन्ध को ही दुहा। इसी पुण्यगन्ध पर गन्धर्व तथा अप्सराएँ जीवित रहती हैं। वह पुनः ऊपर उठी और अन्य जनों के पास आ गयी। इतर जनों ने 'तिरोधे एहि' सम्बोधित कर उसको बुलाया। विश्रवा-पुत्र कुबेर उसका वत्स था और आमपात्र दुग्धपात्र। कुबेर पुत्र रजतनाभि ने उसका दोहन किया और उससे तिरोधान शक्ति को ही दुहा। इसी तिरोधानशक्ति पर इतरजन जीवित रहते हैं। वह पुनः ऊपर उठी और सर्पो के पास आ गयी। सर्पो ने 'विषवत्येहि' सम्वोधित कर उसे बुलाया। विशालापुत्र तक्षक उसका वत्स था और अलावुपात्र (तुम्वी) दुग्धपात्र। इरावान् के पुत्र धृतराष्ट्र ने उसका दोहन किया और उससे विष को ही दुहा। इसी विष पर सर्प जीवित रहते हैं।

अथर्ववेदीय विराट् सूक्त में विवेचित विराट् के स्वरूप का आख्यानात्मक रूप में वर्णन अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग में हुआ है। विराट् स्त्री-पुरुष का मिथुन रूप है, किन्तु यहाँ उसके स्त्री रूप को ही अधिमान देकर उसकी कामधेनु के रूप में कल्पना की गयी है और उसी से सबकी उत्पत्ति बतायी गयी है। वही गार्हपत्य, आहवानीय, दक्षिणाग्नि, सभा, समिति एवं आमन्त्रण रूपा है। मेघ उसका थन है तथा वृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य

उसके चार स्तन हैं। इन्हीं सामरूपा स्तनों से क्रमशः आकाश, औषधी, यज्ञ तथा जलों की उत्पत्ति हुई। उसी विराट् रूपा कामधेनु से संवत्सर, मास, पक्ष और दिन बने। ऊर्जा, स्वधा, सूनृता, इरावती, माया, ब्रह्मण्वती, पुण्यगन्धा, तिरोधा, विषवती उसके विविध नाम हैं। ऊर्जा, माया, स्वधा, इरा, ब्रह्म-तप, पुण्यगन्ध, तिरोध एवं विष के द्वारा क्रमशः देवो, असुरों, पितरों, मनुष्यों, सप्तर्षियों, गन्धर्वाप्सराओं इतरजनों तथा सर्पो को जीवन प्रदान करती है। अथर्ववेदीय संहितागत ब्राह्मण भाग के विराट्तत्व के विवेचन से ऋग्वेदीय विराट् तत्त्व की स्पष्ट व्याख्या हो जाती है। पुरुष के चतुर्थवाद से सम्पूर्ण जगत् के विक्रान्त होने—*ततो विष्वंग व्यक्रामत्साशनानशने अभि* (अ.वे. 10.90.4) की जो बात ऋग्वेदीये पुरुष सूक्त में कही गयी है, उसी का अथर्ववेदीय ब्राह्मणभाग में विस्तार से विवेचन किया गया है।

विराट् तत्त्व के चिन्तन को ब्राह्मण ग्रन्थों ने काफ़ी विकसित किया है। विराट् के अन्दर स्त्रीत्व-पुरुषत्व के जिस मिथुनभाव का उल्लेख मंत्रों में मिलता है, उसकी व्याख्या ब्राह्मण करते हैं। श.ब्रा. के अनुसार उस विराट् मिथुन का जो पुरुष रूप है, वह इन्द्र है तथा जो स्त्री रूप है, वह इन्द्र की पत्नी है। दोनो का स्थान आँखों में है—*अथैतद् वामेऽक्षणि पुरुषरूपम्। एषाऽस्य दक्षिणे वर्तमानस्येन्द्राख्यास्य पुरुषस्य पत्नी विराट्* (श.ब्रा. 14.6.11.3) तै.ब्रा. उस विराट् के दैवी और मानुषी रूपों का उल्लेख है—*अथैते दैवी च मानुषी च विराजौ। तयोरेष एतदारित्यो ध्यूदस्तपति। चतस्रो दिशश्चत्वागेऽवान्तर देशा द्वाविमौ लोकौ। एषा दैवी विराट्। अन्या मानुषी चत्वारोऽत्तारः षडाद्यः। ब्राह्मणःश्च राजन्यश्चय वैश्यश्च शूद्रश्चैते तारः। गोश्चाश्वश्चाजश्चाविश्वं ब्रीहिश्व यवाश्चैते आद्याः* (जै.ब्रा. 1.252)। इन दैवी तथा मानुषी विराट् के अतिरिक्त जै.ब्रा. (1.246) एक यज्ञिया विराट् का भी उल्लेख करता है—*ता एता तिस्रो विराट् दैवी यज्ञिया मानुषी। सैषा देवी विराट् यदिमे लोकाः।* जै.ब्रा. एक स्थल पर विराट् को यज्ञ के रूप में कथन करता है। जिस प्रकार पुरुष-सूक्त में पुरुष रूप हवि से देवताओं द्वारा यज्ञ किये जाने का उल्लेख है, उसी प्रकार जै.ब्रा. में विराट् रूप हवि से देवताओं द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है—*ते (देवाः) एतं विराजं यज्ञमपयश्त्। तमाहरन्। तेनायजन्त। ततो दैवेते विराजमत्रारामवारुन्धत* (जै.ब्रा. 2.85)। जै.ब्रा. में एक जगह आदित्य को ही विराट् कहा है—*य एवासौ (आदित्यः) तपत्येष एव विराट्* (जै.ब्रा. 1.340)। विराट् ही पूर्ण प्रजनन है—*पूर्णमिव प्रजननं यद्विराट (जै. ब्रा. 2.95) तै आ. विराट् के पाँच पादों का उल्लेख है— पंचपदा वै विराट। तस्या वाइचं (पृथिवी) पादः। अंतरिक्षंपादः। द्यौः पादः। दिशः पादः। परोराज पादः (तै आ. 1.25.3)। तै. ब्रा. परमा विराट् का सहस्रक्षरा रूप में वर्णन करता है—यहस्राक्षरा वै परमा विराट्* (तै. ब्रा. 25.9.4) तै.ब्रा. गौ को विराट् का रूप मानता है—*विराजो वा एतद् रूपं पद् गौः* (तै.ब्रा. 4.9.3)। तैसं. में विराट् की उत्पत्ति प्रजापति से बतायी गयी है—*विराट् सृष्टा प्रजापतेः* (तै. ब्रा. 1.2.2.27)। गो. ब्रा. का कथन है कि प्रजापति नु पुरुषमेध के द्वारा विराट् यह नाम धारण किया—*सः (प्रजापतिः) पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नामाधत्त* (गो. ब्रा. 1.5.8) जै. ब्रा. षोडशी को विराज से उत्पन्न वनाता है—*वैराजो वै षोडशी* (जै.ब्रा. 1.195, 2.435)। जै.ब्रा. पुरुष के अन्दर जो प्राण है, उनको मानुषी विराट् मानता है—*अथैषा मानुषी विराट् यदिमे पुरुषे प्राणः ···तस्या एतस्या अन्नमेवापिधानम्* (जै.ब्रा. 1.246)। श.ब्रा. में कई स्थलों पर विराट् का तादात्म्य यज्ञ के साथ किया गया है—*विराट् वै यज्ञः* (श.ब्रा. 1.1.1.22., 2.3.1.18, 4. 4.5.19)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में उपलब्ध विराट् विषयक उद्धरण संहिताओं में वर्णित विराट् के स्वरूप को समझने में अत्यन्त उपयोगी हैं। इनमें मन्त्रों में व्यक्त ऋषियों के सृष्टिविषयक चिन्तन की ही अभिव्यक्ति हुई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित वैदिक देवों का स्वरूप

दयानन्द भार्गव

संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ***ऋग्वेद*** में अग्नि, इन्द्र आदि देवों की स्तुतियाँ हैं। नासदीय सूक्त जैसे कुछ सूक्तों को छोड़ दें, जिनका देवता भाववृत्त बताया गया है, तो सभी सूक्तों के देवता प्रायः ऐसे हैं, जिन्हें पश्चिम के विद्वानों ने प्रकृति की शक्ति का प्रतिनिधि माना है। अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक देवों की जो अवधारणा पश्चिमी विद्वानों के द्वारा अभिव्यक्त हुई है, उसकी पृष्ठभूमि में यह मान्यता है कि वैदिक ऋषि उस आदिमकालिक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है, जब मनुष्य अपने सुख-दुःख का आधार अग्नि, जल, वायु इत्यादि प्राकृतिक तत्त्वों की अनुकूलता-प्रतिकूलता को मानता था और उसका यह विश्वास था कि प्रकृति की शक्तियों के अधिष्ठाता देव यदि हमारी स्तुतियों से प्रसन्न हो गये, तो वे हमें दुःख न देकर सुख देंगे। वेद में क्योंकि प्रकृति की इन शक्तियों का मानवीकरण हो गया है, अतः पश्चिमी विद्वानों ने इन वैदिक देवताओं के आकार, वस्त्र-आभूषण, वाहन, अस्त्र-शस्त्र, भोजन इत्यादि का वर्णन करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली है। मेकडॉनल जैसे विद्वान अपने ***वैदिक माइथोलाजी***—जैसे ग्रन्थ में इसी आधार पर वैदिक देवों का वर्णन करते हैं। उनका विचार है कि हिन्दू धर्म का प्रारम्भिक रूप बहु-वेदवादी था तथा शनैः शनैः हिरण्यगर्भ जैसे सूक्तों में एकदेववाद की ओर प्रवृत्ति हुई और उपनिषदों तक आते-जाते ब्रह्मवाद की स्थापना हो गयी है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रति पश्चिमी दृष्टिकोण

इस सारे विवेचन में पश्चिमी विद्वान वैदिक संहिता और उपनिषद् के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी, ब्राह्मण ग्रन्थ की उपेक्षा कर देते हैं, जबकि ब्राह्मण ग्रन्थ देवतत्त्व के गम्भीर विवेचन से भरे पड़े हैं। मैक्समूलर से लेकर विण्टरनिट्ज तक अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों को वृथा पाण्डित्य प्रदर्शन, अनर्गल वाचालता, उन्मत्त के प्रलाप, कल्पित कथा-कहानी, बर्बर, आदिम, मूर्खता, अयथार्थ आदि विशेषणों से विशेषित किया है। सच यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थ की शैली से अपरिचित रहने के कारण ही उनके सम्बन्ध में ऐसी अवधारणाएँ बनी हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में बिखरे विचारों तथा वक्तव्यों को यदि एक क्रम में व्यवस्थित किया जाये ,तो वैदिक धर्म के सम्बन्ध में अनेकानेक अमूल्य सूचनाएँ उनसे प्राप्त हो सकती हैं।

देव प्राण हैं

ब्राह्मण ग्रन्थ बारम्बार कहते हैं कि प्राण ही देव हैं—*प्राणा वै देवाः।*[1] यही नहीं, सभी मुख्य वैदिक देवों का ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राणों के साथ समीकरण बताया गया है। अग्नि प्राण है—*प्राणा अग्निः।*[2] वायु प्राण है—*वातः*

प्राणः।[3] आदित्य भी प्राण है—*आदित्यौ वै प्राणः।*[4] अग्नि, वायु और आदित्य तीनों के प्राण होने का अर्थ है कि समस्त देव प्राण हैं, क्योंकि मुख्य तीन ही तो देव हैं—पृथिवी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय वायु और द्यौ स्थानीय आदित्य—*अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयानि।*[5] प्राण का अर्थ है ऊर्जा, किन्तु प्राण जड़भूत की ऊर्जा नहीं है, अपितु चेतन मन की ऊर्जा है—*एते वै देवा मनोयुजो यदिमे प्राणाः।*[6] ऊर्जा से जड़ता का बोध होता है। जब हमें जड़शक्ति को बताना होता है, तो हम 'भूत' शब्द का प्रयोग करते हैं। यह जड़ और चेतन का भेद ही देव और भूत का भेद है, अन्यथा देव ही भूत हैं—*देवा वै भूताः।*[7] वास्तविकता यह है कि जड़ कुछ है ही नहीं, सब कुछ चेतन ही है। इसलिए जो कुछ भी उत्पन्न होता है, देवताओं से उत्पन्न होता है—*जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्यः।* इस वक्तव्य को थोड़ा विस्तार से समझने का प्रयत्न करें।

देवों से सब कुछ उत्पन्न होता है

हमने ऊपर तीन देवताओं की चर्चा की—अग्नि, वायु ओर आदित्य। अग्नि पृथिवी स्थानीय है। यह शरीर का निर्माण करता है। वायु का सम्बन्ध क्रियाशक्ति से है, आदित्य का सम्बन्ध ज्ञानशक्ति से है। छोटे से लेकर बड़े पदार्थ तक में ये तीन ही घटक रहते हैं—अर्थ, क्रिया और ज्ञान। ये तीन घटक क्रमशः तीन देवताओं से प्राप्त होते हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सभी पदार्थो का निर्माण देवताओं से होता है। समष्टि के स्तर पर विराट् हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ—अर्थ, क्रिया और ज्ञान को वताते हैं, जबकि व्यष्टि के स्तर पर इन तीनों को क्रमशः वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ कहा जाता है। वेदान्त में इस विषय का विस्तार से वर्णन है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये तीनों देवता अग्नि, वायु और आदित्य मुख्यता की अपेक्षा अग्नि, वायु और आदित्य कहलाते हैं, अन्यथा इन तीनों में तीनों का समावेश हैं, जब हम अग्नि को मुख्य मानते हैं, तो अग्नि को पवमान, वायु को पावक और आदित्य को शुचि कहते हैं। वायु को मुख्य मानने पर अग्नि को वात, वायु को मरुत और आदित्य को पवन कहने हैं तथा आदित्य को मुख्य मानने पर अग्नि वासव, वायु मरुत्वान् और आदित्य मघवा कहलायेगा। ये व्यपदेश केवल मुख्यता की अपेक्षा हैं, अन्यथा तीनों में तीनों का अंश है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें क्रिया न हो, कोई क्रिया ऐस नहीं है, जिसमें ज्ञान न हो। बिना ज्ञान के क्रिया और क्रिया के विना अर्थ हो ही नहीं सकता। इसलिए ***शतपथ ब्राह्मण*** ने आत्मा के तीन घटक माने हैं—वाक्, प्राण और मन—*स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयों मनोमयः।*[8]

बाहुदेववाद में एकदेववाद

क्योंकि अग्नि, वायु और आदित्य तीनों में तीनों है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि अग्नि ही सब देव हैं—*अग्नयो वै सर्वे देवाः।*[9] इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है—*वायुर्हि विश्वेदवाः।*[10] अन्यत्र सूर्य को स्थावर और जङ्गम की आत्मा बताया जाता है—*सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।*[11] वैदिक देववाद के अनेकता में एकता का यही सूत्र है, क्योंकि प्रत्येक देव प्रत्येक देव में समाविष्ट हैं, इसलिए किसी भी देव को सर्वदेव कहा जा सकता है। और भी गहरी खोज करें, तो सभी देव क्योंकि प्राण रूप हैं, इसलिए प्राण ही देवता है। ***जैमिनीय ब्राह्मण*** के शब्दों में—*कतमैका देवतेति प्राण इति।*[11]

वैदिक त्रैतवाद

तीन लोक हैं, इसलिए तीन देवता हैं और तीन ही प्राण हैं। प्रतिदिन के अग्निहोत्र में इन तीनों को एक साथ जोड़ते हुए आहुति दी जाती है—*भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। भुववार्यवेऽपानाय स्वाहा। स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।* इन तीन ही देवताओं का त्रयी से सम्बन्ध है, इसलिए मंनु ने कहा है—*अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजुसामलक्षणम्।।*[12]

अग्नि, वायु और रवि एक ही तत्त्व के घन, तरल और विरल तीन रूप हैं। इस तरह अभिव्यक्ति में प्रकार भेद है, मूलतत्त्व एक ही है। मनु ने अग्नि, वायु और आदित्य से ऋक् यजु और साम की उत्पत्ति मानी है। मनु की इस मान्यता का मूल भी ***शाखायन ब्राह्मण*** में मिलता है—*सोऽग्नेनेवर्चेऽसृजत्, वायोर्यजूंषि, आदित्यात्सामानि।*[13] जिस प्रकार तीन देवताओं का सम्बन्ध तीन वेदों से हैं, उसी प्रकार तीन वेदों का सम्बन्ध वाक्, प्राण और मन से है—*ऋचं वाचं प्रपद्ये यजुः प्राणं प्रपद्ये, साम मनः प्रपद्ये।*[14] इस प्रकार—*जायमानो वै जायते सर्वाभ्यएताभ्य एव देवताभ्यः*—कहें, या मनु के शब्दों में *वेदादेव प्रसूयन्ते* कहें, एक ही अर्थ है।

तीन देव, तीन लोक

यज्ञ की परिभाषा में अग्नि, वायु और आदित्य को क्रमशः त्रिवृत्स्तोम्, पंचदशस्तोम और एकविंश स्तोम पर स्थित माना है। इन तीन स्तोमों के देवता क्रमशः वसु, रुद्र और आदित्य माने गये हैं। वसु संख्या में आठ हैं। ये ही पदार्थो को अभिव्यक्त रूप देते हैं—*यदिदं सर्व वासयन्ते तस्माद्वसवः।*[56] वसु कहो या अग्नि एक ही बात है। अभिव्यक्त रूप पाकर ही पदार्थ पदार्थ कहलाता है। यही पदार्थ की अर्थ शक्ति है। रुद्र वायु का ही रूप है। यही पदार्थ की क्रिया शक्ति है। रुद्र वायु का ही रूप है। यही पदार्थ की क्रिया शक्ति है—*वायुर्वे देवानामोनिष्ठः क्षेपिष्ठः।*[16] आदित्य ज्ञान है, वह मानों सबकी आँख है—*चक्षुरादित्यः।*[17] इस प्रकार जो अधिभूत में भू, अन्तरिक्ष और द्यौ है; वही अध्यात्मक में शरीर, प्राण और मन है तथा अधिदेव में अग्नि, वायु और आदित्य है।

देवासुर संग्राम

देव वे प्राण हैं जो सत्, अमृत और ज्योति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके विपरीत असुर प्राण असत्, मृत्यु और तमस् के प्रतीक हैं। इन दोनों में परस्पर जो संघर्ष होता है, वही देवासुर संग्राम नाम से प्रसिद्ध है। दिन के प्रकाश और रात्रि के अन्धकार में जो संग्राम चल रहा है, वह भौतिक स्तर पर होने वाला देवासुर संग्राम है। व्यक्तिगत स्तर पर जो हमारे मन में सत्प्रवृत्ति का असत् प्रवृत्ति से संघर्ष होता है, वह भी देवासुर सग्राम है। ***शतपथ ब्राह्मण*** कहता है कि यह देवासुर संग्राम कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है, क्योंकि ऋषि ने कहा है—हे मघवन्! तुम्हारा तो कोई शत्रु कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। जो तुम्हारे युद्धों का वर्णन है, वह तो एक माया है; न कोई आज तुम्हारा शत्रु है और न पहले किसी से कभी लड़े थे—*तस्मादाहुर्नेतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्ततो ह्येव तान् पाप्मनाऽविध्यत्ते तत एव पराभवन्निति। तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति, मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा युयुत्स इति।*[18]

यह कहा जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का लेखक मूल संहिताओं की आत्मा से बहुत दूर चला गया था, इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थ संहिता भाग की सच्ची व्याख्या नहीं कर सकते। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि ***शतपथ ब्राह्मण***[19] का ऋषि ***ऋग्वेद*** के ऋषि के शब्दों को ही थोड़े स्पष्टीकरण के साथ दोहरा रहा है। ऋग्वेद की मूल ऋचा है—

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाध शत्रुं ननु पुरा विवित्से।।[20]

ऊपर हमने ***माध्यन्दिनी शतपथ*** उद्धृत किया, किन्तु ***काण्व शतपथ*** में तो उपर्युक्त वैदिक ऋचा को ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर दिया गया है।[21] इस प्रकार देवासुर संग्राम या इन्द्रपुत्र युद्ध की ऐतिहासिकता को स्पष्ट अक्षरों में ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा निषिद्ध कर दिये जाने पर भी जो विद्वान इस संग्राम में आर्य-जाति और अनार्य जाति के बीच हुए युद्ध की कल्पना करके राष्ट्र में फूट का बीज डालने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें गजनिमीलिका से शास्त्र-प्रमाण की उपेक्षा करने वाला ही कहा जायेगा।

शास्त्रबल तथा शस्त्रबल का सामंजस्यः मित्रावरुणौ

वस्तु स्थिति यह है कि विश्व में शास्त्र बल भी चाहिए और शस्त्र बल भी। जब शस्त्र बल शास्त्र वल के अधीन रहता है, तो वह क्षत्र बल है, वरुण है, जो शस्त्र बल के द्वारा हिंसा करने के कारण असुर होता हुआ भी मित्र अर्थात् ब्रह्म वल के साथ जुड़कर देवकोटि में आजाता है किन्तु यही शस्त्र बल यदि ब्रह्म बल के अधीन न रहकर निरंकुश हो जाये, तो वृत्र बन जाता है, जिसका नाश करने के लिए इन्द्र को वज्र धारण करना पड़ता है। मित्र और वरुण मिलकर सृष्टिक्रम को आगे बढ़ाते हैं, इसलिए इन दोनों का परस्पर सायुज्य है, जो 'मित्रावरुणौ' देवता-द्वन्द्व समास में प्रकट होता है।

उच्छृंखल शस्त्र-बल

वृत्र वह उच्छृंखल आसुरी वृत्ति है, जो किसी के अनुशासन में न रहकर सृष्टि के क्रम को नष्ट करती है। इसी वृत्र के इन्द्र द्वारा मारे जाने का वर्णन श्रुति बार-बार करती है। इसी वृत्र को मारकर इन्द्र महेन्द्र बन गया—*इन्द्र, वै वृत्रं हत्वा स महेन्द्रोऽभवत्।*[22] दूसरी ओर यद्यपि वरुण भी असुर है, तथापि वह मित्र के अनुशासन में रहते हुए देवत्व को प्राप्त हो गया। ***काठक संहिता*** मित्र और वरुण में मित्र को मित्र और वरुण को क्रूर बताती है—*मित्रं मित्रः क्रूरं वरुणः।*[23] इनमें मित्र ब्रह्म शक्ति है, तो वरुण राजशक्ति—*क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः।*[24] यह राज-शक्ति जब तक सबके मित्र ब्राह्मण से अनुशासित रहती है, तब तक शत्रुओं पर विजय पाती है—*यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान्भवति।*[25] इसके विपरीत ब्रह्म शक्ति को कभी राज-शक्ति का मुँह नहीं ताकना चाहिए—*ब्राह्मणो अराजन्यः स्यात्।*[26]

संदर्भ :

1. मैत्रायणी संहिता 3.2.1., शतपथ ब्राह्मण 7.2.3., तैत्तिरीय संहिता 6.1.4.5.
2. शतपथ ब्राह्मण 6.3.1.21

3. तैत्तिरीय संहिता 7.5.25.1
4. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण 3.1.4.9
5. शतपथ ब्राह्मण 9.1.1.23
6. मैत्रायणी संहिता 3.6.9
7. मैत्रायणी संहिता 3.8.5
8. शतपथ ब्राह्मण
9. जैमिनीय ब्राह्मण 2.225
10. मैत्रायणी संहिता 4.5.9
11. जैमिनीय ब्राह्मण 2.77
12. मनुस्मृति 1.23
13. शांखायन ब्राह्मण 6.10
14. यजुर्वेद
15. शतपथ 11.6.3.6
16. तुलनीय-तैत्तिरीय आरण्यक 1.17.1, जहाँ वायु के भी ग्यारह रूप बताये गये हैं- अथ वायोरकादशपुरुषस्यैकादश स्त्रीकस्य
17. मैत्रायणी संहिता 2.5.1
18. शतपथ ब्राह्मण 3.2.2.13
19. शतपथ ब्राह्मण 11.1.6.9.10
20. ऋग्वेद 10.54.2
21. काण्व शतपथ 3.1.12.9-10
22. कपिष्ठ कठ संहिता 44.3
23. काठक संहिता 7.11
24. तैत्तिरीय संहिता 3.1.2.7
25. शतपथ ब्राह्मण 5.4.4.15
26. शतपथ ब्राह्मण 4.1.4.6

श्रुति और स्मृति

सिद्धेश्वर प्रसाद

किसी भी धार्मिक-सांस्कृतिक परम्परा में मूल धर्मग्रन्थ को आप्त वचन या स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है, जिसमें निहित सत्य को जाना जाता है और सनातनी परम्परा में वेद की सर्वोच्चता निर्विवाद है। 'नास्तिको वेदनिन्दकः' के रूप में सनातनी परम्परा वेद की ईश्वरतुल्यता स्वीकार कर वेदनिन्दक को ही नास्तिक मानती है।

श्रुति जबकि त्रिकालातीत है, स्मृति काल-सापेक्ष्य। श्रुति जबकि धर्म के सनातन रूप को व्यक्त करती है, स्मृति उसके युगानुरूप को। मनु ने स्वयं धर्म के इस युगानुरुप पक्ष को ध्यान में रखकर सत्य युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलि युग के लिए धर्म के स्वरूप को एक ओर युगानुरूप बताया है और दूसरी ओर विभिन्न वर्णों और आश्रमों के लिए पृथक-पृथक धर्म का भी निरूपण किया है।

मध्य युग में जब सनातन धर्म ने वैदिक स्वरूप के स्थान पर पौराणिक स्वरूप को ग्रहण कर लिया, तो श्रुति और स्मृति का यह अन्तर लुप्तप्राय हो गया। मध्य युग में वेदो का अध्ययन लुप्तप्राय हुआ ही, युगानुरूप स्मृति-ग्रन्थों की रचना बन्द हो गयी और मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, नारद आदि के ग्रन्थों पर ही टीकाएं और व्याख्याएँ लिखी जाती रहीं। फलतः वेद-बाह्य आचार-विचार लोक में प्रचलित होते गये और भारतीय समाज स्मृतियों के बन्धनों में इस प्रकार से जकड़ता गया कि उसकी प्राणवत्ता और मौलिक रचनात्मक क्षमता ही क्षीण होती चली गयी। वैदिक ऋषियों ने जीव और जगत को जिस मुक्त भाव से ग्रहण किया था, उस आधार पर जो जीवन-दृष्टि विकसित की थी, जीवन के उस यथार्थ से पौराणिक भारत के अनुयायियों को ऑखें मिलाने का साहस ही नहीं होता था। इसके लिए दो-एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। महाभारत के पुरुषोत्तम कृष्ण को *श्रीमद्भागवत्पुराण* में लीला पुरुष का रूप दिया गया और वाल्मीकि के राम भी रसिकविहारी हो गये। धर्म के तेज का स्थान 'राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है' ने ले लिया, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज को नया रूप देने की प्रेरणा का स्रोत ही अदृश्य हो

सनातन धर्म में जो स्थान श्रुति का है, वही स्थान बौद्ध धर्म में त्रिपिटिक का, ईसाई धर्म में बाइबिल का और इस्लाम में कुरान का है। जिस प्रकार से सनातन धर्म में, मध्य युग में, श्रुति का स्थान स्मृति ने ले लिया, जिसका दुष्परिणाम हमारे सामने है, उसी प्रकार से इस्लाम में कुरान का स्थान शरीयत ने ले लिया है। शरीयत इस्लाम की स्मृति है और स्मृति या शरीयत को वेद या कुरान का स्थान दे देना, न केवल धर्म के मूल स्वरूप

की उपेक्षा, बल्कि धार्मिक कट्टरता और संकीर्णता को बढ़ावा देना है। अपने मूल रूप में सभी धर्मग्रन्थ ईश्वर की अनुभूति अर्थात अध्यात्म के पोषक हैं, परन्तु सभी धर्मो की स्मृतियाँ उस युग की सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप होने को कारण अपने युग से बँधी होती हैं, जबकि युग परिवर्तन के कारण युगानुरूप नयी स्मृतियों की रचना की अनिवार्यता मानव-समाज के विकास के लिए आवश्यक है। इस यथार्थ को न स्वीकार करने के कारण ही एक ओर समाज का विकास रुक जाता है और दूसरी ओर धार्मिक कट्टरता संघर्ष का रूप ले लेती है। वेद और कुरान से जुड़ने पर उनके अनुयायियों में संघर्ष नहीं होगा; पर स्मृति और शरीयत से जुड़ने पर कट्टरता आयेगी और संघर्ष की भी आशंका बनी रहेगी।

भारत में रामकृष्ण परमहंस ओर स्वामी दयानन्द के कारण जिस नवजागरण युग का प्रारम्भ हुआ है, उसके प्रवक्ता के रूप में स्वामी विवेकानन्द ने 1893 के विश्व-धर्म-सम्मेलन में, जो बात कही थी वह और किसी वक्ता ने उस सम्मेलन में नहीं कही, वह है सर्व-धर्म-सम-भाव अर्थात् सभी धर्मों का सह-अस्तित्व। उस युग की बात तो छोड़ दीजिये, जबकि अन्य सभी धर्मों के अनुयायी आज भी धर्म परिवर्तन कराकर अपने-अपने धर्मावलम्बियों की संख्या वढ़ाने में लगे हुए हैं, भारत के प्रवक्ता ने आज से सौ साल पहले इसकी निरर्थकता और इस कट्टरता से उत्पन्न होने वाली कटुता की ओर संकेत कर दिया था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विश्वास के अनुसार जीने के अधिकार को, जब तक सारे विश्व में मानवमात्र के मूल अधिकार के रूप में नहीं स्वीकार कर लिया जाता, तब तक मतदान के अधिकार से मानव-समाज का कायाकल्प होनेवाला नहीं है। शिकागो के विश्व-धर्म सम्मेलन के बाद फिर पिछले वर्ष विश्व-धर्म सम्मेलन के आयोजन की रस्म अदा की गयी, परन्तु स्वामी विवेकानन्द के बाद के सौ वर्षों में धार्मिक कट्टरता की जो गाँठ मजबूत होती गयी है, इसके लिए कोई मार्ग नहीं निकल सका, क्योंकि इस धर्म सम्मेलन में जो लोग जमा हुए थे, उन्हें समकालीन विश्व की चुनौती का कोई अता-पता था ही नहीं।

श्रुति के मंत्र में स्मृति का युगानुरूप देने का बीज निहित होता है, जिसके गूढ़ार्थ को सतत् अभ्यास और तपस्या से ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि सत्य पाने के लिए सत्य को जीना होता है, सम्पूर्ण जीवन को सत्यमय् बनाना होता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही स्मृति को युगानुरुप रूप प्रदान कर सकता है। सत्य जीवन का सबसे बड़ा यथार्थ है और यथार्थ जीवन का सबसे बड़ा सत्य। जीवन का जो बाह्य यथार्थ सतत् परिवर्तनशील है, उसे स्मृति की गरा में जंज़ीरों से जकड़ कर कैसे रखा जा सकता है? नदी की जो सतत् धारा प्रवाहित हो रही है, उसके उसी जल में पुनः कैसे डुबकी लगायी जा सकती है? हर व्यक्ति और हर युग को अपना जीवन जीना होता है।

युगानुरूप स्मृति-व्यवस्था नहीं होने से समाज में जड़ता आ जाती है। जड़ता या कठोरता समाज को तोड़ देती है, उसकी रचनात्मक क्षमता को निःशेष कर देती है। इसका परिणाम यह हुआ कि बाहरी हमलावर वरावर भारत को अपने पैरों से रौंदता आया, भारतीय समाज टूटता और बिखरता गया तथा इसकी भावात्मक एकता भी गुलामी की राख के नीचे दब कर अपनी तेजस्विता को खोती गयी। युगानुरूप स्मृति-व्यवस्था के अभाव में अन्य धर्मों के समाज में भी ऐसा ही हुआ और उनके समाज भी मूल धारा से अलग पड़कर टूटते और विखरते गये।

ऐसे दुर्दिन में भी भारतीय परम्परा की रक्षा उन सन्तों और साधकों के कारण हुई, जिन्होंने साक्षात्कार की वैदिक साधना-परम्परा को अपने तप-बल से जीवित रखा। इसके निकटतम ज्वलन्त प्रमाण हैं रामकृष्ण परमहंस और महर्षि रमण, जिन्होंने लगभग निरक्षर होकर भी अपने तप-बल से आत्म-साक्षात्कार की शक्ति प्राप्त कर ली थी और अपने हज़ारों अनुयायियों को आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रेरित किया था। यही भारत की मूल आध्यात्मिक शक्ति है, यही वह सनातन धर्म है, जिसके सम्मुख मनु-जैसे स्मृतिकार, गौतम-जैसे बुद्ध, महावीर-जैसे तीर्थंकर, कबीर और नानक-जैसे सन्त नतमस्तक हैं।

श्रुति जोड़ती है; स्मृति बाँटती है, श्रुति दृष्टि प्रदान करती है और स्मृति दृष्टि-पटल पर अपना ऐनक लगा देती है, जिससे यथार्थ का वास्तविक स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। स्मृति श्रुति की दृष्टि की पकड़ में तभी सहायक हो सकती है, जब वह युगानुरूप अर्थात् श्रुति द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ के अनुरूप परिवर्तशील यथार्थ को उस रूप में प्रस्तुत करती रहे कि वह जीवन के बोध में, जीवन को उसकी सम्पूर्णता में जीने में सहायक हो। उपनिषद्-वचनों में ब्रह्मसूत्र ने जिस प्रकार विरोध नहीं, बल्कि एकवाक्यता स्थापित करने की कोशिश की, उसी प्रकार से स्मृतिकार को भी युगानुरूप अपना प्रयास करते रहना चाहिए।

श्रुति के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा के लुप्तप्राय हो जाने के कारण स्मृति ने जीवन को शतशः खण्डों में बाँट कर समाज की भावात्मक एकता के एकात्मक आधार को, जो श्रुति-सम्मत था, नष्ट कर दिया। स्मृति ने समाज को वर्ण, जाति, आश्रम आदि अनेक आधारों पर विभाजित कर कर्म के स्थान पर जन्म को प्रधानता प्रदान कर दी, जो सर्वथा वेद-विरुद्ध है। ऐसे बिखरे समाज में जब स्मृति ही प्रमाण बन गयी, तब भारत से शिक्षा का लोप-सा हो गया, क्योंकि स्त्रियों, वैश्यों, शूद्रों से अर्थात् आबादी के नब्बे प्रतिशत से वेदाध्ययन का अधिकार छीन लिया गया और जो वेदाध्ययन कर भी रहे थे, वे ऐसा आत्म-साक्षात्कार के लिए नहीं, बल्कि यज्ञ कराकर दक्षिणा प्राप्त करने के लिए कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज का ज्ञान से, जीवन के यथार्थ से, सम्बन्ध टूट गया और दूसरे देशों से दूसरे धर्मों के लोग जब अपने धर्म की पुस्तक अपने हाथ में लेकर सनातन धर्म को चुनौती देने के लिए आये, तो भारत उन्हें उनका समुचित उत्तर न दे सका; क्योंकि वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से निहत्था था।

अखण्ड श्रुति-परम्परा को संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के चार खण्डों में बाँट कर वेद की कर्मकाण्डी व्याख्या और स्मार्त सनातनधर्मी व्याख्या में ब्राह्मणों और आरण्यकों को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और संहिता भाग तथा उपनिषद् भाग की उपेक्षा की जाने लगी।

स्मृतियों में (सभी धर्मों में) बाह्याचार पर विशेष बल दिया गया है और आध्यात्मिक साधना या आन्तरिक साधना की किसी-न-किसी प्रकार से उपेक्षा की गयी है। लेकिन जैसा कि एक मध्यकालीन सन्त ने कहा है– *बातौं तो पहुँचौं नहीं।* धर्म का आध्यात्मिक मार्ग बातों से, विधि-विधानों से नहीं तय होता; इसके लिए आवश्यकता होती है तपस्या की, आन्तरिक साधना की। इसीलिए संसार के सभी धर्मों और सभी युगों के अध्यात्मवादी सदा आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में मानवमात्र की एकता की बात करते आये हैं।

आज सारे विश्व को एक ऐसी स्मृति की आवश्यकता है कि उस पर गठित समाज में व्यक्ति अपनी आस्था के अनुसार जीवन जी सके, अपने विचार और विश्वास के आधार पर अपने जीवन को ढाल सके। स्मृति जब श्रुति के लिए मार्ग प्रशस्त करेगी, तभी संसार से धार्मिक कट्टरता समाप्त होगी एवं नयी सभ्यता-संस्कृति के युग का शुभारम्भ होगा।

तांत्रिक योग : स्वरूप एवं मीमांसा

रुद्रदेव त्रिपाठी

'तंत्र' शब्द के शास्त्रकारों ने अनेक अर्थ किये हैं, जिनमें मुख्यतः सिद्धान्त, शासन-प्रबन्ध, व्यवहार, नियम, वेदशाखा, शिव-शक्ति आदि देव-देवियों की पूजा-विधायक शास्त्र, आगम, कर्मकाण्ड, पद्धति और विविध उद्देश्यों के पूरक उपाय आदि कोश-सम्मत हैं। जैसा कि *मेदिनीकोश* में कहा गया है-

तंत्रं कुटुम्बकृत्ये च सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
प्रधाने तन्तूद्भवे च शास्त्रभेदे परिच्छदे।।
श्रुति-शाखान्तरे हेतावुभयार्थ-प्रयोजने।
इति कर्तव्यतायां च .... *।।* इत्यादि।

वाचस्पत्य कोश ने और भी कुछ अन्य अर्थ दिये हैं, जिनमें व्युत्पत्ति की दृष्टि से 1. तननं तंत्रम्, 2. तन्यतेऽनेनेति तंत्रम्, 3. तन्त्रणं तंत्रम्, 4. तनोति त्रायते चेति तंत्रम्—इन व्युत्पत्तियों में विस्तार, धारण और पालनार्थक तनु, तत्रि और तन्- त्रैङ् धातुओं का प्रयोग हुआ है। इन्हीं सब अर्थों को लक्ष्य में रखकर परिभाषा की गयी है—

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तंत्रस्य तंत्रत्वं तंत्रज्ञाः परिचक्षते।।

और इसके अनुसार ''सभी अनुष्ठानों का विस्तार-पूर्वक ज्ञान तथा उनके प्रयोगों से सम्पादित कर्मों के द्वारा संरक्षण की प्राप्ति'' यह अर्थ उपलब्ध होता है। ***कामिकागम*** में भी इसी अर्थ की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमात्र-समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तंत्रमित्यभिधीयते।।

इस प्रकार अनेक अर्थ-तत्त्वों से गर्भित तंत्र-शब्द 'कर्मों के युगपद्-भाव-कर्मणो युगपद्भावस्तंत्रम' (1+7/1—कात्यायन श्रौत सूत्र) के रूप में व्यवहृत होता आया है।

तंत्र के प्रकार और योग

"इष्टदेव अथवा देवी की उपासना में उपयोगी, साधकों के द्वारा अनुष्ठेय सभी अनुष्ठानों का विधान ही तंत्र है"—इस दृष्टि से तंत्र के दो प्रकार हो जाते हैं—1. ज्ञान और 2. विज्ञान। इन दोनों के आधार पर पृथक-पृथक व्यवस्था होने से 'तांत्रिक-विज्ञान' के रूप में तंत्र-सम्बन्धी प्रक्रियाओं का पर्याप्त विकास हुआ है। इसी प्रकार 'योग' शब्द भी अपने आप में अनेकविध अर्थों को समोये हुए है[1] और विभिन्न आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। तथापि—*योगश्चित्तवृत्ति निरोधः*—इस पातंजल—योगसूत्र पर ही हमारा ध्यान जाता है और वस्तुतः इस परिभाषा के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध और तदर्थ किये जाने वाले साधनों का नाम 'योग' है।

यौगिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में आचार्यो ने बड़े ही विस्तार से विवेचन किया है और योग के अंग-प्रत्यंगों का निरूपण भी पर्याप्त विस्तृत प्राप्त होता है। राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग और लययोग के नाम से चार विभागों में विभक्त यौगिक क्रियाओं के विस्तार के साथ ही कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि अनेक योगों का सांगोपांग विवेचन भी ग्रन्थों में किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से 'युज' धातु के अर्थ 1. जोड़ना-संयोजित करना और 2. समाधि—मन की स्थिरता है। प्रायः सभी चिन्तकों ने इन दोनों अर्थों को आधार बनाकर 'योग' का सम्बन्ध जोड़ने के लिए अपनी-अपनी परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें धर्मव्यापार, आध्यात्मिक भावना, समता-विकास मनोविकार क्षय, मन-वचन-कर्म-संयम, आत्मविशुद्धि आदि के लिए की जाने वाली साधना के द्वारा आत्मा को मोक्ष के साथ संयोजित करने का भाव समाविष्ट है।[2] जैन और बौद्ध सम्प्रदाय में भी ऐसी ही भावना को अभिव्यक्ति देने वाले कर्म विशेष को योग कहा गया है; किन्तु उन्होंने अपने-अपने कतिपय पारिभाषिक शब्द भी इसके निमित्त निर्धारित कर लिये हैं, जो उनके आगमों और पिटकों की परिधि में प्रविष्ट प्रक्रियाओं के परिशीलन के साथ ही साम्प्रदायिक साधना-तत्त्वों को भी परिलक्षित करते हैं।

योग-परम्परा में ज्ञान और क्रिया का अनूठा समन्वय रहता है। ये दोनों जब बाह्यभाव से अनुष्ठित होते हैं, तो इनके द्वारा उत्तम स्वास्थ्य, आंतरिक उल्लास, शरीरावयवों की समुचित सुदृढ़ता एवं कार्यक्षमता, रोग-निवृत्ति, द्वन्द्वसहिष्णुता आदि गुण भी विकसित होते हैं, जो व्यवस्थित आन्तरिक साधना के लिए भी नितान्त आवश्यक होते हैं। जब अन्तर्भाव से योगानुष्ठान किया जाता है, तो उसमें भी ज्ञान के साथ क्रियाएँ की जाती हैं, जिनमें अष्टांग और उनके विभिन्न भेदों से निर्दिष्ट अन्य अंगों का प्रबोधन विधान भी किया जाता है। इस अनुष्ठान के द्वारा साधक शरीर के अर्न्तगत स्थूलचक्र, सूक्ष्मचक्र, प्रमुखनाड़ी तंत्र, गुच्छरूप में स्थित नाड़ीसमूह तथा उनके क्रियाकारित्व के उन्मेष से प्रभावित होने वाली विधियों को न केवल योगमूलक अंगानुसाधन से ही समाध्युन्मुख बनाता है, अपितु स्वयं को बीजमंत्र, नाममंत्र एवं इष्ट मंत्रों से सिद्धि-शिखरासीन भी करता है।

तांत्रिक योग के अंग और उपांगों का ज्ञान

साधना के लिए शरीर और उसके अंग-अवयवों का ज्ञान अत्यावश्यक माना गया है। शारीरिक रचना की स्थूल दृष्टि से विवेचना साधना-मार्ग में वैसे कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती है; किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से शरीर के

अन्तर्गत अवयवों का परिज्ञान किये बिना साधना अपूर्ण ही रहती है, यह एक शाश्वत सत्य है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए आद्य शंकराचार्य-प्रणीत ***यतिदण्डैश्वर्य-विधान*** में स्पष्टतः कहा गया है—

यतिदण्डे साधनाया ये ये मार्गाः प्रदर्शिताः।
तेषां सम्यक्-सिद्धिलब्ध्यै योगज्ञानमपेक्षितम्।। 3/1।।

और इसी प्रसंग को पल्लवित करके समझाते हुए 1. शरीरस्थ चक्र 2. नाड़ी 3. वायु 4. वायु के स्थान, वर्ण कार्य, इन्द्रिय-परिवार 5. आधारादि चक्र (कल्पानुसार), 6. चक्रों की अधिष्ठात्री देवियाँ 7. चक्रों के सृष्ट्यादिक्रम 8. चक्रों की देवियाँ 9. नाड़ियों के द्वारा चक्रों के निर्माण की प्रक्रिया 10. प्रमुख 16 नाड़ियों के स्थान 11. नाड़ियों की गति 12. नाड़ियों के विभिन्न समूहों की स्थिति, आकार और उनसे निर्मित चक्रों के स्वरूप 13. ग्रन्थिभेदन तथा 14. भिन्न-भिन्न चक्रों में जप का प्रकार और फल वर्णित किया है। वहीं एक स्थान पर यह भी कहा गया है—

जपाच्छ्रान्त पुनर्ध्यायेद ध्यानाच्छ्रान्तः पुनर्जपेत्।
जपध्यानादि-संयुक्तः क्षिप्रं मंत्रः प्रसिद्धयति।। 3/154।।

यद्यपि योग के प्रकारों में यत्र-तत्र उपर्युक्त विषयों का भी वर्णन प्राप्त होता है, तथापि 'तांत्रिक-योग' की यह प्रक्रिया, जैसी उपर्युक्त ग्रन्थ में निर्दिष्ट है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्यपाद ने सम्पूर्ण शरीर के स्वरूप का परिज्ञान कराते हुए नौ शरीरों का वर्णन किया है, जो कि क्रमशः मस्तिष्क में तीन, आँख और कान में एक-एक तथा हाथों और पैरों में दो-दो के रूप में स्थित हैं। समस्त नाड़ी जाल शक्ति के नामों से व्यवहृत है तथा उनके बीजमंत्र, नाम-मंत्र आदि से उस नाड़ी-जाल के प्रत्येक अवयव को तांत्रिक योग से ही प्रवुद्ध कर अभिलक्षित कर्म में प्रयुक्त किया जा सकता है, यह रहस्य ***यतिद्रण्डैश्वर्य-विधान*** से यत्किंचित अंश में प्राप्त होता है।

इतना ही नहीं, योग में वर्णित विभूतियों का रहस्य भी इसी ग्रन्थ में सजीव नाड़ियों के रूप में चित्रित है। साधक शरीरस्थ नाड़ी को प्रवुद्ध कर किसी भी विभूति को हस्तामलकवत् प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः यौगिक विभूतियों की उपलब्धि का गुरुगम मार्ग ही तंत्रपथ है और वही 'तांत्रिकयोग' नाम से अभिप्रेत है। जिस लक्ष्य की उपलब्धि के लिए योगमार्ग कठोर साधना का निर्देश करता है, उसी लक्ष्य की उपलब्धि तंत्रविधि द्वारा सहज और सरल-रूप से प्राप्त की जा सकती है। साथ ही तंत्र विधि के द्वारा उपलब्ध की जाने वाली विभूतियाँ योग की अपेक्षा कहीं अधिक सुगम और चिरस्थायिनी भी हैं।

तंत्रयोग और चक्र-विज्ञान

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा नामक छह चक्रों के विवरणों के साथ ही सहस्रार-चक्र का वर्णन योग ग्रन्थों में प्राप्त होता है; किन्तु तांत्रिक आचार्य इस दिशा में नयी खोज करते हुए बहुत आगे बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। चक्राराधना की दैनिक प्रक्रिया में मूलाधार से नीचे भी 1. अकुलसहस्रार

और 2. विषुव चक्रों का विधान है। मूलाधारादि छह चक्रों में 1. स्वाधिष्ठान, 2. मणिपूर, 3. अनाहत और 4. विशुद्ध चक्र अधोमुख भी हैं, साथ ही पूर्वादि दो-दो दिशाओं के योग से बने हुए अग्नि-वायु-ईशान-नैर्ऋत्य कोणात्मक चार चक्रों का चिन्तन-विधान भी तंत्रों में दिखलाया गया है। श्रीविद्या के दक्षिणामूर्ति मत में एक स्वास्तिक-चक्र और माना जाता है, जिसका स्थान मणिपूर और अनाहत के बीच ठीक ह्याकुला (Stemip) के पीछे होता है। इसका आकार स्वास्तिक के समान है और यह श्वेतवर्णी है। चित्तरूप हरिहर का इसमें मनन होता है तथा इसमें आठ दल हैं, जिनमें अं कं चं टं तं पं यं गं–ये आठ अक्षर अंकित रहते हैं तथा ***प्राणतोषिणी तंत्र*** में एक चौंसठ दलवाले ललनाचक्र की तालु में स्थिति मानी है। इस चक्र से पूर्व लम्बिका चक्र जो विशुद्ध और आज्ञा के मध्य माना गया है। आज्ञा के ऊपर गुरुचक्र शतदल की स्थिति, ब्रह्मरन्ध्र में तथा किसी-किसी ने सोमचक्र, मानसचक्र और ललाटचक्र का भी वर्णन किया है। यह ***कालीकल्प*** के अनुसार द्वादशचक्र का सूचक है।

आज्ञाचक्र को ***कालीकल्प*** और ***सुन्दरीकल्प*** दोनों में विभक्त मानकर योगतंत्रानुसार आज्ञाचक्र से एक-एक अंगुल ऊपर के भागों में सप्तकोश नामक मनश्चक्र और 1. बिन्दु 2. अर्द्धचंद्र 3. रोधिनी 4. नाद 5. नादान्त 6. शक्ति 7. व्यापिका 8 समना 9. उन्मनी तथा 10. महाबिन्दु की भी कल्पना की गयी है। ***यतिदण्डैश्वर्य-विधान*** में यह चक्र-क्रम 108 तक पहुँचता है। यथा–

अष्टोत्तर - शते चक्रे मन्त्र - पिण्डाक्षरात्मके।
द्विशतात्मों पुनः प्रोक्त उदयः सर्वसिद्धयः ।। इत्यादि।

तांत्रिक योग और सिद्धियाँ

सिद्धियों का वर्णन योगशास्त्र में किया गया है, जिनकी प्राप्ति को लक्ष्य में बाधक बतलाकर महामुनि पतंजलि ने उनसे बचने का भी संकेत कर दिया है, किन्तु उन सिद्धियों को यदि अकल्पिता रूप में प्राप्त किया जाता है, तो वे बाधक न होकर साधक ही बनती है। इस दृष्टि से सिद्धि के दो प्रकार माने गये हैं–1. अकल्पित सिद्धि और 2. कल्पित सिद्धि। इनमें प्रथम अकल्पित सिद्धि के लिए तंत्रोक्त-योग की नितान्त आवश्यकता होती है। इसके लिए कहा गया है–

मंत्राणां जपतो योगाद् धारणा- ध्यानतस्तथा।
न्यासात् सम्पूजनाच्चैव सिद्धयस्तु याः।।
अकल्पितास्ताः सम्प्रोक्ताश्चिरकाल-सुखप्रदाः।
प्रान्ते ब्रह्मपद्-प्राप्तावपि साहाय्यकारिकाः।।

3/9.–10 XX य.द.वि.

मंत्रजप, योग, धारणा, ध्यान, न्यास एवं पूजन से प्राप्त ऐसी अकल्पित सिद्धि ब्रह्मपद-प्राप्ति में भी सहायक होती है; जबकि रस, औषधि तथा क्रिया-समूहों के अभ्यास और साधनों से प्राप्त कल्पित सिद्धि क्षणस्थायी एवं स्वल्पसुखावह कही गयी है।

आध्यात्मिक एवं साधना-सम्बन्धी रहस्यों का उद्घाटन केवल योग से सम्भव नहीं होता है, यह बात बहुत प्राचीन काल में ही आचार्यों ने जान ली थी। यही कारण था कि लोक-कल्याण के तंत्र मार्ग का प्रवर्तन हुआ। योग के द्वारा निर्दिष्ट छह चक्रों के वैशिष्ट्य को परिलक्षित करते हुए उनके ऊर्ध्वमुख और अधोमुख होने का दिग्दर्शन कराते हुए यह भी स्पष्ट किया कि अभ्युदय के लिए अधोमुख-चक्रों की साधना और निःश्रेयस के लिए ऊर्ध्वमुख-चक्रों की साधना करनी चाहिए। इतना ही नहीं, अधोमुख चक्रों में से किसका ध्यान ऊर्ध्वमुख रूप में किया जाना चाहिए और क्यों, यह भी निर्देश किया है। चक्रों की उपासना के जप और ध्यान दोनों ही मान्य हैं; किन्तु जिज्ञासापूर्ति, आकर्षण शक्ति, बुद्धि विकास, ज्ञान-विज्ञानोपलब्धि एवं सामर्थ्यमूलक विभूतियों का यथार्थ रूप में अनुभव कर साधक किस प्रकार दिव्यता को पा सकता है, यह तांत्रिक-योग पर ही निर्भर है।

जपयोग, मंत्रयोग और तंत्र

तांत्रिक-योग में मंत्र और उसके जप का विधान एक विशिष्ट स्थान रखता है। जप में केवल मंत्र-वर्णों का स्मरण ही पर्याप्त नहीं माना जाता है, अपितु प्रत्येक मंत्र के वर्णों की मात्रा, काल, वर्ण, शरीर-चक्र स्थिति, स्थानरूप आकार, उनका उत्पत्ति-स्थान-कण्ठ-ताल्वादिगत और आन्तर तथा बाह्य प्रयत्नों का ज्ञान भी अपेक्षित है। साथ ही मंत्रान्तर्गत कूटों के व्यष्टि तथा समष्टिगत भेदों की भावना तथा पुट, धाम, तत्त्व, पीठ, अन्वय, लिंग और मातृका-रूप का चिन्तन भी आवश्यक माना गया है। मंत्र-वर्णों के सृष्टि, स्थिति और संहाररूप कर्म, तत्तत् कर्मों के शक्ति-युक्त अधिपति एवं प्रत्येक वर्ण के स्वरूप का चिन्तन भी किया जाता है तथा पांच अवस्था, षट् शून्य, सप्त विषुव और नवचक्र की भावना के साथ अपने मनोरथों का स्मरण करते हुए जो मंत्रवर्णों का उच्चारण किया जाता है, उसे 'जप' कहा जाता है।

इसे 'जपयोग' अथवा 'मंत्रयोग' के नाम से व्यक्त करते हुए आचार्यों ने योग की प्रक्रिया को अत्यन्त रहस्यमय रूप प्रदान किया है। इस साधना-क्रम में प्रविष्ट साधक का जप-विधान उत्कृष्ट बन जाता है और वह सिद्धि के इतने निकट पहुँच जाता है कि वहाँ संशय को कोई स्थान ही नहीं रहता। ***वरिवस्यारहस्य*** कार श्रीभास्करराय मखी ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

मंत्रयोग की विशेषता यह है कि इसमें शारीरिक चक्रों को उद्‌बुद्ध करने के लिए यौगिक क्रिया के साथ ही प्रत्येक चक्र अथवा स्थान-विशेष के मंत्रों का जप भी आवश्यक होता है। मुख्य रूप से ऐसा जप करने के लिए बीज-मंत्रों का ही प्रयोग किया जाता है, साथ ही फल की अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए आम्नाय एवं चक्रस्थान-विशेष का अनुसन्धान करना भी तंत्र-शास्त्रों में निर्दिष्ट है। वैसे तो प्रत्येक स्वर और व्यंजन अपने आप में बीजमंत्र ही हैं; किन्तु परस्पर मातृकावर्णों का संयोजन करके उनके साथ शक्ति अथवा देव-भैरव के स्वर-बीजों का समीकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। ऐसे बीजाक्षरों को संयुक्त करके ही पिण्डाक्षर एवं कूटाक्षर बनाये जाते हैं और उन्हें यंत्र-पद्धति से अंकित करके उपासना की जाती है।

कूटमंत्र-विज्ञान

कूटमंत्रों का उद्धार करने के लिए तत्त्वात्मक बीजों के उद्भव को भी जान लेना आवश्यक होता है। जैसे 'लं' पृथ्वी का बीज है। पंचीकृत पृथ्वीतत्त्व कहने से इस 'लं' बीज का ही बोध होता है। हलन्त 'ल्' भी पृथ्यात्मक है, परन्तु यह बीज अपंचीकृत पृथ्वीतत्त्व का वाचक है। अन्य बीज भी ऐसे हलन्त रूपों में अपंचीकृत तत्त्वात्मक ही होते हैं। हलन्त मकार 'म्' में अपंचीकृत तत्त्वात्मक बीज का योग करने से वह सार्थक बनता है। इसीलिए समस्त बीजों में अनुस्वार संयोजन का प्रचलन है। वैसे 'ई' और 'ऊ' इन दो अक्षरों को दीर्घ करने पर ऊ से व्यापकत्व का बोध होता है और 'ई' करने से व्यापकसत्ता का बोध होता है। इस प्रकार 'ऊ' आकाश बीज व्यापकत्व वाचक है और 'ई' मायावाचक व्यापकसत्ता का वाचक है। अतः जब कमलदल पर शक्ति का समष्टिरूप अंकुरित होता है, तो उस अवस्था में जिस देवीशक्ति के मंत्र का प्रादुर्भाव होता है, उसके नाम का आदि अक्षर प्रारम्भ में और तत्पश्चात् अर्थपरक मकार, फिर पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का अपंचीकृतरूप और तब आकाशतत्त्वात्मक 'ऊ' कार रूप संयुक्त होकर कूटाक्षर मन्त्र का निर्माण होता है। समस्त डाकिनी, शाकिनी, लाकिनी आदि चक्राधिष्ठात्री शक्तियों के बीजाक्षरों की उत्पत्ति इसी प्रकार होती है।

मुख्यतः छह चक्रों की शक्तियों के आद्याक्षर 'ड-र-ल-क-स-ह' हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक दल में स्थित वर्णो की शक्तियों के नामों से भी आद्याक्षर लेकर उनके बीजाक्षर लिये जाते हैं। सम्पूर्ण मातृकावर्णो के जब कूटाक्षर बनाये जाते हैं, तो उनमें 'मलवरयऊं' ये छह अक्षर और जोड़ दिये जाते हैं। यथा ड्मलवरयूं, रमलवरयूं, तमलवरयूं आदि। वस्तुतः बीजमन्त्रों का सिद्धान्त अत्यन्त यांत्रिक है। जिस अक्षर का उच्चारण होता है, चाहे वह वैखरी, मध्यमा या पश्यन्ती आदि किसी भी रूप में हो और वाचक, उपांशु अथवा मानसिक विधि से किया गया हो, उसके द्वारा नाड़ी के तत्सम्बन्धित पुंजरूपी कल्पित चक्र के दल पर श्वास का विशेष धक्का लगता ही है, जिससे उस दल में उसी अक्षर की भावना होती है। वर्णमाला के कौन-कौन से अक्षर किस-किस चक्र के दलों पर अंकित माने गये हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति-भूमि कहाँ पर है, इसके लिए चक्रों का ज्ञान आवश्यक है। यह सब विषय तांत्रिक-योग की परिधि में ही वर्णित हैं, अतः इस योग का सूक्ष्मता से परिशीलन होना चाहिए।

चक्र-भावनात्मक मंत्रोपासना

तंत्रागमों में षट् चक्र के अतिरिक्त चारों दिशाओं के कोण-प्रदेशों में दो-दो दिशाओं के अंशों का मिलन होने से चार स्थान उनके उभयात्मक माने गये हैं तथा कोणों की परिणति होने पर बने चार कोणों के चक्र भी स्वतंत्र रूप से मान्य किये गये हैं। इस प्रकार 6 चक्र, 4 कोण-प्रदेशस्थ चक्र और 4 कोण-चक्र मिल कर 14 चक्र बनते हैं। आम्नायों का मुख्य रूप भगवान् शिव के चतुर्दिग्गत मुख और ऊर्ध्वमुख के आधार पर 5 माना गया है। इनमें अधोमुख (कंठ की घण्टिका में स्थित) मानकर 1 और जोड़ने से 6 आम्नाय होते हैं।

इन छह आम्नायों के अतिरिक्त कोणप्रदेशस्थ-उभयात्मक चार चक्र भी आम्नायरूप में वर्णित हैं और चार कोण वायव्यादि को भी आम्नाय में सम्मिलित करने पर इनकी कुल संख्या 14 हो जाती है। इनमें उपासना करने वालों के लिए पृथक-पृथक उपासना-पद्धतियों के उपदेश होने से 14 आम्नाय मान्य होते हैं। शाक्त-साधकों

के लिए साधना के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं–1. केवल शक्ति की अथवा शक्ति के परिवार देवताओं की साधना, 2. शिव-शक्ति की मिश्रित उपासना (अर्धनारीश्वर रूप) तथा 3. शक्ति-प्रधान सर्वदेवोपासना।

प्रत्येक चक्र में शक्ति और उसके विभिन्न स्वरूपों का सर्वप्रथम बीज-मंत्रात्मक-चिन्तन करना शास्त्रविहित है। छह चक्रों का क्रम भी इस साधना के समय बदल जाता है। एतदर्थ निम्नलिखित तालिका और बीज/कूट मन्त्र ज्ञातव्य हैं–

1. मणिपूर–ॐ क्रीं
2. मूलाधार–ॐ स्त्रीं
3. आज्ञा–ॐ क्लीं
4. विशुद्ध–ॐ फ्रें
5. स्वाधिष्ठान–ॐ हीं
6. अनाहत–ॐ ह् स् ख् फ् रें
7. पश्चिम दक्षिण–ॐ ह् स् ख् फ् रें क्रीं
8. दक्षिण-पूर्व–ॐ क्रीं ह्रीं
9. पूर्वोत्तर–ॐ ह्रीं फ्रें
10. उत्तर-पश्चिम–ॐ फ्रें ह स् ख् फ् रें
11. वायव्य–ॐ फ्रें ह स् ख् फ् रें
12. ईशान–ॐ ॐ हीं फ्रें
13. आग्नेय–ॐ क्रीं ह्रीं
14. नैर्ऋत्य–ॐ ह् स् ख् फ् रें क्रीं

इस प्रकार प्रारम्भ में पुरश्चरण की प्रक्रिया से इन बीज-मन्त्रों का भावना-पूर्वक जप कर लेने पर अग्रिम इष्टमंत्र का प्रतिदिन जप करना चाहिए। यह तंत्रयोग की पद्धति से मंत्रसिद्धि का सुगम उपाय बतलाया गया है। यहाँ यह भी अविस्मरणीय है कि जिन मंत्रों का पहले पुरश्चरण सम्पन्न कर लिया गया है, उनका एक बार अथवा 11 बार नित्य स्मरण करके ही अग्रिम मंत्र का जप प्रारम्भ करना चाहिए।

तंत्रयोग की प्रमुख सावधानियाँ

योग-मार्ग वैसे परिश्रम-साध्य तो है ही, तंत्र-योग उससे भी अधिक श्रम-साध्य है; क्योंकि इसमें चित्तवृत्तिनिरोध से आरम्भ करके योग के अंग-प्रत्यंगों का भी समावेश होता है। तंत्रयोग द्वारा राजयोग, हठयोग, मंत्रयोग तथा लययोग की साधना भी सुसम्पन्न हो जाती है। कुण्डलिनी-प्रबोधन होकर सिद्धि के सभी सोपानों पर चढ़ने का यह राजमार्ग है।

यत्र ज्ञानं योगमार्गेण लब्ध्वा,
साध्याधारेणातिशीघ्रं स्वसिद्धेः।
लक्ष्यं साक्षात् साधकाः प्राप्नुवन्ति,
सोऽयं सिद्धस्तान्त्रिकोयोग आस्ते।। (1)

सर्वे योगा यत्र लीना भवन्त
स्तंत्रङ् गत्वं नित्यमेवाश्रयन्ते।
एकं तत्त्वंसर्वसिद्धं प्रशस्तं
श्रित्वा सिद्धीस्तंत्रयोगाल्लभन्ताम्।। (2)

संदर्भ :

1. संयोग, उपाय, ध्यान, संगीत, प्रेम, छल, प्रयोग, औषधि, धन, लाभ, कौशल, परिणाम, नियम, उपयुक्तता, उपायचतुष्टय–साम, दाम, दंड ओर भेद, सम्बन्ध, सद्भाव, शुभफल, वैराग्य, सुयोग, मोक्षोपाय, समाधि, चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया तथा यंत्र-मंत्र, तंत्रादि से साध्य क्रिया–ये और ऐसे ही कुछ अन्य अर्थ कोशग्रन्थों में मिलते हैं।
2. प्रमाण के लिए निम्नलिखित मूलांश दर्शनीय हैं–
   (क) योग आत्मा। (तैत्तिरीयोपनिषद् 2/4)
   (ख) तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणाम। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभावाप्ययौ।। (कठोपनिषद् 2/6/11)
   (ग) अध्यात्मयोगाधिगमने देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति। (वही 1/2/12)
   (घ) तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेताश्वतरोपनिषद 6/13)
   (ङ) तथा–तैत्तिरीय. 2/4, कठ. 2/6/11, श्वेता. 2/11/6/3, 1/14, छन्दो. 7/6/2, 7/7/1, कौशीतकि. 3/2, 3/3, 3/4 । 7/6/1, 7/26/1

अनावरण बोध

रामशंकर त्रिपाठी

विश्व रंगमंच पर भगवान बुद्ध का आविर्भाव एक अद्भुत घटना है। दर्शन और अध्यात्म के क्षेत्र में उन्होंने जो मानदण्ड स्थापित किया, वह अतुलनीय है। महायान बौद्ध धर्म के अनुसार एक-न-एक दिन सभी प्राणियों को बुद्धत्व प्राप्त करना ही है। सभी में बुद्धत्व का बीज निहित है। आवश्यकता है उस बीज को उपाय द्वारा शीघ्र अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित करने की। महाकारुणिक भगवान बुद्ध ने प्राणियों की रुचि, बुद्धि और क्षमता के अनुरूप उस उपाय का निर्देश किया है।

प्राणियों में दो प्रकार के आवरण होते हैं—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण। इन आवरणों की वज़ह से उनमें निहित वह बुद्धबीज अंकुरित नहीं हो पाता। इसलिए बोधि की प्राप्ति के लिए इनका प्रहाण परम आवश्यक है और यह प्रहाण भी सम्यग् ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। अतः यहाँ निम्नलिखित चार बातों पर विचार किया जाता है :

1. आवरण का स्वरूप
2. आवरणों के प्रहाण का क्रम
3. सम्यग् ज्ञान का विकास
4. सम्यक् सम्बोधि की सिद्धि

आवरण का स्वरूप

(क) ***श्रावक यान***—ज्ञात है कि निर्वाण ही श्रावकयानियों का चरम लक्ष्य है। अविद्या ही संसार का मूल है। अविद्या की वज़ह से ही, राग, द्वेष आदि सभी प्रधान क्लेश उत्पन्न होते हैं। ये क्लेश ही क्लेशावरण हैं और ये ही निर्वाण की प्राप्ति में प्रमुख बाधक हैं। स्थविरवादी, वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि श्रावकयानियों के मतानुसार एक ही आवरण होता है और वह 'क्लेशावरण' है।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—इन पाँच स्कन्धों का समूह ही बौद्ध मत के अनुसार 'व्यक्ति' है। इनके अतिरिक्त उसमें किसी नित्य आत्मा की कल्पना करना 'पुद्गलात्मदृष्टि' है। यह आत्मदृष्टि ही अविद्या है। यह नितान्त मिथ्या है, क्योंकि इसका विषय पुद्गल या आत्मा सर्वथा नहीं है। यही अविद्या मोक्ष (निर्वाण) प्राप्ति में बाधक है। अतः निर्वाण प्राप्ति के लिए इसका प्रहाण आवश्यक होता है।

(ख) ***महायान***–यह आत्मदृष्टि (अविद्या) भी दो प्रकार की है–पुद्गलात्मदृष्टि और धर्मात्मदृष्टि। पुद्गलात्मदृष्टि का स्वरूप ऊपर कहा गया है। बाह्य और आन्तरिक पदार्थों की सत्ता मानना या बाह्य पदार्थों की सत्ता के प्रति अभिनिवेश (आग्रह) रखना 'धर्मात्मदृष्टि' है। यह क्लिष्ट अविद्या है। यद्यपि यह मोक्ष की प्राप्ति में बाधक नहीं है; फिर भी जब तक यह रहती है, तब तक ज्ञान सभी विषयों में अनासक्त और अप्रतिहत रूप से प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् ज्ञान अखण्ड और व्यापक नहीं हो पाता, व्यक्ति सर्वज्ञ या बुद्ध नहीं हो पाता। अतः बुद्धत्व प्राप्ति के अभिलाषियों के लिए इसका प्रहाण भी आवश्यक होता है। योगाचार और माध्यमिक दर्शन में इसके स्वरूप के बारे में भेद है। अतः उसे दिखाया जा रहा है।

(ग) ***योगाचार मत***–इनके मत के अनुसार क्लेशावरण का स्वरूप प्रायः वैसा ही है, जैसा ऊपर कहा गया है; अर्थात् अविद्या आदि क्लेश ही क्लेशावरण हैं उनमें सत्कायदृष्टि (पुद्गलात्मदृष्टि) प्रमुख है। सत्कायदृष्टि ही संसार का मूल है और उसी से अन्य सारे क्लेश उत्पन्न होते हैं। बीज सहित क्लेशों के प्रहाण से मोक्ष प्राप्त होता है और मोक्ष प्राप्त व्यक्ति 'अर्हत् कहलाता है। पाँच स्कन्धों से अतिरिक्त नित्य आत्मा की अवधारणा पुद्गलात्मदृष्टि है। यद्यपि अविद्या के स्वरूप के बारे में योगावचार विद्वानों में कुछ आपसी मतभेद हैं, किन्तु सूक्ष्म चर्चा का यहाँ अवसर नहीं है।

ज्ञान से भिन्न पदार्थो की सत्ता मानना अथवा ग्राह्य और ग्राहक (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों की पृथक्-पृथक् द्रव्यसत्ता मानना योगाचार मतानुसार धर्मात्मदृष्टि है। यह धर्मात्मदृष्टि और उसके बीज "ज्ञेयावरण" हैं। यह धर्मात्मदृष्टि सर्वज्ञता की प्राप्ति में प्रमुख बाधक है; मोक्ष प्राप्ति में यह बाधक नहीं है। इसके रहते भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

पुद्गल (आत्मा) वस्तुतः नहीं है, यह ज्ञान पुद्गलनैरात्म्यज्ञान कहलाता है। इससे पुद्गलात्मदृष्टि का प्रहाण होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञान से भिन्न पदार्थो की अथवा ग्राह्य और ग्राहक की पृथक सत्ता नहीं है। ऐसा ज्ञान 'धर्मनैरात्म्यज्ञान' कहलाता है और इस ज्ञान से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। बुद्धत्व प्राप्ति के अभिलाषी साधक को भी पुद्गलात्म दृष्टि का पहले प्रहाण करना आवश्यक होता है।

(घ) ***माध्यमिक मत***–माध्यमिक भी दो प्रकार के हैं–स्वातन्त्रिक माध्यमिक और प्रासंगिक माध्यमिक। अब इनके मतानुसार आवरणों के स्वरूप का विचार किया जा रहा है।

1. ***स्वातन्त्रिक माध्यमिक***–क्लेशावरण, पुद्गलात्मदृष्टि और पुद्गलनैरात्म्यज्ञान का स्वरूप इनके मत में भी वैसा ही है, जैसा श्रावकमत और योगाचार मत के सम्बन्ध में ऊपर कहा गया है। ज्ञेयावरण के स्वरूप में फ़र्क़ है, जिसे कहा जा रहा है।

समस्त बाह्य और आन्तरिक पदार्थो की परमार्थतः सत्ता मानना इनके मत में धर्मात्मदृष्टि है और यही ज्ञेयावरण है। यही सर्वज्ञत्व की प्राप्ति में प्रमुख बाधक है। वस्तुतः पदार्थो की परमार्थतः सत्ता नहीं हुआ करती, इस प्रकार का ज्ञान इनके अनुसार 'धर्मनैरात्म्यज्ञान' है और इससे धर्मात्मदृष्टि या ज्ञेयावरण का प्रहाण होता है और व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति में समर्थ होता है।

2. ***प्रासंगिक माध्यमिक***–दोनों आवरणों का स्वरूप जैसा ऊपर कहा गया है, उससे सर्वथा भिन्न स्वरूप इस मत में माना जाता है। ऊपर दो प्रकार की आत्मदृष्टि (पुद्गलात्मदृष्टि और धर्मात्मदृष्टि) मान कर उनके आधार पर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण की व्यवस्था की गयी थी तथा पुद्गल नैरात्म्यज्ञान और धर्मनैरात्म्य ज्ञान द्वारा उनके प्रहाण की बात कही गयी थी; किन्तु इस प्रासंगिक माध्यमिक मत के अनुसार आत्मदृष्टि एक ही है और जब वह पुद्गल की स्वभावतः सत्ता का ग्रहण करती है, तब 'पुद्गलात्मदृष्टि' और जब वह बाह्य आन्तरिक पदार्थों की स्वभावतः सत्ता का ग्रहण करती है, तब 'धर्मात्मदृष्टि' कहलाती है। अर्थात् ग्राह्य विषय की दृष्टि से इसके भेद की व्यवस्था की जाती है, स्वरूपतः वह एक ही है।

कहने का आशय यह है कि पुद्गल और धर्मो की स्वभावतः सत्ता का ग्रहण करने वाली दृष्टि ही आत्मदृष्टि है। यही सहज अविद्या है। यह अविद्या और उसके बीज क्लेशावरण हैं। प्रश्न है कि अविद्या और उसके बीज क्लेशावरण हैं तो यह ज्ञेयावरण क्या है?

उपर्युक्त क्लेशावरण की वासना 'ज्ञेयावरण' है। यह ज्ञेयावरण बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व पूर्णतया विनष्ट हो जाता है। क्लेशों के समाप्त हो जाने पर भी उसकी वासना अवशिष्ट रह जाती है, जिसके प्रहाण के लिए अष्टम, नवम् आदि महायान भूमियाँ उसके प्रतिपक्ष के रूप में मानी जाती हैं। इसी वासना की वज़ह से समाहित अवस्था से व्युत्थित होने पर अर्थात् पृष्ठलब्ध अवस्था में आर्यो में भी द्वैताभास प्रवृत्त होता है, केवल समाहित अवस्था में ही द्वैताभास नहीं होता। बुद्धत्व अवस्था में तो किसी भी अवस्था में द्वैताभास नहीं होता। इससे पूर्व समाहितज्ञान और पृष्ठलब्धज्ञान क्रमशः और पृथक-पृथक् होते हैं। वासनाओं के पूर्णतया समाप्त हो जाने से बुद्धत्व की अवस्था में दोनों ज्ञान युगपद् (एक साथ) और अभिन्न रूप से प्रवृत्त होते हैं। यही बुद्धत्वावस्था की विशेषता है।

आवरणों के प्रहाण का क्रम

मार्ग पाँच होते हैं–सम्भार मार्ग, प्रयोग मार्ग, दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अशैक्ष मार्ग। इनमें प्रारम्भ के दो मार्ग पृथग्जन अवस्था के मार्ग हैं तथा अन्तिम तीन आर्य-मार्ग हैं। आवरणों के प्रहाण का क्रम दर्शन मार्ग से प्रारम्भ होता है और भावना मार्ग की अन्तिम अवस्था तक यह क्रम चलता रहता है।

बोधिसत्वों का आर्य मार्ग दर्शन मार्ग से प्रारम्भ होता है। महायान में 10 आर्य भूमियाँ मानी जाती हैं, जो दर्शन मार्ग और भावनामार्ग में विभक्त होती हैं। प्रथम भूमि दर्शन मार्ग है तथा शेष नौ भूमियाँ भावना मार्ग हैं। प्रथम भूमि से लेकर सातवीं भूमि तक क्लेशावरण का प्रहाण होता है। आठवीं भूमि से ज्ञेयावरण का प्रहाण प्रारम्भ होता है। 10वीं भूमि का अन्तिम भाग 'वज्रोपमसमाधि' है। इसके द्वारा ज्ञेयावरण का अशेष प्रहाण हो जाता है। इस वज्रोपम-समाधि के दूसरे क्षण में बुद्धत्व या सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। योगाचार और स्वातन्त्रिक माध्यमिक मत में यह व्यवस्था मान्य नहीं है। इनके मतानुसार दोनों आवरण दर्शन और भावना दोनों मार्गो द्वारा प्रहीण होते हैं।

सम्यग्ज्ञान का विकास

महायान मतानुसार संसार से विमुक्ति के लिए अथवा बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सभी पदार्थों की निःस्वभावता (शून्यता) का ज्ञान अपेक्षित होता है। इसे नैरात्म्यज्ञान भी कहते हैं। इस ज्ञान के अनेक स्तर होते हैं।

अज्ञान यद्यपि अनादि है, फिर भी वह सान्त होता है (अर्थात् उसका नाश होता है)। सम्यग् अनुमान और प्रसंग-वाक्यों द्वारा सबसे पहले पदार्थों की स्वाभावसत्ता का निषेध किया जाता है और निःस्वभावता का निश्चय किया जाता है; किन्तु यह ज्ञान सविकल्पक ही होता है। सविकल्पक होने पर भी मिथ्या नहीं होता, क्योंकि यह अपने विषय के प्रति अविसंवादक होता है। अर्थात् प्रवृत्त होने पर अपने विषय को प्राप्त कराने में समर्थ होता है।

तदनन्तर उस ज्ञान की शमथ के साथ भावना करने पर क्रमशः ज्ञानगत कल्पनांश का प्रहाण होता है और अन्त में वह सविकल्प ज्ञान धारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। उससे शून्यता का साक्षात्कार होता है। जब तक यह अवस्था नहीं आती, तब तक व्यक्ति 'पृथग्जन' कहलाता है और शून्यता के साक्षात्कारी इस ज्ञान के उत्पाद के साथ ही व्यक्ति 'आर्य' कहलाने लगता है। आर्य-अवस्था के भी अनेक स्तर होते हैं, जिनमें ज्ञान की सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होती है।

बुद्धत्व प्राप्ति से पहले ज्ञान की अवस्था

बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व दो अवस्थाएँ होती हैं—पृथग्जन अवस्था और आर्य अवस्था। बुद्ध भी आर्य हैं, किन्तु बुद्ध में आर्य की अपेक्षा गुणों की दृष्टि से अनेक विशेषताएँ होती हैं। बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व जो ज्ञान निःस्वभावता को प्रत्यक्षतः जानता है, वह घट आदि जागतिक पदार्थों को प्रत्यक्षतया नहीं जानता और जो ज्ञान जागतिक पदार्थों को प्रत्यक्षतः जानता है, वह निःस्वभावता को प्रत्यक्षतया नहीं जानता। कहने का आश्य यह है कि कोई भी एक ज्ञान दोनों में से एक को ही जानता है।

घट आदि जागतिक पदार्थों का साक्षात्कारी ज्ञान 'यावत् ज्ञान' तथा निःस्वभावता का साक्षात्कारी ज्ञान 'यथार्थज्ञान' कहलाता है। यथार्थ ज्ञान ही 'समाहितज्ञान' और यावत्ज्ञान ही 'पृष्ठलब्ध ज्ञान' भी कहलाता है। बुद्ध के अलावा अन्य आर्यों में से दोनों ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होते हैं, एक-साथ नहीं। समाहित ज्ञान में शून्यता के अलावा किसी अन्य का आभास नहीं होता, यहाँ तक कि स्वयं अपना आभास भी नहीं होता। यद्यपि समाहित ज्ञान में जागतिक पदार्थों का आभास नहीं होता, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह उनका निषेध करता है।

सम्यक् सम्बोधि की सिद्धि

बुद्धत्व के ज्ञानों की स्थिति ऊपर कहे गये आर्यों के ज्ञानों की स्थिति से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। इस अवस्था में समाहित ज्ञान और पृष्ठलब्ध ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं, अपितु एक-साथ प्रवृत्त होते है। एक ही ज्ञान दोनों रूपों में होता है। अर्थात् बुद्ध का एक ही ज्ञान शून्यता को और जागतिक पदार्थों को एक-साथ प्रत्यक्षतः जानता है।

बुद्धत्व अवस्था का समाहित ज्ञान और पृष्ठलब्ध ज्ञान दोनों अभिन्न होते हैं। एक ही ज्ञान निःस्वभावता होने से पृष्ठलब्ध ज्ञान होता है। यह बुद्ध के ज्ञान की विशेषता होती है, जो अन्य में नहीं। जो ज्ञान परमार्थ सत्य अर्थात् शून्यता तथा संवृतिसत्य अर्थात् घट आदि जागतिक पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष रूप से जानता है, वही 'सर्वज्ञ ज्ञान' कहलाता है। यही ज्ञान महाबोधि या सम्यक् सम्बोधि है और यही बुद्ध का ज्ञानधर्मकाय है। विनेय जनों को उपदेश देते समय भी बुद्ध समाहित ही होते हैं। उनकी समाहित अवस्था हमेशा अक्षुण्ण ही रहती है। इसीलिए उनकी स्तुति में कहा गया है :

य आस्ते सदा योगिनां चक्रवर्ती।
स बुद्धः प्रबुद्धोऽस्तु मे चित्तवर्ती।।

रामायण : भारत का ज्ञानपीठ

इलयावुलूरि पाण्डुरंगराव

भारतीय जन-जीवन को सच्चे अर्थो मे भारतीयता (प्रकाश के प्रनि प्रेम) से अनुप्राणित करनेवाले दो आलोक-पुंज हैं—प्रभाकर और सुधाकर। प्रभाकर अथवा सूर्य दिन को गतिशील बना देता है और सुधाकर अथवा चन्द्रमा रात को सुहावनी बना देता है। दोनों एक-दूसरे के प्रेरक और पूरक हैं। सूर्यवंश मे सूर्य को तेज लेकर मध्याह्न के समय अवतरित दशरथनन्दन राम और यदुकुल में चन्द्रमा के साथ-साथ आधी रात के समय प्रादुर्भूत देवकीनन्दन कृष्ण वास्तव में सूर्य और चन्द्र के ही प्रतिरूप हैं। इसीलिए जब तक सूर्य और चन्द्र दिन और रात को आलोकित और आवासित करते रहते है, तव तक राम और कृष्ण की रमणीय और कमनीय कथा-माधुरी लोक को आलोक प्रदान करती रहेगी। दोनों अपने-अपने युग के निर्माता और युग-धर्म के संस्थापक रहे। धर्म का सस्थापन दोनों का ध्येय था, पर राम ने सत्य के आधार पर धर्म का पालन किया, तो कृष्ण ने न्याय का अवलम्ब लेकर धर्म को प्रतिष्ठित किया। सत्य और धर्म राम के आचरण के आधार थे, तो न्याय और धर्म कृष्ण के व्यत्यस्त प्रतीत होने वाले विन्यस्त चरण थे। राम धर्म के मूर्त रूप थे, तो कृष्ण धर्म के प्रतीक थे। राम प्रेम के प्रतिरूप थे, तो कृष्ण प्रेम के उपासक थे। राम का लक्ष्य 'शुभ' था, तो कृष्ण का ध्येय 'जय' था। राम दिन के मार्तण्ड थे, तो कृष्ण रात के राकेश थे। पर थे दोनों प्रकाश के पुंज।

इन्हीं दो आलोक-पुंजों की आभा से प्रतिभासित कालजयी कृतियाँ हैं—*रामायण* और *महाभारत*। रामायण में ज्ञान का प्रकाश धर्म को सत्य का आलोक प्रदान करता है, तो महाभारत में प्रतिपादित कर्त्तव्य का आचरण न्याय को धर्मसम्मत बना देता है। रामायण ज्ञानपीठ है, तो महाभारत कर्मभूमि है। रामायण से ज्ञान का आलोक और महाभारत से कर्म का लोक लेकर ही *श्रीमद्‌भागवत* ने इच्छा-जगत् की स्वच्छ और स्वच्छन्द रसवाहिनी से युक्त भक्ति-मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है। रामायण का ज्ञान, महाभारत का कर्म और श्रीमद्‌भावगत की इच्छा—इन्हीं तीन सूत्रों से आबद्ध होकर आर्ष वाणी भारत-भारती को भारतीय बनाती हैं। इसीलिए भारतीय साहित्य, दर्शन और संस्कृति की आधारत्रयी कहलाने योग्य ये तीनों ग्रथ भारतीयता को पहचानने में अत्यन्त सहायक ही नही, बल्कि अपरिहार्य साधन सिद्ध होते हैं।

इनमे रामायण का एक विशिष्ट स्थान है; क्योंकि वह ज्ञान का भण्डार है। कर्म और धर्म के वीच समन्वय स्थापित करने वाले महाभारत की मध्यधारा श्रीमद्‌भागवद्‌गीता का निश्चित मत है कि ज्ञान से वढकर पवित्र वस्तु इस संसार मे और कुछ नहीं है और आचार्य शंकर भी मुक्त कण्ठ से ज्ञान को मुक्ति का एकमात्र साधन

घोषित करते हैं। सत्य और धर्म, भक्ति और मुक्ति, भोग और त्याग, अनुराग और विराग—इन सबका समन्वय प्रस्तुत करने वाली प्रशस्त रचना रामायण वास्तव में भारतीयता का अक्षय कोश है। महाभारत के सम्बन्ध में प्राय: कहा जाता है कि जो महाभारत मे नहीं है, वह भारत में भी नहीं है। यही बात रामायण के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है, बल्कि रामायण के सम्बन्ध में एक क़दम आगे बढ़ कर यह कहा जा सकता है कि जो रामायण में नहीं है, वह विश्व में भी नहीं है; क्योंकि रामायण केवल भारत की ही सम्पत्ति नहीं है, बल्कि वह मानव मात्र की महिमा का गुणगान करने वाली विश्वजनीन रचना है। वह देश, काल और व्यक्ति की परिकल्पित सीमाओं से परे है।

रामायण की मूल शक्ति ज्ञान है, जिसके कई पक्ष हैं। कभी वह शब्द के रूप में व्यक्त होता है, कभी विचार के रूप में, कभी संचरण के रूप में हमारे साथ चलता है और कभी आचरण के रूप में हमें चलना सिखाता है। कभी-कभी वह मौन धारण कर हमारे मन को मुखरित कर देता है और कभी मनन बन कर मन में नमन की भावना पैदा कर देता है, कभी आज्ञा बन कर हमें आदेश देता है और कभी संज्ञा बन कर संदेश का सार सुनाता है, कभी प्रज्ञा बनकर पण्डित को प्रबुद्ध बना देता है और कभी विद्या बनकर विज्ञ को विद्वान बना देता है, कभी कर्म की भावना जगाता है और कभी धर्म का रहस्य खोलता है, कभी मुक्ति का मार्ग दिखाता है और कभी भक्ति का गीत सुनाता है। संक्षेप में रामायण जिस अर्थ में ज्ञान का पीठ माना जा सकता है, उस अर्थ में यह ज्ञान संसार का सर्वस्व और समस्त साधना का सार है।

रामायण केवल कहानी नहीं है, वह अयन है। कहानी और अयन में काफ़ी अन्तर है। इसीलिए आदिकवि वाल्मीकि ने अपनी कृति का नाम 'रामायण' रखा। यदि यह कथा है, तो भी रामायण-कथा है, केवल राम-कथा नहीं। *तावद् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति*—आदि सूक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह रामायण का चरित शाश्वत है *(इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम्)*। चाहे कथा के रूप में इसका वर्णन हुआ हो अथवा चरित के रूप में—दोनों प्रसंगों मे इसकी विस्तृति को 'लोक' शब्द से व्यक्त किया गया है। लोक भी एक नहीं, अनेक हैं। जहाँ तक आलोक है, वहाँ तक रामायण का लोक व्याप्त है। इसलिए रामायण को कथा, चरित आदि कहना, उसके लोक की अवधि या परिधि को परिमित करना होगा। तभी तो वाक्य-कोविद वाल्मीकि ने इस कृति को रामायण की संज्ञा दी है। मानसकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी—*यद् रामायणे निगदितम्*—कहकर 'रामायण' शब्द मात्र से वाल्मीकि रामायण की ओर विवेकपूर्ण संकेत किया। केवल 'रामायण' कहना पर्याप्त है, वाल्मीकि का नाम लेने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि 'रामायण' शब्द वाल्मीकि की अपनी निजी और परिनिष्ठित उद्भावना है।

अयन में केवल कहानी नहीं होती है; केवल घटना नहीं होती है; केवल चरित्र-चित्रण नहीं होता है; केवल चमत्कार, रस, अलंकार, ध्वनि, गुण आदि नहीं होते हैं—ये सब हो सकते हैं, पर इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें होती हैं, जो 'अयन' की विस्तृत परिधि में आती हैं। वास्तव में अयन गतिशीलता का द्योतक है और यह अयन राम का होने के कारण रमणीयता का भी सूचक है। 'रामायण' में इन्हीं दो का रासायनिक संयोग है। वह नदी के प्रवाह की भाँति गतिशील भी है और निर्मल जल के उर्मिल स्थान की भाँति रमणीय भी है। राम शब्द में जो रमणीयता है और 'अयन' शब्द में जो गतिशीलता है—दोनों का मणि-कांचन संयोग ही रामायण

है। राम अपने जीवन में क्या करते थे, क्या पाते थे और क्या खाते थे, यह सब उनके अयन का कथन मात्र बन सकता है, पर कथ्य नहीं और तथ्य बिल्कुल नहीं। 'अयन' के अंतर्गत राम की मुद्रा, दृष्टि, मनस्विता, तपस्या, वाग्मिता, तेजस्विता, ओजस्विता, वर्चस्विता आदि में सम्मिलित समस्त अन्तरंग-विभूति आती है, जिससे इस अमोघ रचना के अध्येताओं को राम के अयन की अनुभूति होती है। इस दृष्टि से रामायण अनर्घराघव की आन्तरिक अनुभूति, है जिसे आदिकवि ने अभिव्यक्ति का रूप दिया है।

राम क्या करते थे, यह रामायण का कथ्य नहीं है। पर कैसे करते थे, कैसे बैठते थे, कैसे देखते थे, कैसे चलते थे, कैसे सोचते थे और कैसे प्रापंचिक अनुभूति का आत्मसात् करते थे, यही रामायण का मननीय अंश है और इसी मनन में राम के अयन का वास्तविक महत्त्व है। एक और विशेषता इस 'अयन' की यह है कि इसमें केवल राम का एकांगी अयन नहीं है, बल्कि यह सीता और राम का समन्वित और समेकित अयन है। 'रामायण' शब्द में ही यह समन्वय-भावना है। असल में यह राम और रामा—दोनों का अयन है। इसी में 'रामायण' के नामकरण की सार्थकता और सारवत्ता है। राम का अयन और रामा का अयन—दोनों प्रकार से रामायण शब्द का विग्रह किया जा सकता है। ध्यान देने की बात है कि शब्द-ब्रह्म के वेत्ता वाल्मीकि ने यहाँ पर सीता के लिए 'रामा' शब्द का प्रयोग किया है और कथा, चरित, गाथा आदि के स्थान पर 'अयन' शब्द को अधिक उपयुक्त समझा। तभी तो रामायण-जैसा रमणीय नामकरण रामायण की ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति का स्फुरण कराने में समर्थ हो पाया है। सीता के लिए 'रामा' शब्द का प्रयोग केवल चमत्कारिक नहीं है, बल्कि वाल्मीकि के लिए यह प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक, सरल और अभीष्ट है। रामायण में अनेक प्रसंगों पर यह प्रयोग मिलता है। 'रामायण' को राम और रामा का समन्वित अयन बनाने से रामचरित *सीतायाश्चरितं महत्* (सीता का महान् चरित) बन गया है और प्रासंगिक रूप से प्रकृति और पुरुष की पारस्पारिक परिपूरकता की ओर भी सात्विक संकेत मिलता है। जीवन का प्रमुख आधार जिजीविषा (जीने की इच्छा) है, जो रामायण की भाव-भूमिका का भी मूल है। नारद के श्रीमुख से आदर्श मानवराम का गुणगान सुनने के बाद, जब तपस्वी वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर टहलने जाते हैं, तो उनके सामने दो दृश्य दिखायी देते हैं—तमसा का तरल सरल प्रवाह और निषाद के निष्ठुर प्रहार का शिकार क्रौंच पक्षी। तमसा का निर्मल जल देखकर तपस्वी का मन जितना प्रसन्न होता है, क्रौंच-मिथुन के आकस्मिक वियोग को देखकर उतना ही आक्रान्त हो जाता है। तमसा नदी का प्रवाह जीवन की सरलता, स्वच्छता और गतिशीलता को प्रेरणा प्रदान करता है, तो क्रौंच-मिथुन के एकान्तिक सुख में अचानक उत्पन्न आघात जीने और जीने देने की सहज मानवीय लालसा को रक्त-सिक्त और विच्छिन्न बना देता है। मनस्वी महर्षि सोचने लगते हैं कि आख़िर मानव इतना निष्ठुर क्यों होता है और वह भी अकारण। जल की तरंगों के समान निर्मल और उर्मिल जीवन-प्रवाह का अभिन्न अंग बनकर चलने वाला प्राणी अचानक इतना आत्मघाती क्यों बन जाता है? अपने साथ जीवन का आनन्द लेने वाले सहजीवियों को जीने के अधिकार से वंचित करने वाले जीवी को जीने का क्या अधिकार है? इसी प्रकार के प्रश्न प्राचेतस के मनको झकझोरते हैं, उनके अन्तर्मन में अशान्ति का चक्रवात उत्पन्न करते हैं और उनके भीतर का शोक बाहर श्लोक वन कर प्रकट होता है :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

भारतीय साहित्य की यह प्रथम सारस्वत अभिव्यंजना केवल आदिकवि के आदिकाव्य का अक्षर-बीज ही नहीं, बल्कि सृष्टि का बीजाक्षर है। यही सृष्टि-बीज समस्त रामायण को अभीष्ट पुष्टि प्रदान कर उसे इष्टिकाव्य का रूप देता है। यज्ञ का दूसरा नाम ही इष्टि है और यज्ञ की भावना से किया गया कर्म ही धर्म का रूप धारण करता है। प्रत्येक प्राणी प्रारम्भ में अन्नजीवी बन कर अपनी जीवन-यात्रा का आरम्भ करता है और धीरे-धीरे प्राण, मन और विज्ञान के सोपानों को पार कर वह अन्ततः आनन्दजीवी बन जाता है। अन्न से प्राणों का प्रणयन होता है, वर्षा से अन्न पैदा होता है और वर्षा तभी होती है, जब धरती तप-तप कर यज्ञ में अपनी रसमय आहुति देती है। यह सारी प्रक्रिया आन्तरिक प्रेरणा और अपरिहार्य कर्त्तव्य-भावना से सम्पन्न होती है, जिसे हम याग, योग अथवा इष्टि का नाम दे सकते हैं। रामकथा का उपक्रम इसी प्रकार ही इष्टि से होता है, जिसे वशिष्ठ, ऋष्यश्रृंग आदि ऋषि-मुनियों ने पुत्रकामेष्टि की संज्ञा दी। इसी इष्टि के फलस्वरूप राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म होता है। रामकथा का समापन भी अश्वमेध नाम की इष्टि से होता है। इस प्रकार रामायण के उपक्रम और उपसंहार में इष्टि की भावना विद्यमान है और इस दृष्टि से उसको इष्टिकाव्य कहा जा सकता है। विशेषकर बालकाण्ड का सारा घटना-क्रम इसी इष्टि-योजना से अनुप्राणित है। राजा दशरथ द्वारा अनुष्ठित पुत्रकामेष्टि के फलस्वरूप राम का जन्म होता है, तो सिद्धाश्रम में सम्पन्न होने वाले एक विशिष्ट यज्ञ (इष्टि) की रक्षा के लिए राम को अपने साथ ले जाने विश्वामित्र एक दिन अचानक दशरथ के पास आ पहुँचते हैं। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा सम्पन्न होते ही मिथिला में राजा जनक द्वारा अनुष्ठित धर्नुयज्ञ में सम्मिलित होने के लिए विश्वामित्र के साथ उन्हीं के अनुरोध या संकेत पर राम और लक्ष्मण मिथिला पहुँचते हैं। इस प्रकार अयोध्या का यज्ञ राम को अवतरित कर देता है, तो सिद्धाश्रम का यज्ञ राम को असत् के निराकरण और सत् के संस्थापन के लिए सन्नद्ध बना देता है और मिथिला का यज्ञ दशरथनन्दन को सीतापति बना देता है। इस प्रकार बालकाण्ड में तीन विशिष्ट इष्टियों की श्रृंखला दिखायी देती है, जिससे अयोध्या के राजपरिवार को तो इष्टसिद्धि होती ही है, साथ ही, समस्त राम-परिवार को इष्ट लाभ भी होता है।

सीता और राम का विवाह भी अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण इष्टि है, क्योंकि सीता-राम का समागम केवल एक साधारण नर-नारी का संगम नहीं है, वह धरती और आकाश का मिलन है, सुगन्ध और माधुर्य का सम्मिश्रण है तथा सौन्दर्य और सत्य का समेकन है। बालकाण्ड में सम्पन्न प्रत्येक इष्टि में समष्टि की भावना स्पष्ट दिखायी देती है और यही समष्टि की भावना सीता-राम के समागम का भी सत्त्व-सार है।

आदिकवि का आत्म-दर्शन राम के प्रबुद्ध पाठकों के सामने जो जीवन-दर्शन प्रस्तुत करता है, इसका सबसे पहला और प्रमुख आयाम, जैसा कि हमने अब तक देखा है, जिजीविषा और जीने की इच्छा है। इसमें जीने देने की सद्भावना भी शामिल है। तभी तो इस जीवन लालसा ने साधना का बीज बोया है और इष्टि का फल पाया है। अब इस जीवन दर्शन का दूसरा आयाम है—प्रसन्नता। निषाद ने जिजीविषा को जगाया तो मन्थरा की मंत्रणा स्वभाव से धीर और गम्भीर प्रकृति के रघुवीर को सुख-दुःख की लौकिक भाव-भूमिका से ऊपर उठा

कर अविकल प्रसन्नता के लोकोत्तर पद पर प्रतिष्ठित करती है। सुख के समय प्रसन्न रहना प्रत्येक प्राणी का सहज लक्षण है; पर दुख के समय भी सुख-दुख को केवल दृश्य मानकर नियति को निर्लिप्त भाव से स्वीकार करना राम-जैसे लोकोत्तर भावयोगियों के लिए ही सम्भव होता है और इसी प्रकार की प्रसन्न मुद्रा में राम को प्रस्तुत करना अयोध्याकाण्ड की कथा के प्रणयन में रामायणकार का आशय है। सही समय पर सही व्यक्ति को सहज भाव से राजतिलक के लिए मनोनीत करने के पश्चात् रातोंरात राजतिलक को वनवास में परिणत होते हुए देख कर—*एवमस्तु गमिष्यामि*—कहकर तत्काल वन के लिए प्रस्थित हो जाना, केवल स्थितप्रज्ञता का ही नहीं, बल्कि असाधारण असंपृक्तता का भी परिचायक है। एक ओर राजतिलक और दूसरी ओर वनवास को विप्रतिपन्न विकल्पों के रूप में पाकर—*राज्य वा वनवासो वा, वनवासो महोदयः*—कह सकना राम-जैसे निर्विकल्प कर्मयोगी के लिए ही साध्य है। प्रसन्नराघव की इस प्रशस्त दृष्टि-भंगिमा को हृदयंगम करने के लिए राज-परिवार में कैकेयी और मन्थरा को छोड़कर और कोई तैयार नहीं होता। कौसल्या का मातृ-हृदय राजतिलक का मोह छोड़ने के लिए तो तैयार होता है; पर राम को वनवास के लिए अनुमति नहीं दे पाता। पिता दशरथ तो राम-विरह की कल्पना से इतने त्रस्त और विक्षिप्त हो जाते हैं कि उनकी शोक-सन्तप्त दृष्टि राम के साथ चली जाती है और फिर वापस ही नहीं आती। सुमन्त, वशिष्ठ आदि धीर पुरुष भी इस आकस्मिक आतंक से इतने अधीर हो जाते हैं कि वे सबके सामने कैकेयी की भर्त्सना करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। अयोध्या के नागरिक राम के साथ-साथ वनवास के लिए निकल पड़ते हैं। लक्ष्मण के मन में इतना विक्षोभ उत्पन्न होता है कि वह विद्रोह की भाषा में अपने आवेग को व्यक्त करने के लिए विवश हो जाते हैं। भरत अपनी माता के इस जघन्य कृत्य पर इतने कुपित हो जाते हैं कि वह उससे बात तक नहीं करना चाहते और तत्काल राम को वापस ले आने चल पड़ते हैं। सबकी दृष्टि राम पर है और राम की दृष्टि सत्य और धर्म के समन्वित अयन पर। यही दृष्टि-भेद राम को लोकाभिराम बना देता है और उनके अयन को शाश्वत प्रतिष्ठा प्रदान करता है। राम और भरत के संवाद में जो स्वर सुनायी देता है, वह त्याग को लेकर है, भोग पर निर्भर नहीं। राजा तुम हो, राज्य तुम्हारा है—यही दोनों का आग्रह है। यही सत्याग्रह राम को रमणीय बना देता है और भरत को सच्चे अर्थों में भारतीय। लोक की दृष्टि में लोकोत्तर महात्माओं की दृष्टि किस प्रकार विलक्षण और विचक्षण होती है, इस बात को चित्रकूट इतनी निराली शैली में निरूपित करता है कि रामायण के द्रष्टा का आत्म-दर्शन समस्त संसार को स्वस्थ दर्शन प्रदान करने में समर्थ होता है। यही प्रसन्नराघव का परिनिष्ठित पारदर्शन है।

रामायण में प्रस्तुत जीवन-दर्शन का तीसरा आयाम है—रमणीयता। वनवास के समय इस रमणीयता के विभिन्न रूप दिखायी देते हैं—कभी राग-रंजित, कभी काम-मोहित, कभी लोभ-लोलुप, कभी भाव-विह्वल और कभी चपल-चंचल। रमणीयता अपने उत्कृष्ट रूप में कितनी स्पृहणीय हो सकती है और दूषित होने पर कितनी दयनीय बन सकती है, इसका बोध कराते हैं—अरण्यकाण्ड के विविध प्रसंग। राम का मन जैसे अयोध्या के सुन्दर उद्यानों में रमता था, वैसे दण्डक के निर्जन वन में भी रमता है। रामा का मन भी राम के साहचर्य के कारण शून्यारण्य में भी पुण्यालोक में दर्शन करता है। पर शूर्पणखा और रावण की दृष्टि काम-वासना से कलुषित होने के कारण 'अरमणीय' तो नहीं कही जा सकती, पर 'विरमणीय' अवश्य है। इस 'विरमणीयता' का आरम्भ असल में विराध के आगमन के साथ ही होता है। राम को हेय और सीता को प्रेय दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति

विराध में आरम्भ होकर रावण में पराकाष्ठा तक पहुँचती है; परन्तु समदर्शी राम सबको समान भाव से देखते है। व्यक्ति चाहे जो भी हो, उसमें सत और असत दोनों पहलुओं को संतुलन और संयम के साथ देखकर असत् का निराकरण कर सत् का स्वागत करने की ऋजुता राम को ऋषितुल्य बना देती है। वास्तव में विराध जब राम और लक्ष्मण को अपने कंधों पर बिठा कर भागने लगता है, तो सीता की घबराहट को दूर करते हुए राम कहते हैं कि अभी-अभी दण्डक में पहुँचे हम लोगों का यह मार्ग-दर्शन कर रहा है, इसलिए इसे चलने दो। पर जहाँ यह मार्गदर्शन अपनयन का रूप धारण करता दिखायी देता है, तो तुरन्त दोनों भाई विराध का वध करने का निश्चय कर लेते हैं। जगत की घटना को यादृच्छिक समझकर अन्याय के अमर्यादित होने पर ही उसे समाप्त करने के प्रयास में राम की सात्विक रमणीयता का परिचय मिलता है। इसी प्रकार सोने के हिरण को देखकर माया के मोह से ग्रस्त अपनी पत्नी की इच्छा पूरी करने में भी राम संकोच नहीं करते, हालाँकि हिरण के पीछे चलते समय वह अपने सन्देह को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—जहाँ देखो वहाँ शंका-ही-शंका दिखायी दे रही है। भवितव्यता बलीयसी होती है। जो होने को है, वह होकर रहेगा। इसलिए जो टाला नहीं जा सकता, उसे झेलने के सिवा और कोई चारा नहीं है। राम के मनस्तत्व में यह प्रवृत्ति प्रायः दिखायी देती है। यह उनकी अकर्मण्यता का सूचक नहीं है, बल्कि यह उनकी कर्मठ कार्यपरायणता का ही एक अलौकिक पक्ष है, जिसे लौकिक पौरुष स्वीकार नहीं कर पाता। यही राम के अयन की अनिर्वचनीय रमणीयता है।

रामायण के घटनाक्रम को व्याख्यायित करते समय वाङ्मय तपस्वी वाल्मीकि प्रायः 'यादृच्छया' शब्द का प्रयोग करते हैं। श्रीराम के प्रस्तावित राजतिलक की प्राक्संध्या के समय मन्थरा 'यदृच्छया' (संयोग से) राजप्रासाद के ऊपर चढ़कर अभिषेक के आयोजन की तैयारियाँ देख लेती है (*प्रासादं चंद्र संकाशं आरुरोह यदृच्छया*)। इसी प्रकार हेमन्त के हेमाभ वातावरण में पंचवटी की प्रशान्त पर्णशाला में सुखासीन राम के पास रावण की बहन शूर्पणखा 'यदृच्छया' (संयोग से) ही आती है (*तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यादृच्छया*)। सीतान्वेषण में तत्पर राम और लक्ष्मण को किष्किंधा की ओर आते हुए देखकर हनुमान उनको देवलोक में 'यदृच्छया' (संयोग से) समागत दिव्यात्मा ही समझते हैं और कहते हैं—*यदृच्छयैव संप्राप्तौ चंद्रसूर्यो वसुंधराम्*। इस प्रकार के अनेक प्रसंग रामायण में मिलते हैं, जहाँ पर साधारण-से-साधारण घटना भी अप्रत्याशित रूप से घटती प्रतीत होती है, पर वही आगे चलकर कथा-क्रम को एकदम नयी दिशा में संचालित कर देती है। इसलिए इस प्रकार की यदृच्छा को साधारण इच्छा या स्वाभाविक गतिविधि मानकर चलना समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसके पीछे कोई दैवी प्रेरणा और योजना सक्रिय मालूम पड़ती है। इसलिए वाल्मीकि की यह यदृच्छा (संयोग) वास्तव में भगवदिच्छा (दैवयोग) है, जो संसार की समस्त इच्छाओं में सबसे बलवती होती है—*बलीयसी केवलमीश्वराज्ञा*।

अन्यथा माया-मृग के मोहक और भ्रामक सौन्दर्य पर देवमाया से निर्मित (*देवमायेव निर्मिता*) सीता देवी मुग्ध कैसे हुई? अगर मुग्ध हो भी गयीं तो मर्यादापुरुषोत्तम राम बिना सोचे-समझे अचानक उस हिरण के पीछे क्यों चल पड़े? असल में शूर्पणखा पर्णशाला में आयी क्यों? आ भी गयी, तो उस असुरांगना के साथ हँसी-मज़ाक़ करने की बात दोनों राजकुमारों के मन में कैसे सूझी? हँसी-मज़ाक़ हल्का-सा हो भी गया तो वह कान-नाक काटने तक क्यों पहुँचा? ये सभी प्रश्न एक ही उत्तर से निरुत्तर हो जाते हैं और वह है—यदृच्छा अर्थात् भगवदिच्छा।

इसी परिप्रेक्ष्य में सीता के मोह और राम के शोक को समझा जाना चाहिए। जैसे ही सीता का मोह नष्ट

होता है, वह राम से दूर हो जाती है और सीता के वियोग में राम शोकाकुल हो जाते हैं—*तत्र को मोह: क: शोक:*—वाली स्थिति में आसुरी माया ने बाधा डाली, ऐसी बाधा डाली, जिससे मुक्त होने के लिए राम और लक्ष्मण को सीता के अस्तित्व का पता लगाने वन-वन में घूमना, फिरना और भटकना पड़ा, फूल-पत्तों में साध्वी के पुष्पहास को खोजना पड़ा, पहाड़ के सामने खड़े होकर प्रकृति को ललकारना पड़ा, कबन्ध-जैसे शाप-ग्रस्त महापुरुषों का उद्धार कर, उनके सहारे आत्मसखा को खोजना पड़ा, वानरों से मैत्री करनी पड़ी, उपकृत मित्र की उपेक्षा को सहना पड़ा, पग-पग पर समझदारी और सावधानी से काम निकालना पड़ा और अन्ततः सत्य, धर्म और सात्विकता के बल पर सफलता प्राप्त करने में स्वाभाविक रूप से लगने वाले सुदीर्घ समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी। परन्तु शोध की इसी साधना में राम की मधुर मनोहर मानवता का भव्य रूप प्रत्यक्ष होता है, जो दिव्यता को भी दीपक दिखा सकता है।

यह 'अस्ति-शोध' किष्किन्धा से आरम्भ होता है और इसमें करोड़ों वानर-वीर राम-कार्य में लगे रहते हैं। अन्त में अतिबल और अनन्य विक्रम से सम्पन्न हनुमान को इस शोध में 'स्वस्ति-बोध' होता है। सीता-माता का पता लगाने में मारुतनन्दन को सफलता मिलती है। 'दिख गयीं सीता जी' (*दृष्टा सीतेति तत्वत:*) कह कर वह अपने प्रभु राम के श्रीचरणों में अमृत-तुल्य समाचार निवेदित करते हैं। रामदूत हनुमान द्वारा घोषित यह स्वस्ति-बोध वास्तव में राम काव्य का प्रणव-नाद है, जिसमें इस मधुर कथा का मधुराक्षर रम्य रागिनी वनकर रामायण की रमणीयता को सुन्दरता की संज्ञा प्रदान करता है। सीता माता के आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य का चरम उत्कर्ष सुन्दर काण्ड के इसी स्वस्ति बोध में होता है। तीनों लोकों में दुर्लभ पार्थिव वैभव के प्रलोभन के बीच में रह कर भी राज्य-भ्रष्ट वनवासी, पर तेजस्वी पति के प्रति परिनिष्ठित परम प्रेम और पराभक्ति को अचंचल धैर्य के साथ निभाने में ही रामपत्नी का सुदुर्लभ सौन्दर्य है, जो रामायण का सच्चा सौन्दर्य है। रामायण का यह पंचम काण्ड (सुन्दरकाण्ड) वास्तव में कवि-कोकिल वाल्मीकि का पंचमस्वर है।

अब आदिकवि के आत्म-दर्शन में प्रतिबिम्बित जीवन-दर्शन का अन्तिम आयाम आरम्भ होता है, जिसको हम 'स्पृहणीयता' की संज्ञा दे सकते है। अस्ति-शोध के फलस्वरूप अब स्वस्ति-बोध तो हो चुका है। परन्तु जब तक उस 'स्वस्ति' के साथ हम अपने को सम्पृक्त या समेकित नहीं कर पाते, तब तक वह 'स्वस्ति' हमें स्वार्थ की ओर ही ले जाती है और जहॉ स्वार्थ है, वहाँ स्पर्द्धा अवश्यम्भावी है। स्पर्द्धा अपने आप में बुरी बात नहीं है। स्पर्द्धा से व्यक्तित्व में निखार आ सकता है, पर यह तभी सम्भव है, जब स्पर्द्धा स्वस्थ भावना से प्रेरित हो। जब तक व्यक्ति अपने स्वत्व, अपने सत्य, अपने धर्म, अपने अधिकार, अपने गौरव और अपनी प्रतिष्ठा और अपनी मर्यादा पर यथेष्ट और अभीष्ट ध्यान देकर जीवन में बढ़ने का प्रयास करता है, तक उसकी साधना स्पृहणीय बनी रहती है, अन्यथा वह मानव मात्र के अस्तित्व के लिए आक्रामक और हानिकारक सिद्ध हो सकती है, यही बात सीता को लेकर राम और रावण के बीच संघटित संग्राम में देखी जा सकती है। सीता राम की धर्मपत्नी है, जिनको रावण माया का प्रयोग कर राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में चुरा कर ले जाता है। चोरी का जब पता चलता है, तब भी चोर न तो अपने अपराध को स्वीकार करता है और न अपराध का परिमार्जन करने का प्रयास करता है। वह जानता है कि परस्व का स्वामी कितना शक्तिशाली है और वह स्वयं कितना

कमज़ोर है। फिर भी स्पर्द्धा का मोह नहीं छूटता और अहंकार का आवरण नहीं हटता। संघर्ष आरम्भ होता है, संग्राम का भयानक दृश्य प्रस्तुत होता है, असंख्य वीर हताहत हो जाते हैं, आख़िर वह अकेला बच जाता है, फिर भी आसुरी साहस बटोर कर वह स्वयं उस महामेध में महती आहुति बन कर अपने को स्वाहा कर लेता है, पर आत्म-बोध नहीं हो पाता। आत्म-बोध होता है उसके उस भाई को, जो समय पर सही मार्ग चुन लेता है और सही व्यक्ति को सही ढंग से पहचान लेता है। आत्म-दर्शन के दिव्य दर्पण मे प्रतिबिम्बित इस रामायणीय जीवन-दर्शन का यह अन्तिम आयाम—स्पृहणीयता—इस प्रकार महामेध के माध्यम से आत्म-बोध में परिणत होता है।

यही है राम का अयन, जो कहानी हो कर भी केवल कहानी नहीं है। इसमें जिजीविषा का जयघोष है, प्रसन्नता का प्रशस्ति-पाठ है, रमणीयता की रम्य रागिनी है और स्पृहणीय का सस्वर स्वस्त्ययन है। निर्ममता के निष्ठुर परिहास का शिकार बन कर निरुपाय स्वर में चीत्कार करने वाले प्राणि-जगत की प्रणतार्ति में यह अयन अपनी 'सृष्टि' का बीज बटोर लेता है; जीने और जीने देने की सहज सात्विक लालसा में इसको 'इष्टलाभ' होता है। अपने और पराये के भेदभाव को भुलाकर, सुख-दुख को निमित्त मानकर समुपलब्ध सुयोग का पूरा-पूरा उपयोग करने की सात्विक साधना के लिए समर्पित सत्यनिष्ठ और धर्मपरायण व्यक्तियों की महनीयता का गुणगान करने वाला यह अयन दृष्टिभेद को स्वीकार तो करता है, पर समदृष्टि का साम-गायन प्रस्तुत करने के लिए, महान-से-महान व्यक्तियों के लिए भी उनके मंगलमय मार्ग में अवरोध उपस्थित करने वाले मोह और शोक को निवारित करने में सहायक नैष्ठिक कार्य-कुशलता का संस्तवन इस अयन के प्रत्येक प्रकरण में पाया जाता है। सत्य, धर्म, प्रेम और शान्ति की विजय अवश्यम्भावी है, यही इस अयन का अन्तिम निष्कर्ष है। मानव-जीवन का लक्ष्य सार्वत्रिक सुख है, जो शोषण द्वारा नही, पोषण द्वारा सम्भव होता है; यही सीता-राम के समन्वित अयन का संदेश है। 'विजय' मानवता की महत्वाकांक्षा को बढ़ावा देती है, पर मानव-जाति का मंगलसूत्र 'शुभ' के संसाधन में है, इस परम सत्य की ओर रामायण मानव-मात्र का ध्यान आकृष्ट करती है। और यही राम-कथा-नवनीत है।

महाभारत का महाफल

वाचस्पति उपाध्याय

महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ, इसके फलस्वरूप धर्मराज युधिष्ठर भारत सम्राट हो गये। दुष्कृति का विनाश और धर्म की संस्थापना करने का श्रीकृष्ण का उद्देश्य भी सार्थक हो गया। *यतो धर्मः धर्मस्ततो जयः*—महाभारत का यह प्रतिपाद्य भी सफल हुआ। अतः मन में यह संशय हो सकता है कि महाभारत भी वस्तुतः यहीं समाप्त हो गया है। कुछ लोगों का विचार भी ऐसा ही है कि इसके बाद जो कुछ भी हुआ है, वह प्रक्षिप्त है। यदि ऐसा ही होता, तो महाभारत में हमें एक रोमांचकारी जीवनधर्मी उपन्यास अथवा एक संघातमय नाटक मिलता, जिसका अन्त जय, पराजय और मृत्यु से होता। परन्तु यह सब होने से यह महाभारत न होता। भारतवर्ष ने युग-युग से जो चाहा है, वह जीवन में कभी प्राप्त न होता। एक समग्र देश अपने हृदय को, अपनी अनभिज्ञता को, इस प्रकार व्यक्त करके उसे मानव की चिरन्तन सामग्री बनाकर खड़ा न होता। कविवर रवीन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि ***रामायण*** और ***महाभारत*** से भारतवर्ष ने जो चाहा है वही पाया है।

भारतवर्ष ने क्या चाहा है? क्या पाया है? आदिपर्व में वेदव्यास ने प्रथमतः ही इसका उत्तर दिया है। महाभारत केवल कहानी नहीं है, घटना या इतिहास नहीं है; महाभारत जीवन वेद है, चिरकाल का इतिहास है, समग्र जाति के अस्तित्त्व के गर्भ में सर्वत्र व्याप्त मूल लेकर खड़ा है। आकाश में व्याप्त शाखा पल्लव से समुन्नत एक विशाल वनस्पति है *(धर्म मयो महाद्रुमः* —आदिपर्व 1, 111), जिसकी छाया में मिलता है—प्राण को आराम और आत्मा को शान्ति। वेद, ब्राह्मण और श्रीकृष्ण इस वृक्ष के मूल हैं—*मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च* (आदिपर्व 1,111)। महाभारत में इस धर्ममय महाद्रुम की महिमा प्रति पर्व में वर्णित है।

आदिपर्व इस वृक्ष का बीज है (*सहस्राध्याय बीजो*)। पौलोम और आस्तिक पर्व में यह दिखाया गया है कि यह बीज किस प्रकार अंकुरित हो रहा है। सम्भव पर्व इसका विस्तृत काण्ड है। सभा पर्व और वन पर्व वृक्ष के वे अंश हैं, जहाँ पक्षी गण आश्रय पाते हैं। वन पर्व गम्भीर भाव और तत्त्व की रहस्य ग्रन्थी *अरणीपर्वरूपाढया* विराट और उद्योग पर्व के सार भाग हैं। भीष्म पर्व महाशाखा और द्रोण पर्व पत्रावली। कर्ण पर्व उसका शुभ्र पुष्पसम्भार है। शल्य पर्व पुष्पराजित गन्ध है। स्त्री और ऐषीक पर्व उसकी छाया है और शान्ति पर्व महाभारत वृक्ष का महाफल— *शान्तिपर्वमहाफलः*। आश्वमेधिक पर्व उसका अमृत रस है और आश्रम पर्व शान्ति का आश्रय। मौशल पर्व संक्षिप्त श्रुति है। आदि पर्व के अनुसार समस्त भूतों का अक्षय भारत वृक्ष का यही स्वरूप है—*भूतानां अक्षयो भारतद्रुमः* (आदिपर्व 1,92)।

रवीन्द्रनाथ के शब्दों में भारतवर्ष ने धर्म को द्युलोक, भूलोक-व्यापी मानव के समस्त जीवन में व्याप्त एक विशाल वनस्पति रूप में देखा है। महाभारत ही वह बृहद् वनस्पति है। धर्म और जीवन को भारत के महनीय चिन्तकों ने चिरकाल से वृक्ष रूप में समझा है । रामायण भी अमृतफलदायी एक वृक्ष है। रामायण की कथा का एक-एक भाग इसलिए एक-एक काण्ड है। वृक्ष के गठन और उपादान के साथ मानव शरीर का आश्चर्योत्पादक सादृश्य देखा है उपनिषद् के ऋषियों ने; कहा—वृक्ष जैसा है, मनुष्य भी वैसा ही है—*यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषः अमृषाः* (वृहदारण्यक उपनिषद् 3-9-28)। मनुष्य की त्वचा वृक्ष का वल्कल है। मनुष्य के देह का मांस वृक्ष का 'शकल' है। मनुष्य के शरीर की स्नायु वृक्ष की टहनियाँ हैं और अस्थि ही काठ है। इस प्रकार वृक्ष और मनुष्य एक ही है—*मज्जामज्जोपमाकृता*। वस्तुतः संसार की गति को भी वृक्ष रूप में कल्पित किया गया है—*वृक्षकालाकृतिभिः* (श्वेताश्वेतरोपनिषद् 6-6)। ऋषि दृष्टि ने देखा है कि सर्वोत्तम परमेश्वर अपनी महिमा के कारण प्रतिष्ठित हैं स्तब्ध, निश्चल, वृक्ष की तरह— *वृक्षैव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः* (श्वेताश्वेतरोपनिषद् 3-9) अर्थात् परमदेव अकेले ही वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से परमधामरूप प्रकाशमय दिव्य आकाश में स्थित हैं।

कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद यदि महाभारत समाप्त हो जाता, तब वेदव्यास के वर्णन के अनुसार हमें कहना पड़ता कि यह वृक्ष अपने विशालकाण्ड, शाखाप्रशाखा, पुष्प और पत्रपल्लव रूप में खड़ा अवश्य है, परन्तु इसमें फल नहीं लगा। युद्ध के पश्चात् महाभारत के कथानक में एक नयी गतिशीलता आयी है। एक बड़ी उदास हवा बहने लगी। भावार्थ दीपिकाकार नीलकण्ठ ने कहा है कि यहाँ से महाभारत शान्तरसप्रधान हो गया है। आनन्दवर्धन ने *ध्वन्यालोक* के चतुर्थ उद्योत में महाभारत के रस पर विचार करते हुए कहा है—*शान्तोरसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयेन सूचितः।* वेद व्यास का हृदय आकाश की तरह असीम शान्ति के मध्य में समस्त विषयों का आश्रय बन गया है, ऐसा प्रतीत होता है। भारतवर्ष यहीं अमृतमय फलवान हो उठा है। किन्तु क्या वही महाफल है? इसका समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि व्यक्ति का, समाज का और राष्ट्र का सभी व्यावहारिक और आध्यात्मिक अभीप्सा और उपलब्धि का पूर्ण सिद्ध रूप यही महाभारत है। ऋषि उद्दालक ने अपनी पत्नी सुवर्चला को कहा है—लोकसिद्धि और अध्यात्मसिद्धि का सार्थक समन्वय ही परमतत्त्व का लक्ष्य है—*तस्मात् लोकस्य सिद्ध्यर्थकर्तव्यं चात्मसिद्धये* (शान्तिपर्व 220.45) । अध्यात्म तत्त्व का ज्ञान ही इस लोक में सिद्धि की प्राप्ति का साधन है।

महाभारत में जीवन को प्रत्येक सम्भव दृष्टि से देखा गया है और विश्लेषित किया गया है। इससे ही कई दर्शनों और सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई है। यह विभिन्न मतों और पथों का एक जटिल अरण्य है। इसमें हठात् प्रविष्ट होने पर दिग्भ्रान्त होना ही पड़ता है, खोजने पर पथ मिलता ही नहीं। उस समय के महा तपस्वी ऋषिगण भी जीवन के चरम लक्ष्य की मीमांसा में विभ्रान्त हो गये, हम लोगों का तो कहना ही क्या? आश्वमेधिक पर्व में गुरु-शिष्य संवाद में ऋषिगण ने ब्रह्म से जिज्ञासा की है—"भगवत् धर्म की विचित्र गति है, हम लोग किस पथ से चलें?" मत और पथ कई हैं—आस्तिक, नास्तिक, संशयवादी, लोकायत, सप्तभंगीनयवाद, तार्किक उडुलोम आदि-आदि। कोई कहता है आत्मा विनश्वर है। कोई मानता है आत्मा कुछ है ही नहीं। किसी के

मत में देह और प्रत्यक्ष के बाह्य कुछ भी नहीं है और किसी के मत में सबका अस्तित्व है। कुछ लोगों के मत में सब कुछ मिथ्या और स्वप्न है। केवल विचार में ही नहीं, आचार में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। कोई जटाजूटधारी है, तो कोई मुण्डितमस्तक है। किसी ने गैरिक वस्त्र धारण किया है, तो कोई कौपीन धारण करके ही संतुष्ट है। कोई आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, तो किसी ने गार्हस्थ्य को ही उच्चासन दे रखा है। किसी ने उपवास और कठोर आत्मपीड़न को धर्म मान लिया है, तो कोई सहज, स्वस्थ, स्वाभाविक आहार-विहार का पक्षपाती है। कई अर्थ और भोग को मोक्ष का आसन प्रदान करते हैं और कुछ अकिंचनता, सर्वत्याग, संन्यास को ही श्रेष्ठ बताते हैं। कोई यज्ञ, कोई तपस्या, कोई ज्ञान और कोई संन्यास की ही प्रशंसा करते हैं। जीवन-यात्रा को गति प्रदान करने के जितने विकल्प सम्भव हैं, उन सबको महाभारत में प्रस्तुत किया गया है (द्रष्टव्य—आश्वमेधिक पर्व, अध्याय 46)।

इस विभ्रान्त करने वाली जटिलता के मध्य महाभारत हमें किस पथ का पथिक बनाना चाहता है, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। नाना समस्याओं से ग्रसित जीवन क्षणभंगुर है। सारा जीवन सत्य के परीक्षण और निरीक्षण करने का हमारे पास समय ही कहाँ है? वेदव्यास को भलीभाँति मालूम है कि समस्त युगों में साधारण मनुष्य अज्ञान के अन्धकार में पड़ा हुआ तड़पता रहा है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः।

महाभारत उसी अन्धकार में एक प्रदीप की भूमिका का निर्वाह है। शुभ ज्योत्स्ना की किरण ने, लगता है, हमारे अन्धकार गृहकोण को आलोकित-प्रकाशित करके रखा है।—

इतिहासप्रदीपेन मोहावर्णघातिना।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावतसम्प्रकाशितम्।।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष यह चतुर्वर्ग चतुष्कोण वेदी में ही महाभारत यज्ञ की अग्नि प्रज्ज्वलित हुई है—*धर्म एकं चतुष्पादम्* (आश्वमेधिक पर्व)। सकल मत और पथ की जटिलता का ग्रन्थिमोचन महाभारत के भीतर हुआ है।

जीवन के सम्बन्ध में, चाहे जिसका जिस प्रकार का विश्वास हो, आस्तिक, नास्तिक, संशयी; जैसा भी मनुष्य हो—सम्राट से लेकर भिक्षुक, ब्राह्मण से लेकर शूद्र—सभी जीवन की इन्हीं चार सीमाओं के मध्य में विचरण करते हैं। इन चारों के विषम उपादान के मात्रा-निरूपण और समन्वय साधन के मध्य ही जीवन के सुख शान्ति की सार्थकता है। ऋषि उद्दालक ने जिस लोकसिद्धि और आत्मसिद्धि की बात कही है, वह मूलतः इसी चतुर्वर्ग के साधन की ही बात है। इस लोक के जीवन के साथ अध्यात्म की और मनुष्य जीवन के साथ देव जीवन के सम्पर्क और समन्वय की समस्या है, वही महाभारत के चतुर्वर्ग—इस जीवन की पूर्णता की साधना है। श्रीकृष्ण ने कहा है :

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।

अर्थात–जिनका मन समत्व भाव में स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, अर्थात वे जीते हुए ही संसार से मुक्त हैं।

चतुर्वर्ग रूपी इस तत्त्व ने ही महाभारत की विचित्र मणिमाला को स्वर्णसूत्र में ग्रथित किया है। टीकाकार नीलकण्ठ ने कहा है–*सूत्रितानां धर्मार्थकाममोक्षाणां,* परन्तु के जीवन के ये चार सहज उपादान नहीं हैं। वे विषम, विरुद्ध, विमिश्र और जटिल हैं। इन चारों का पारस्परिक सम्बन्ध द्वन्द्व और संघर्ष का है। प्रकृति के त्रिगुण सत्व, रज और तम ने इन्हें और भी जटिल बना दिया है। इस समस्या को महाभारत में यक्ष रूपी धर्म ने उठाया है। यक्ष ने जिज्ञासा की थी–धर्म, अर्थ, काम यह परस्पर विरोधी हैं। नित्य विरोधी इन तीनों का क्या एकत्र अवस्थान सम्भव है? (वनपर्व 310,101) । युधिष्ठिर ने क्या समाधान किया, यह सर्वविदित है । अपने जीवन में इस समस्या का समाधान उन्होंने प्राप्त कर लिया था; परन्तु सामाजिक जीवन में सम्यक्रूप में उसका समाधान नहीं हो पाया। यहाँ तक कि युधिष्ठिर अपने जीवन में भी व्यावहारिक प्रयोग की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सके। यही कारण है कि सारा जीवन उन्हें अनुसन्धान करना पड़ा।

समाज और जीवन में महाभारत ने इस समस्या का समाधान खोजा है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका में कहा है यह तत्त्व ही सम्यक् रूप में यहाँ निरूपित हुआ है–*धर्मार्थकाममोक्षास्ते सम्यगत्रनिरूपिताः ।* जीवन के इस चार वर्ग की शुद्धि, पुष्टि और बुद्धि के लिए समस्त समाज को चार वर्णो में विभक्त किया गया है। यह चातुर्वर्ण्य–ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। समाज की तरह ही व्यक्ति का जीवन भी चार पृथक आश्रम है–ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास, गृहस्थ आश्रम। जीवन के इन चतुराश्रमों के मध्य से व्यक्ति चतुर्वर्ग साधन का व्रत लेने लगा। इन चार उपादानों को एकत्र रूप में गृहस्थ जीवन के आश्रित मानने का सिद्धान्त भी मुखरित हुआ। जैसे सारी नदियाँ जाकर सागर में मिलती हैं, वैसे ही समाज के चार आश्रम भी गृहस्थ आश्रम में जाकर मिले हैं। इस प्रकार भारतवर्ष का प्रत्येक घर चतुर्वर्ग की यज्ञ वेदी बन गया। जीवन की समस्या का समाधान क्षेत्र महाभारतकार ने भी कहा है–

चत्वारः आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः

आश्वमेधिक पर्व-45.13

अर्थात–चार आश्रमों का मूल गृहस्थ आश्रम ही है।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।

शान्ति पर्व-295.39

अर्थात–जैसे सम्पूर्ण नदियाँ और नद समुद्र में जाकर मिलते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रम गृहस्थ का ही सहारा लेते हैं।

भारतवर्ष का प्रत्येक घर जीवन रहस्य के गम्भीर तत्त्व का प्रतीक है, एक पारमार्थिक सत्य की प्रतिमूर्ति है। अतः हमारा जीवन किस मार्ग पर चले , क्या उसका स्वरूप हो, यह सब निर्भर करता है कि हमने चार

पुरुषार्थों को किस प्रकार समझा है। महाभारत में उपरिलिखित तत्त्वचिन्तन बड़े नाटकीय रूप में शान्तिपर्व के 167वें अध्याय में प्रस्तुत हुआ है। राजा युधिष्ठिर ने अपने चारों भाइयों तथा पाँचवें विदुर जी से प्रश्न किया:

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता।
तेषां गरीयान कतमो मध्यमः को लघुश्च कः।।

शान्तिपर्व-167.2

अर्थात–"लोगों की प्रवृत्ति प्रायः धर्म, अर्थ, काम की ओर होती है। इन तीनों में कौन सबसे श्रेष्ठ, कौन मध्यम और कौन लघु है?"

इन तीनों पर विजय पाने के लिये विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिए? विदुर ने प्रश्न की एक सीमा-रेखा खींचकर लक्ष्य निर्देश कर दिया। उन्होंने कहा–"समस्या को एक परम पद पर पहुँचकर देखना होगा, तभी उसके मूल को जाना जा सकता है।" विदुर के मत में–बहुत से शास्त्रों का अनुशीलन , तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम–ये सब आत्मा की सम्पत्ति हैं, अविचलित मन से इन्हीं को प्राप्त करना चाहिए और धर्म और अर्थ का यही मूल है– "राजन! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थ को मध्यम बताया जाता है और काम सबकी अपेक्षा लघु है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं।"

अनन्तर युधिष्ठिर ने अर्जुन से जिज्ञासा की–"अर्जुन! तुहारा क्या मत है?"

अर्जुन केवल अद्वितीय वीर नहीं है, महाभारतकार ने उन्हें अर्थशास्त्र विशारद भी कहा है–*अर्थशास्त्र विशारदः पार्थो।* वह व्यावहारिक बुद्धि की स्वच्छ दृष्टि से जीवन के द्रष्टा हैं। उन्होंने कहा–राजन्! यह पृथ्वी कर्मभूमि है। यहाँ जीविका के साधनभूत कर्मों की ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति-भाँति के शिल्प –ये सब अर्थप्राप्ति के साधन हैं। अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक है। अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होता, ऐसा श्रुति का कथन है।

अर्थइत्येव सर्वेषां कर्मणामत्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः।।

इस कथन के बाद अर्जुन ने नकुल और सहदेव की ओर संकेत करके कहा कि महाराज ये दोनों भाई कुछ बोलने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। अब कुछ इनका भी मन्तव्य सुनना चाहिए।

कनिष्ठ पाण्डव नकुल और सहदेव। सहदेव का मन्तव्य चमत्कृत करने वाला है। दोनों ही भाई अर्थ, काम के पारस्परिक सम्बन्ध और गुरुत्व को यथार्थ रूप में समझने में सफल हुए हैं। हमें पता है कि सम्पूर्ण महाभारत में नकुल और सहदेव मितभाषी के रूप में प्रसिद्ध हैं; किन्तु ये दोनों ही स्थितप्रज्ञ के साक्षात् उदाहरण हैं। धर्मराज युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए नकुल सहदेव बोले–"धन अत्यंत प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसका सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है–इसमें संशय नहीं है।"

"जो धन धर्म से युक्त हो और जो धर्म धन से सम्पन्न हो , वह निश्चित रूप से आपके लिए अमृत के समान होगा, यह हम दोनों का मत है।

"अतः सबसे पहले धर्म का आचरण करें, फिर धर्मयुक्त धन का संग्रह करें। इसके बाद दोनों की अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्ग का संग्रह करने से मनुष्य सफल मनोरथ हो जाता है।"

धर्मं समाचरेत पूर्वं ततोर्थं कर्मसंयुतम् ।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम् ।।

शान्तिपर्व-167.22-27

नकुल सहदेव के बाद बारी आयी भीम की। भीम विलक्षण विलासी एवं भोगी हैं। द्रौपदी ने एक बार कहा था कि भीम बहुमूल्य वस्त्र पहनना और उत्कृष्ट यान में बैठना पसन्द करते हैं (वनपर्व - 27.22)। उनकी भोजन-प्रियता भी सुविदित है। वह चंदन चर्चित विचित्र माल्याभरण से भूषित एक शौकीन पुरुष हैं—

चंदनसारलिप्तो विचित्रमाल्याभरणैः रूपेतः ।

भीम ने कहा—"मेरे विचार से धर्म, अर्थ और काम—तीनों का एक साथ ही सेवन करना चाहिए। जो इनमें से एक का ही भक्त है, वह मनुष्य अधम है; जो दो के सेवन में निपुण है, उसे मध्यम श्रेणी का बताया गया है और जो त्रिवर्ग में समान रूप से अनुरक्त है, वह मनुष्य उत्तम है।"

भीम के मत में काम ही त्रिवर्ग का सार है। धर्म और अर्थ भी इसी में स्थित है। जैसे फूल से उसका मदतुल्य रस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ से काम श्रेष्ठ माना गया है। काम धर्म और अर्थ का कारण है। अतः हम लोगों को इस जगत में काम को ही श्रेष्ठ मानना चाहिए—*कामो हि राजन परमो भवे नः ।*

युधिष्ठिर इन सब बातों को सुनकर मुस्कराये। चारों भाइयों के मन्तव्य को भली-भाँति सुनकर युधिष्ठिर बोले—"बंधुओ, इसमें सन्देह नहीं कि आप लोग धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों पर विचार करके एक निश्चय पर पहुँच चुके हैं। आप लोगों को प्रमाणों का भी ज्ञान हैं। मैं सबके विचार जानना चाहता था, इसलिए मेरे सामने यहाँ आप लोगों ने जो अपना-अपना निश्चित सिद्धान्त बताया है, वह सब मैंने ध्यान से सुना है। अब आप, मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, उस को अनन्यचित्त होकर अवश्य सुनिये।"

युधिष्ठिर का वक्तव्य भगवद्गीता का ही सार तत्त्व है—जगत कल्याण का गुह्यतम तत्त्व—*लोकहिताय विहयम्*। दुःखपीड़ित इस संसार में मनुष्य अपनी कामनाओं का जाल मकड़ी के जाले की तरह स्वयं बुनता है और फिर उसमें फँस जाता है। स्वयंभू भगवान ब्रह्मा जी का कथन है कि जिसके मन में आसक्ति है अर्थात कामना है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। युधिष्ठिर के मत में मनुष्य केवल पाप से ही कष्ट नहीं पाता, अर्थ और काम से ही मनुष्य अस्थिर नहीं होता, धर्म और पुण्य भी एक तरह के बन्धन हैं। केवल पाप और अधर्म से ही नहीं, अपितु धर्म एवं पुण्य से भी ऊपर उठना होगा। अच्छे और बुरे दोनों दोषों से मुक्त होने पर ही मिट्टी और सोना एक हो जाते हैं।

विमुक्तदोषः समलोष्टका चनो।
विमुच्यते दुःखसुखार्थ सिद्धे।।

शान्तिपर्व-167.44

युधिष्ठिर की धारणा है कि धर्म, अर्थ, काम, रूप त्रिवर्ग से ऊपर मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। वस्तुतः युधिष्ठिर के इस कथन में गीता के *निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः* की प्रतिध्वनि मिलती है। *मृदङ्गनित्यसत्वस्थ निर्योगक्षेम* अवस्था पर पहुँचकर ही त्रिवर्ग सिद्धि की बात युधिष्ठिर कहना चाहते हैं। त्रिवर्ग की चर्चा के प्रारम्भ में ही विदुर ने परम पद की बात कही है—*धर्मार्थावेतेदेकपदं।* उपसंहार में युधिष्ठिर ने भी इसी का समर्थन किया।

शान्तिपर्व के 123वें अध्याय में युधिष्ठिर ने पितामह भीष्म से त्रिवर्ग के सम्बन्ध मे उनका निश्चित मत जानना चाहा है—"तात! मैं धर्म, अर्थ और काम के सन्दर्भ में आपका निश्चित मन सुनना चाहता हूँ। किन पर अवलम्बित होने पर लोकयात्रा का पूर्णरूप से निर्वाह होता है?—*लोकयात्रा हि कार्त्स्येन तिष्ठेतकेषु प्रतिष्ठिता* (शान्तिपर्व-123.1)।

युधिष्ठिर के इस प्रश्न का समाधान करते हुए भीष्म ने कहा है—आसक्ति शून्य निष्काम मन द्वारा ही त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है। इसी को भीष्म श्रेष्ठ बुद्धि कहते हैं—

श्रेष्ठे बुद्धिस्त्रिवर्गस्य पदय प्राप्नुयान्नरः।

शान्तिपर्व-123.8

जीवन में पुरुषार्थ चतुष्टय का महत्त्व साधारण व्यक्ति भी समझता है। इनमें से एक की भी उपेक्षा करने से जीवन श्रीविहीन एवं पंगु हो जाता है। चारों की साधना का अनुपात भी न समझने पर मनुष्य दैनन्दिन पीड़ा से बच नहीं सकता। यह भी सच है कि अपनी प्रकृति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का झुकाव इन चारों में से किसी एक की ओर अधिक होता हैं; यथा अर्जुन अर्थ को ही प्रधान मानते हैं और भीम काम को। नकुल और सहदेव धर्म और मोक्ष को परम पद देते हैं। अतः स्वाभाविक है यह जिज्ञासा उठे कि चर्तुवर्ग का परस्पर सम्बन्ध क्या है? वेदव्यास का मन्तव्य है कि धर्म से ही अर्थ और काम की उत्पत्ति है—

धर्मादर्शश्च कामश्च

स्वर्गारोहण पर्व-5.62

श्रीकृष्ण का भी मन्तव्य है कि अर्थ और काम धर्म से पृथक नहीं हैं—

नहि धर्मादपेत्यर्थः कामो वा पि कदाचन्

उद्योग पर्व-124.37

विदुर ने कहा है—धर्म के मध्य में ही अर्थ है—

धर्मे चार्थः समाहितः

शान्तिपर्व-167.60

अतः जीवन के इस रहस्य-चतुष्टय को हमें अच्छी तरह जानकर गन्तव्य की तरफ अग्रसर होना चाहिए।

महाभारत के शान्तिपर्व में ही कहा है—जिसे धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों का ठीक-ठीक ज्ञान है, जो खूब सोच-समझकर उनका परित्याग कर चुका है और जिसने मन के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुसन्धान करके योगमुक्त हो, आत्मा से भिन्न वस्तु के लिए उत्सुकता का त्याग कर दिया है, वही तत्त्वदर्शी है। हमें तत्त्वदर्शी होकर ही संसार-यात्रा सम्पन्न करनी चाहिए।

आधुनिक संस्कृत साहित्य

किरीट जोशी

संस्कृत की संरचना मानव मन से नहीं, वरन् आत्मा की अग्नि से हुई थी। वह उच्चतम बलिदान की अग्नि थी। विश्वामित्र ने ऋग्वेद में कहा है–

प्रांचं यज्ञं चंकृम वर्द्धातां गीः

ऋग्वेद 3.1.1

यह ऐसी वाणी है जिसकी शक्ति से वैदिक ऋषियों ने पर्वत को विदीर्ण किया, गुप्त ज्योति को प्रकाशित किया एवं अमर बन गये।

वीलु चिद्दृलहा वितरो न उक्थ रैद्रिं
रुजन्नङ्गि रसों रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मेः
अहः स्वर्विवुदु केतुमुस्राः।।

ऋग्वेद 1.71.2

अमरत्व की वाणी, निस्संदेह अमर है। क्या यह हमारे इतिहास का ज्वलन्त तथ्य नहीं है कि अनेक प्रकार के दुर्भाग्यों के भीषण आघातों एवं शताब्दियों तक पतन के बाद भी यह वाणी, हमारे कालजयी अतीत को वर्तमान से जोड़ती रही है। संस्कृत का आधुनिक इतिहास एक प्रमाण एवं एक वचनबद्धता है, जिसके सम्बन्ध में डॉ. राजेन्द्र मिश्र का मत है कि "संस्कृत मृतभाषा नहीं है, न ही यह मर रही है और न यह कभी मरेगी।"

न मृता म्रियते न मरिष्यति वा।

यह ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत सदा से अखिल भारतीय भाषा रही है तथा समग्र देश में इस भाषा के प्रति विश्वव्यापी आकर्षण बना हुआ है। यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उन्नीसवीं सदी के तमसावृत काल मे जब स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने विचारों का प्रचार करना आरम्भ किया था, तो जनसमाज के मध्य उन्होंने अपने भाषण संस्कृत में ही दिये थे। यहाँ यह देखना भी आवश्यक है कि आधुनिक काल के आरम्भिक वर्षों में संस्कृत में साहित्य-सृजन करने वाले अनेक प्रतिभा सम्पन्न लेखक थे, जिनमें अप्पय दीक्षित, नीलकण्ठ

दीक्षित, वेलकोंडा रामराय, राधामण्डलम् नारायण शास्त्री, महामहोपाध्याय लक्ष्मीसुरी, पं. मधुसूदन ओझा आदि उल्लेखनीय हैं। इन विद्वान लेखकों में से प्रत्येक ने 60 से लेकर 140 तक के बीच अनेक प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

आधुनिक युग के उत्तरार्द्ध में यद्यपि साहित्य-सृजन में कमी आयी, फिर भी यथेष्ट रचना-कार्य संस्कृत भाषा में किया गया। इस काल के अनेक साहित्य-सेवियों में–डॉ. कृष्णमाचार्य, डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर, डॉ. हीरालाल शुक्ल, डॉ. उषा सत्यव्रत के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ. वर्णेकर प्रणीत ***संस्कृत वाङ्मय कोश*** के दो भागों के रूप में डॉ. वेङ्कटराम राघवन की रचनाओं के संकलन के हाल ही में प्रकाशन से, संस्कृत साहित्य के महत्त्व और उसके सातत्य के प्रति हमारी जागरूकता तीव्र हुई है।

आधुनिक संस्कृत साहित्य की कहानी तुल्य अवधि की अन्य भारतीय भाषाओं की कहानी से ठीक-ठीक मेल नहीं खाती, किन्तु इन दो के बीच निस्संदेह एक सम्बन्ध अवश्य है। आरम्भ में, अंग्रेज़ी साहित्य तथा पश्चिमी विचारों के प्रभाव से साहित्य के लिए भारतीय जलवायु निर्धारित होती थी। ऐसे बुद्धिजीवी, जिनकी संख्या यद्यपि अधिक नहीं थी, फिर भी वे अपनी प्रतिभा तथा मौलिक उत्साह के कारण काफी शक्तिशाली थे, उन्होंने हमारी प्राचीन संस्कृति के विषय में पाश्चात्य दृष्टि क्षेत्र को व्यावहारिक रूप से स्वीकार करके उसे अर्द्धसभ्यता का युग माना है। हमारी मान्यताओं पर छाये ये आदर्श, हमने या तो पश्चिम से उधार लिये हैं अथवा ये प्रमुखतया एवं विशुद्ध रूप से पाश्चात्य आत्मा तथा वहाँ की शिक्षा से अनुप्राणित हैं। विचारों की यह प्रभावकारी स्थिति यद्यपि समाप्त हो चुकी है, फिर भी इसका कुछ-न-कुछ प्रभाव अभी तक विद्यमान है। इस कालावधि में घटित घटनाओं के तीन परिणाम, भारत के जागरण की दृष्टि काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। पहला परिणाम यह रहा कि भारतीय विचारकों के मन में सब प्रकार के ज्ञानार्जन की पुरातन अदम्य ज्ञान पिपासा पुनः जीवित हो उठी, किसी विषय को विस्तार से देखने एवं समझने के लिए मानव मस्तिष्क की विवेचनाशील शक्ति जागृत हो उठी और सामान्य लोगों में भी ज्ञान के प्रति बुद्धिविवेक-समन्वित उत्साह दिखायी पड़ने लगा। दूसरा परिणाम यह निकला कि हमारे दृष्टि-पटल को जिन आधुनिक विचारों ने आच्छादित कर रखा था, उनके विषय में चिन्तन करने तथा गहराई से उनका पता लगाने के लिए हम विवशतः उत्प्रेरित हुए। अन्तिम परिणाम के रूप में अतीत की ओर नयी दृष्टि लेकर देखना हमारे लिए बाध्यकर बना और पुरातन ज्ञान से निहित निर्माण तथा विकास की नवशक्ति को प्रकाश में लाने का उपक्रम करने लगे।

इसके बाद भी पाश्चात्य विचार तथा प्रेरणाएँ शेष रहीं, किन्तु वे स्वतः संस्कृत एवं अन्य प्राचीन भाषाओं में निहित पुरातन विचारों की ओर आकर्षित होकर इनकी मूल भावना से अधिकाधिक अनुरंजित होती गयीं। कालान्तर में यह प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी और अन्ततः वह विचार तथा आत्मा दोनों से अपने आप भारतीय बन गयी। परिवर्तन की इस स्थिति का चित्रण बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं में देखा जा सकता है। इस आन्दोलन के समानान्तर एक धारा प्रत्येक भारतीय वस्तु को भारतीय होने की वज़ह से

प्रमाणीकृत करने और उसे पुनः स्वीकार करने की प्रवहमान हुई। इस धारा द्वारा कहीं अधिक क्षीण स्वात्मीकरण तथा द्रवणशीलता आरम्भ की गयी। प्रमाणीकरण की इस प्रक्रिया के लिए पुरानी और नयी विचारधारा परम्परागत एवं विवेचनशील मस्तिष्क के लिए एक प्रकार के संश्लेषण की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामस्वरूप, प्राचीन संस्कृति की तह तक पहुँचने और उसे पुनः साँचे में ढालने की बुद्धिमान तत्परता की खोज जारी रही, ताकि जो कुछ जीर्ण है, उसे अस्वीकार किया जाये तथा प्राचीन आध्यात्मिकता के ग्राह्य नये उद्देश्यों को स्वीकार किया जाये। इससे भारतीय आत्मा को अधिक व्यापक प्रगतिशील विकास करने के लिए अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि स्वामी विवेकानन्द, इस क्रिया के ज्वलन्त उदाहरण थे। वे अत्यधिक शक्तिशाली महापुरुष थे, जिन्होंने भूत एवं वर्तमान के साथ अधिक स्वतंत्रता से व्यवहार किया। वस्तुतः वे पुनर्निर्माण द्वारा परिरक्षण के पक्षधर थे। लेकिन, आज भी भारतीय संस्कृति एवं विदेशी प्रभावों का मामला हमारे देश के उच्च विचारकों के मन पर अपना प्रभाव डाले हुए हैं और इस सन्दर्भ में आधुनिक संस्कृत साहित्य के विकास को देखा जा सकता है। संस्कृत साहित्य के अनेक अध्येता और लेखक स्वयंमेव-विकसित रूपान्तरण और प्रचुर, ओजस्वी पुनरुज्जीवन के लिए उपलब्ध अवसर का उपयोग करने के लिए उत्साहित हुए हैं। आत्मसात् करने की इस नवीन भावना के प्रयोगार्थ उपन्यास, लघुकथाएँ, आलोचनात्मक निबन्ध और कई अन्य नयी विधाएँ साहित्य-प्रणयन में अपनायी गयी हैं।

इस अवस्था में विकास की तीन दिशाएँ स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हुई हैं। सर्वप्रथम यह कि प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान का अपनी पूरी गरिमा, गम्भीरता एवं उच्चता के साथ पुनरुत्थान हुआ है। भारतीय पुनर्जागरण का यह अत्यन्त आवश्यक कार्य है। दूसरे यह कि प्राप्त आध्यात्मिकता का प्रवाह दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान एवं समालोचनात्मक ज्ञान के नये स्वरूप की ओर हुआ है तथा तीसरे यह धारणा बनी है कि आधुनिक समस्याओं का समाधान हमें भारतीय भावना के अनुसार करना चाहिए तथा आध्यात्मिक समाज के निर्माण हेतु साहसिक प्रयास करने चाहिए। पुनर्चेतना के इन तीन घटकों के विषय में आरम्भिक काय करने का काफ़ी प्रयास किया गया है, लेकिन हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि विगत पाँच या छह दशकों के दौरान इन सहज अनुभूतियों से हम स्वयं को भटकाव की ओर ले गये हैं और जो हमारी आरम्भिक वचनबद्धताएँ थीं, उनको हम या तो मुश्किल से पूरा कर सके हैं अथवा वे अपर्याप्त रूप से पूरी हो पायी हैं।

यहाँ प्रत्येक रचनात्मक कार्य के क्षेत्र में असन्तोष की सामान्य भावना के विषय में विचार किया गया है। हम अधिक की चाह करते हैं और मिलता अपेक्षा से कम है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि आधुनिक संस्कृत साहित्य की उपलब्धियों के बारे में असन्तोष क्यों है और नवीन प्रक्रिया शुरू करने की माँग क्यों की जा रही है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि संस्कृत साहित्य परम्परा के बन्धनों से अधिक जकड़ा हुआ है, इसलिए वह समयानुसार अपेक्षित मौलिक परिवर्तन करने के लिए सक्षम नहीं है।

यह निश्चय ही स्वीकार्य है कि हमारे समय के संस्कृत कवियों ने महाकाव्यों के लिए समसामयिक कथानकों को अपनाया है और संस्कृत में कुछ नाटक ऐसे रचे गये हैं, जो आधुनिक रुचि के अधिक समीप हैं। यह मान्य है कि कुछ यथार्थवादी गीतकारों ने श्रेष्ठ गीत लिखे हैं, अप्पा शास्त्री का ***पंजरबद्ध शुक*** प्रायः गीति काव्य के

उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जाता है, जिसमें आधुनिक ज्वलन्त समस्याओं का चित्रण किया गया है। डॉ. वर्णेकर प्रणीत ***तीर्थ भारतम्, श्रीराम संगीतिका, श्री कृष्ण संगीतिका*** और कई दूसरी रचनाएँ, यद्यपि जयदेव के ***गीत गोविन्द*** की शैली में लिखी गयी हैं, फिर भी ये नवीन सौन्दर्य से आपूरित कृतियाँ हैं। पण्डित अम्बिका दत्त व्यास प्रणीत उपन्यास ***शिवराजविजय*** तथा आनन्दवर्द्धन कृत ***कुसुम लक्ष्मी*** ऐसी कृतियाँ हैं, जिनसे पता चलता है कि हम अपेक्षित नयी दिशाओं की ओर उत्साहपूर्वक बढ़ रहे हैं। हाल के दिनों में लघुकथाओं के प्रणयन में भी अच्छी प्रगति हुई है और उनमें से कुछ में आधुनिक लघुकथाओं की सराहनीय तकनीक तथा अभिनव परिवर्तनशील भावना की प्रतीति होती है। समालोचनात्मक निबन्धों के प्रणयन में भी प्रशंसनीय गतिशीलता आयी है और उनमें एक प्रकार की परिपक्वता पायी जाती है। तथापि, इनमें से अधिकांश निबन्ध शोधपरक हैं। संस्कृत पत्रिकाओं का प्रकाशन एक अनूठी घटना है। देश में संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना करने, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान बनानें तथा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ खोलने से अनुसन्धान-कार्य सहित संस्कृत साहित्य के विकास को प्रोत्साहन मिला है। अनेक विश्वविद्यालयों के संस्कृत विभागों तथा भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (भण्डारकर प्राच्य अनुसन्धान संस्थान) जैसी संस्थाओं द्वारा किये गये कार्य भी प्रशंसनीय रहे हैं। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी संस्कृत साहित्य में एक भटकाव है तथा सद्यः परिवर्तनशील आधुनिक परिदृश्य में उसे अपने विकास के सही स्वर और नियम प्राप्त नहीं हो सके हैं।

किन्तु हमें यह निश्चय ही समझना तथा मानना चाहिए कि समकालीन संस्कृत लेखक को जिन परिस्थितियों में काम करना पड़ रहा है, उनमें अनेक बाधाएँ हैं। किसी भाषा और साहित्य की प्रतिभा, विकास की सही गति तब पकड़ती है, जब केवल विद्वानों में ही नहीं, वरन् जन-सामान्य के बीच पारस्परिक सम्पर्क तथा वैचारिक आदान-प्रदान होता रहे। जहाँ तक संस्कृत भाषा का सम्बन्ध है, उसे पर्याप्त रूप से अभी ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं हो पायी है। दूसरी बात यह है कि हमारी शिक्षा प्रणाली भी संस्कृत साहित्य तथा प्राचीन परम्पराओं का अध्ययन करने से रोकती अथवा हतोत्साहित करती है। ऐसे वातावरण में, जहाँ ज्ञान की किसी शाखा का अध्ययन करने के लिए बाज़ार मूल्य देखा जाता हो, तो संस्कृत, प्राचीन दर्शन, आध्यात्मिकता-जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की लगभग पूरी तरह उपेक्षा करने की मानसिकता बन जाती है। भारतीय विद्या अनुसन्धान अपनी नवजात अवस्था में है। भारतीय विद्या विशेषज्ञों की संख्या कम होती जा रही है तथा प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन की सुविधाएँ बहुत कम हैं। यदि संस्कृत सही वादे करके उन्हें पूरा करती है, तो अन्य सभी तत्त्वों में आधारभूत परिवर्तन अवश्य आयेगा।

संस्कृत लेखक पर इस सबसे बड़ी माँग को पूरा करने का दायित्व है कि यह सार एवं शैली, प्रभावशाली घटकों, आधुनिकता एवं दीप्ति का संयोजन करे। लेकिन इस माँग का आशय ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं किया गया। संस्कृत साहित्य की परम्परा बहुत विस्तृत है, यह अत्यधिक विविधतामयी है और जब तक संस्कृत की श्रेष्ठतम परम्परा को अच्छी तरह समझा और उस पर विचार नहीं किया जायेगा, तब तक कोई भी उस पर अपने अधिकार तथा उससे आत्माभिव्यक्ति की नूतन निपुणता की आशा नहीं कर सकता। वास्तव में आधुनिक संस्कृत लेखक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी कल्पना, अपने अनुभवों के सारतत्त्व तथा शैली की

अपेक्षित विविधताओं को पर्याप्त अभिव्यक्ति देने से पूर्व संस्कृत साहित्य की आत्मा तथा उनके विभिन्न युगों के वातावरण का भली प्रकार अध्ययन करने में अपना समय लगाये।

संस्कृत साहित्य अपने अतीत में महान रहा है। नव जागरण के इस युग में भी वह उभर रहा है, उससे स्वतः ही यह आशा की जाती है कि वह पुनः अपनी प्राचीन गरिमा को प्राप्त करे। इस साहित्य का पतन आरम्भ होने से पूर्व यह अपनी विविधतामयी महानता की अनेक महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं से होकर गुज़रा था। यदि हम इस साहित्य की वास्तविकता, बौद्धिक शक्ति तथा इसकी दिशाओं को समझना चाहते हैं, तो हमें इनका ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। आश्चर्य की बात है कि हमारा संस्कृत साहित्य का सर्वप्रथम अभिलेख पूरी तरह पद्यमय एवं उत्कृष्ट सूक्तों के रूप में प्राप्त होता है। यह विश्व के अन्य साहित्य से सर्वथा भिन्न है। हमें ज्ञात है कि इस अभिलेख के रचयिता वैदिक ऋषिगण उत्कृष्ट तकनीक में निष्णात थे; उनकी लय आलाप में अद्भुत तथा मूर्च्छना में सूक्ष्म हैं। उनकी वाणी गाम्भीर्य में गीतमयी तथा आरोह में महाकाव्य-जैसी है। उन्होंने मानव संघर्ष की कथा कही है तथा महासत्य की उच्चतर अनुभूति एवं अमरत्व की प्राप्ति के संघर्ष का महाकाव्य रचा है। इन अभिलेखों में उच्चतम ज्ञान की गुप्त प्रणालियाँ एवं परिणाम दिये गये हैं।

उपनिषदों की रचना संस्कृत साहित्य-चिन्तन के द्वितीय चरण का श्रेष्ठ कार्य है। इनकी कविता उत्कृष्ट है तथा ये उच्चतम आध्यात्मिक अनुभवों के भण्डार हैं। ये अखण्ड प्रकाशयुक्त शक्तिमान एवं विराट् पुरुष के अपौरुषेय तथा सहजानुभूत दर्शन के दस्तावेज़ हैं। वेदों की तरह उपनिषदों से भी हमें सतत् प्रेरणा मिलती है, जो स्वयंमेव अपरिहार्य अभिव्यंजना को प्रकट करती है तथा जिसमें मंत्रों की शक्ति विद्यमान है। उपनिषदों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं से भी हमें ऐसे दाय भाग की प्राप्ति नहीं होती, जिसमें आत्मज्ञान, विश्वज्ञान तथा ईश्वरीय ज्ञान के दीर्घ स्तोत्रों का संग्रह हो।

संस्कृत साहित्य के तीसरे चरण के परिचायक दो महाकाव्य—*महाभारत* तथा *रामायण* हैं। वीर गाथाओं के अतिरिक्त इन ग्रंथों में तत्कालीन सुविस्तृत बौद्धिक, नैतिक तथा सामाजिक संस्कृति का चित्रण मिलता है। ये मात्र महाकाव्य ही नहीं वरन् धर्म शास्त्र हैं। *महाभारत* की रचना एक विशाल राष्ट्रीय मन्दिर के रूप में की गयी है और यह भारतीय जीवन एवं संस्कृति सम्बन्धी विचारों एवं आदर्शों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। वैदिक परम्पराओं, औपनिषदिक विचारों तथा अन्य दर्शनों का समावेश गीता में किया गया है तथा वे वर्णनात्मक महाकाव्य में अन्तर्ग्रथित हैं। *रामायण* भी *महाभारत*-जैसा विशिष्ट ग्रन्थ है; इसमें दार्शनिकता तो *महाभारत* से कम है, किन्तु काव्य एवं कला सौष्ठव उससे कहीं अधिक है। *रामायण* में नैतिक तथा सौन्दर्यपरक भारतीय चिन्तन मिलता है। इसमें एक सुसम्बद्ध एकता तथा आत्मभिव्यक्ति का अद्वितीय शुद्ध विस्तार तथा सौन्दर्य दृष्टिगोचार होता है। *महाभारत* की रचना शैली सहज तथा यह अपनी अभिव्यक्ति में सरल है। इसकी तुलना में *रामायण* का कथानक अधिक आकर्षक है। इसमें चमत्कारी माधुर्य एवं शक्ति और उत्साह तथा लावण्य का सहज बोध पाया जाता है। ये दो महाकाव्य न केवल अपने काव्य-गुणों के कारण विस्मयकारी हैं, वरन् इसमे विषयवस्तु की प्रबन्धकाव्य-जैसी गरिमा भी है। इसमें कोई आश्चर्य नही कि अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों के समान समकालीन संस्कृत लेखक भी प्रायः इन महाकाव्यों की ओर पुनः आकर्षित हुए हैं।

संस्कृत साहित्य के चौथे चरण को शास्त्रीय युग की संज्ञा दी गयी है। इस युग में एक ओर तो साहित्य की सुदीर्घ एवं प्रचुर परिपक्वता और उसका अनुक्रम था तथा इसी प्रकार इसका ह्रास भी कम वैभवशाली नहीं था। भर्तृहरि तथा कालिदास की वाणी तथा महाकाव्यों की आत्मा एवं संरचना में बहुत बड़ा अन्तर है। महाकाव्यों की भाषा एवं उसके प्रवाह में ओजस्विता, स्वतंत्रता तथा नैसर्गिक शक्ति है; कालिदास की वाणी में निपुणतामयी कला है, यह एक बौद्धिक तथा सौन्दर्यमयी रचना है। यह उत्कृष्ट, सुविचारित एवं समलंकृत है; यह मूर्ति की भाँति गढ़ी तथा चित्र की भाँति चित्रित की गयी है; इसमें पाण्डित्यपूर्ण शिल्प एवं युक्ति है और इतने पर भी यह कृत्रिम नहीं है। सोच-समझ कर इसे स्वाभाविक रखा गया है और इसमें सुख की अनुभूति होती है। महाकाव्यों की भाँति कालिदास की रचनाओं से भी समकालीन भारतीय संस्कृति उजागर होती है। जैसी राष्ट्रीय चेतना हम वाल्मीकि तथा व्यास में पाते हैं, वैसी ही चेतना हमें कालिदास में मिलती है। कालिदास प्रतिभा के धनी थे, अपने समय की सभी विधाओं का उन्हें ज्ञान प्राप्त था। किसी प्रकार के पाण्डित्य प्रदर्शन के बिना कालिदास, अपने समय की संस्कृति की व्याख्या, अपनी कलात्मक तथा काव्यमयी रचनाओं में करते हैं, जो एक तरह से पूर्णता को प्राप्त हैं।

कालान्तर में संस्कृत साहित्य की रचनाएँ रचनापरक होने की बजाय अधिक अलंकारिक होने लगीं। ऐसा लगता है कि हमारा विवेक कहीं अधिक विच्छिन्न एवं आलोचनामूलक हो गया था, जिसकी वज़ह से हम वस्तुओं को उसकी सहज जीवनी शक्ति अथवा सहज बोधगम्य स्थिति में नहीं रहने देना चाहते थे। अति विकसित बुद्धिवाद का यह गुण भी है तथा उसका दोष भी, जो किसी भी साहित्य को पतन की ओर ले जाता है। संस्कृत साहित्य के मामले में यह पतन धीरे-धीरे हुआ। उस समय की दार्शनिक कृतियों में अधिकाधिक विकास की स्थिति दिखायी पड़ती है। पुराणों तथा तंत्रों की स्फूर्तिमयी धार्मिक कविता का प्रणयन भी उसी काल में हुआ था। दार्शनिक साहित्य में, यद्यपि हम उपनिषदों अथवा गीता के प्रबन्ध काव्यत्व-जैसी महानता नहीं पाते हैं, फिर भी इस काल में ऐसे प्रशंसनीय साहित्य का सृजन हुआ, जिसमें साहित्यिक गुणों के साथ-साथ दार्शनिक प्रतिभा का योग है। कुछ कविताएँ उत्कृष्ट हैं तथा उनकी रचना में सावधानी बरती गयी है। इनमें उच्चत्तम विचारों को मूर्त रूप देने के लिए पुरातन संस्कृत वाणी के वाक्यांशों के बजाय उसके गुरुत्तर सर्वसम्मत शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस तरह इन कविताओं की लय में तारतम्य एवं सुरुचिपूर्ण उच्चता दिखायी पड़ती है। ऐसे गुण *विवेक चूड़ामणि*-जैसी कविताओं में काफ़ी दिखायी पड़ते हैं, जिसकी रचना का श्रेय शंकराचार्य को है। पुराणों तथा तंत्रों में हमें मनोवैज्ञानिक तथा अध्यात्मिक अनुभवों की एक अपरिमित एवं जटिल छवि की प्रतीति होती है। इनमें प्रत्येक के आत्मिक महत्त्व के साथ उसके भौतिक बिम्बों की प्रणाली को भी चित्रित किया गया है। पौराणिक काव्य विशुद्ध रूप से धार्मिक काव्य है। इनमें धार्मिक रचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और इनमें प्राचीन महाकाव्य शैली की प्रत्यक्ष शक्ति तथा उच्चता को बनाये रखा गया है। इन पुराणों में—विशेष रूप से *विष्णु* तथा *भागवत पुराण* में सहज अनुभवगम्य माधुर्य एवं सौन्दर्य के गीत्यात्मक तत्त्व विद्यमान है। इनकी अनेक कथाएँ भव्य, ओजमयी तथा काव्यकला कौशल की श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

हम यहाँ सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय की समीक्षा नहीं करने जा रहे हैं, और न हम उन विपुल साहित्यिक गतिविधियों का ही यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, जिनके मात्र कुछ अवशेष रह गये हैं। यहाँ माघ, भारवि, भास, बाण अथवा हर्ष-जैसे महान कवियों की चर्चा करना उचित नहीं होगा और न *जातक, कथा सरित्सागर, पंचतंत्र, हितोपदेश* या अन्य रचनाओं पर ही विचार करना सम्भव होगा। हम न तो यहाँ जयदेव प्रणीत *गीतगोविन्द* की महानता तथा उसके काव्य-सौन्दर्य की ही विशद् विवेचना कर सकेंगे और न यहाँ संस्कृत साहित्य के पतन के कारणों पर विचार करने के लिए स्थान है। किन्तु, हम यहाँ यह ज़रूर कहना चाहेंगे कि संस्कृत कविता का प्रणयन होता रहा और तुलनात्मक रूप से बाद की अवधि में भी यह क्रिया विशेष रूप से दक्षिण में जारी रही। ऐसी स्थिति में भी संस्कृत दर्शन तथा सभी प्रकार के पाण्डित्य की भाषा बनी रही और आज भी हमारे पास विस्मयकारी आधुनिक संस्कृत साहित्य है। किन्तु, मात्र अवशिष्ट, केवल जीवन्त और विस्मयकारी होना ही पर्याप्त नहीं है। हमें सफलता प्राप्त करने तथा परितोष के लिए आगे बढ़ने की ज़रूरत है।

ऐसी अवस्था में मार्गदर्शन खोजने एवं अभिनव परिवर्तन के संकेतों को पहचानने के लिए परम्पराओं से शिक्षा ग्रहण करना महत्त्वपूर्ण होगा। सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक अनुभवों पर ज़ोर देना हमारी परम्परा की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। संस्कृत साहित्य के पूरे इतिहास में आत्मा का गुणगान मिलता है, जो धर्मान्धतापूर्ण नहीं है। यह गुणगान स्फूर्तिकारी नवीकृत तथा पुनरावर्ती आत्मान्वेषण से परिपूर्ण है। इनमें सूक्ष्मता तथा विकासशील प्रभावोत्पादकता के द्वारा एक नये आध्यात्मिक क्षेत्र के विस्तार तथा उसके उद्घाटन की क्रिया है। यह एक प्रखर विषय है और अभिनव परिवर्तन की अपनी दौड़ में, इसकी न तो हम उपेक्षा कर सकते हैं और न इस विषय को भुला सकते हैं। संस्कृत साहित्य की उत्कृष्टता और भव्यता सर्वप्रथम उसके आध्यात्मिक अनुभवों तथा आत्मानुभूति की विविधताओं के प्रति आभारी है। इस क्षेत्र में पुनः जागृति लाने तथा रुचि पैदा करने के लिए अभिनव परिवर्तन करने की ज़रूरत है, ताकि अतीत और वर्तमान के योगदान को पुनः प्राप्त किया जा सके। विशेष रूप से आधुनिक भारत में आध्यात्मिक अनुभवों के संश्लेषण के क्षेत्र में इसकी नितान्त आवश्यकता है। इसके ज्वलन्त उदाहरण श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और श्रीअरविन्द हैं। ऐसा करने से हम उस दिशा का अनुसरण करेंगे, जो वेदों, उपनिषदों तथा संस्कृत साहित्य के समग्र इतिहास से उभर कर सामने आती है। इस प्रकार हम अपने तथा अपनी भावी पीढ़ियों के लिए आत्मा और पदार्थ के संश्लेषण की उत्तम विषयवस्तु के सुविस्तृत क्षेत्र को पुनः प्राप्त कर सकेंगे।

दूसरी शिक्षा आध्यात्मिक एवं बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक एवं सौन्दर्यपरक है, जो हम प्राप्त कर सकते हैं। इसमें झगड़ने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि महाभारत तथा रामायण में यह कुशलतापूर्वक दर्शाया गया हैं कि जीवन के इन महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों को किस प्रकार मिश्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार के मिश्रण के प्रयास, आधुनिक और आधुनिक से पूर्व युग के अभिनवीकरण के संदर्भ में किये जा सकते हैं। समकालीन बौद्धिक, समालोचनात्मक, वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान का जो विस्फोट हुआ है, हमें उस पर भी ध्यान देना होगा। हमें इस विकासशील युग की रफ़्तार से भी अधिक तेज़ दौड़ने की ज़रूरत नहीं है। वीसवीं सदी का व्यक्तिनिष्ठवाद, जिसने हमारे समय के मानवीय मनोविज्ञान, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक

महापरिवर्तन को अधिक गहराई से समझने का वादा किया था, अपने लक्ष्य को पाने में असफल रहा है। इस दौरान हम अभूतपूर्व संकट देख रहे हैं तथा हमें बौद्धिक और नैतिक परिमापों की असमंजस-भरी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। अर्जुन की तरह हमें एक नये प्रकाश श्रीकृष्ण की आवश्यकता है। यह सच है कि साहित्य को हमें धार्मिक अनुदेशों, नैतिक उपदेशों अथवा भोगाधिकार का माध्यम नहीं मानना चाहिए। किन्तु यह आशा करना न्यायसंगत है कि साहित्य के द्वारा उभय संकट तथा प्रखर अनुसन्धान के संवेदनशील एवं गम्भीर अनुभवों को प्रस्तुत किया जाना चाहिए, ताकि दृश्यजगत की पृष्ठभूमि में क्या है, पाठक इसका गम्भीर एवं गम्भीरतर प्रत्यक्ष बोध अच्छी तरह प्राप्त कर सकें और गम्भीरतम विश्रान्ति में लीन आत्मा को उद्वेलित करने वाले विशालतम एवं गम्भीरतम विषयों का अनुवाद करके उन्हे साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करें। इस दिशा में अभिनवीकरण करने की माँग संस्कृत साहित्य से की जा सकती है।

इन्द्रिय-ग्राह्य एवं लोकोत्तर विषयों को परस्पर मिलाने की तीसरी शिक्षा हमें प्राचीन उच्च साहित्यिक युग से प्राप्त करनी चाहिए, ताकि कला-चातुर्य के उच्चतम स्वरूप को पूरी तरह सहज और सरल ढंग से व्यक्त किया जा सके। जीवन की अभिरुचि और सौन्दर्य की खोज, भले ही वह ऐन्द्रिक सौन्दर्य हो, कालिदास ने उसे उच्च विचारों, धार्मिक सिद्धान्तों, नैतिक आदर्शों, यहाँ तक कि तापसिक आत्मसंयम के लिए बौद्धिक मनोवेगों के साथ संयुक्त किया है। यह कठिन संतुलन आज भी प्रासंगिक है, जब इन्द्रियों ने जीवन को दबा रखा है। हम इन्द्रियलोलुप जीवन के महत्त्व को स्वीकार करते हैं; फिर लोकोत्तर तथा अध्यात्मिक मूल्यों के रूप में काया परिर्वतन करना चाहते हैं। आधुनिक लेखक के लिए जब वह नवीकरण की बात सोच रहा होगा, शायद यह सबसे अधिक कठिन चुनौती भरा कार्य होगा। जैसा कि *केन उपनिषद्* में वर्णित है—क्या हम अपनी दृष्टि से उस ज्योति को देख सकते हैं, क्या हम अपने कानों से उस स्वर को सुन सकते हैं, क्या हम अपने मन से उस मन को जान सकते हैं, क्या हम अपनी वाणी से उन शब्दों को बोल सकते हैं, क्या हम अपनी जीवनी शक्ति से उस जीवन का अनुभव कर सकते हैं?

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः वाचोह वाचं प्राणस्य चक्षुषः चक्षुः।

आधुनिक लेखक से अनुरोध है कि वह सूक्त तथा शैली दोनों में ऐन्द्रिक जीवन तथा ऐन्द्रिक अनुभव के पीछे अवस्थित गम्भीरतम सत्यों को उद्‌घाटित करे। इस काम में न केवल हम अपने प्राच्य युगीन साहित्य में मदद ले सकते हैं, वरन् अंग्रेज़ी कविता भी इसमें सहायक सिद्ध होगी, क्योंकि यह भौतिक चेतना के अनुभवों से शुरू होती है। कॉसर ने इसका सशक्त वर्णन किया है तथा शेक्सपीयर के माध्यम से यह आगे बढ़ी हैं, जो जीवन्त कविता का उत्कृष्ट रचयिता था तथा जिसमें मानवीय अनुभवों के भावात्मक गतिशील तथा इन्द्रिय-ग्राह्य तत्त्व बहुतायत से केन्द्रित हैं। वर्ड्सवर्थ, बायरन, शैली तथा कीट्स की कविता में ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक जीवन के अनुभवों की पृष्ठभूमि में गुज़र कर, आध्यात्मिक सत्य का चित्रण किया गया है। इस कविता के कुछ उत्कृष्ट स्थलों पर हम आत्मा की सहज ध्वनि का आभास पाते हैं। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति तथा प्राकृतिक दृश्यों में आत्मा की उपस्थिति का चित्रण किया है। बायरन के काव्य में विरल सशक्त विश्वसनीयताएँ पायी जाती हैं, किन्तु ये शैली के गीत्यात्मक स्वरों तथा अलौकिक प्रकाश में शायद सर्वाधिक विद्यमान हैं। अन्त में हम सम्पन्न, कलापूण

तथा इन्द्रिय-ग्राह्य कीट्स के काव्य की ओर आते हैं, जो अपने प्रत्यक्ष बोध और प्रचुरता स्रोत तथा रंग में उत्कृष्ट है।

उपर्युक्त तथा आधुनिक अंग्रेज़ी कविता, महाद्वीपीय अमेरिकन तथा एशियाई कविता प्रभावशाली अभिनवीकरण के लिए काफ़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है; किन्तु आधुनिक संस्कृत साहित्य में हमारी खोज इससे कहीं अधिक उपादेय सिद्ध हो सकेगी। इस बात की भारी सम्भावना है कि इससे उत्कृष्ट अन्तर्दृष्टि तथा रस्योद्घाटक प्रकाश, अभिव्यक्ति से सिक्त, अधिभारित एवं रूपान्तरित बौद्धिक, नैतिक, सौन्दर्यशाली, जैविक एवं सहज़ इन्द्रिय-ग्राह्य अनुभवों का एक मृदुल स्वरमय वाद्ययंत्रीय सम्पन्न संगीत हमें सुलभ हो सकेगा। यहाँ हमें पुनः वेदों तथा उपनिषदों, वाग्देवी एवं सरस्वती की ओर वापस आना होगा, ताकि उनसे गम्भीरतम प्रेरणा लेकर हम पुनः अपने भविष्य का द्वार उद्घाटित कर सकें।

संस्कृत साहित्य के प्राचीन इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण पाठ के रूप में पुनः हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि जब साहित्य अधिक अलंकारिक हो जाता है, जब सृजनशीलता तथा स्वाभाविकता एवं सहजता हटने लग जाती है और जब लेखन के निष्कर्ष निचले स्तर में समा जाते हैं, तब बहुत-सी त्रुटियाँ होने लगती हैं। ऐसी दशा में यदि हम पुनः जीवन्त तथा महान साहित्य की रचना करना चाहते हों, तो हमें उन त्रुटियों से बचना चाहिए। सभी अभिनवकारी प्रयासों के लिए हमें तीन उच्चतम भावों को एकत्र करने का प्रयास करना पड़ेगा। ये हैं—लय तथा शब्द संचलन का भाव, क्रिया रूप एवं विचार, निष्कर्ष का उच्चतम भाव तथा आत्मा द्वारा सत्य को निरखने का उच्चतम भाव। ये भाव संस्कृत साहित्य के लिए विदेशी नहीं हैं। किन्तु, राष्ट्रीय तथा विश्वस्तरीय समकालीन परिस्थितियों की शर्तों एवं संदर्भ में इन्हें परिष्कृत करके अधिक-से-अधिक आगे लाने की ज़रूरत है। अन्य दूसरी भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत में ऐसा करना आसान है, क्योंकि संस्कृत के लिए यह अत्यधिक पूर्ण साहित्यिक उपकरण है। यह पूर्णतया गरिमामय, मधुर तथा नम्य है; यह गुंजायमान तथा सूक्ष्म है तथा इसे उत्कृष्ट विचारोत्तेजकता, रंग एवं सुस्पष्टता के साथ मानव संस्कृति की उदात्त विषयवस्तु के रूप में व्यक्त किया गया है।

अन्त में, मैं यह बात दावे के साथ कहना चाहता हूँ कि संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति की एकता एवं सुदृढ़ता की अव्यर्थ भावना के सृजन हेतु, तैयार साधन प्रदान कर सकता है। व्यास, वाल्मीकि तथा कालिदास हमारे तीन महानतम राष्ट्रीय कवि हैं, जिन्होंने भारत की अन्तरात्मा की प्राणवायु तथा वातावरण संस्कृत को उपलब्ध कराया है। संस्कृत के माध्यम से भारत की आन्तरिक एकता, उसकी आत्मा के मूल में विद्यमान है, जो प्रकृतया स्वतः अभिव्यक्त होने लगती है। अतः संस्कृत साहित्य की वृद्धि और विकास को इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण वे अवलोकन करना होगा।

आज संस्कृत साहित्य के सामने मुख्य चुनौती ऐसे उपाय और साधन उपलब्ध कराने की है, जिनके द्वारा इस साहित्य का तेज़ी से विकास हो, ताकि इससे अपेक्षित माँगों को पूरा किया जा सके। यह भी आवश्यक है कि अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों का बढ़ता हुआ समाज, संस्कृत की ओर भी ध्यान दे और इसके विकास में अपना योगदान करे। अन्ततः यह कार्य हमें सृजनशीलता की भावना से सोच समझ कर करना होगा।

(मूल अंग्रेज़ी से शिवाशंकर पाण्डेय द्वारा अनूदित)

राजेश्वर कार्तवीर्य सहस्रबाहु से सम्बद्ध एक विस्मृतप्राय सम्प्रदाय

मुनीश जोशी

भारतीय सम्प्रदायों के नायक तथा प्रर्वतक अनेक देवी-देवता तथा मनुष्य माने जाते हैं, जिनमें सिद्धपुरुष तथा राजपुत्र दोनों प्रकार के व्यक्तियों की गणना की जा सकती है, पर सहस्रबाहु कार्तवीर्य-जैसे राजा से जुडे एक सम्प्रदाय विशेष का अस्तित्व हमारी धार्मिक परम्परा में कुछ नये आयाम जोड़ता है। कार्तवीर्य सहस्रार्जुन का उल्लेख कई पुराणों में है, विशेष रूप से परशुराम के उपाख्यान के सन्दर्भ में। वह चन्द्रवंशी राजाओं में हैहयवंशी राजकुल में उत्पन्न हुआ था। उसे ययाति के यदु नामक पुत्र का वंशज माना जाता है। कहा गया है कि यदु के सहस्रजित नामक पुत्र की तीसरी पीढ़ी में हैहय नामक नरेश हुआ और उसकी दसवीं पीढ़ी में कृतवीर्य का पुत्र कार्तवीर्य अर्जुन के नाम से विख्यात हुआ और पुराणों में यह भी उल्लिखित है कि उसने भगवान दत्तात्रेय की उपासना की और उसने बलशाली, परम विजयी, अपराजित, महाधार्मिक तथा चक्रवर्ती की उपलब्धि प्राप्त करने के लिए उनसे अनेक वर प्राप्त किये; और उन्हीं के प्रसाद से उसे अपनी सहस्र भुजाएँ मिली। इस कारण उसका नाम कार्तवीर्य सहस्रार्जुन पड गया। उसे पुराणों में माहिष्मतीपति तथा सप्तद्वीपेश्वर कहा गया है। माहिष्मती उसकी राजधानी थी, जिसे उसके एक पूर्वज महिष्मान ने बसाया था। पुराने संस्कृत के विद्वानों ने इस नगर की पहचान वर्तमान तीर्थ ओंकारेश्वर मान्धाता से की है, जो नर्मदा के बीचों-बीच एक द्वीप के रूप मे स्थित है; किन्तु पुराविदों की राय में यह प्राचीन नगर मध्यप्रदेश में नर्मदा के तट पर स्थिति माहेश्वर नामक स्थान (जि.निमाड) पर था। इस स्थल से ताम्राश्मयुगीन तथा प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल के अनेक अवशेष भी मिले हैं। परम्परा के अनुसार कार्तवीर्य हज़ारों यज्ञों का अनुष्ठाता था और उसकी प्रजा सुखी थी। ***विष्णु पुराण*** (चतुर्थ अंश, 12 अध्याय) उसकी धार्मिकता के विषय में लिखता है :

न नूनं कार्तवीर्यस्यगतिं यास्यन्तिपार्थिवाः यज्ञैदनैस्तपोभिर्वा प्रश्रयेण श्रुतेन च ।।6।।

अर्थात् यज्ञ, दान, तप, विनय और विद्या में कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की समता कोई राजा नहीं कर सकता था।

वह इतना शक्तिमान था कि उसने रावण को पराजित किया था। पौराणिक परम्परा के अनुसार कार्तवीर्य के गुरु भगवान् दत्तात्रेय थे; उनके पौरोहित्य में उसने भद्रदीप-प्रतिष्ठा नामक अनुष्ठान सफलतापूर्वक किया तथा प्रसाद रूप में उसे अनेक उपलब्धियाँ हुई जिससे वह भारत के महान राजाओं में गिना जाने लगा।

पारम्परिक वृत्तों के अनुसार मूलतः हैहय क्षत्रियों के गुरु भार्गववंशीय ऋषि थे, पर कालान्तर में उनमें आपसी प्रतिस्पर्धा हो गयी। समय बीतने पर उनके बीच की पारस्परिक कटु भावना कुछ कम हो गयी थी; पर पूर्णतः नष्ट न हो पायी। वर-प्राप्ति के पश्चात कार्तवीर्य ने ब्राह्मणत्व से क्षत्रियत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया और अन्त में वह जमदग्नि पुत्र भार्गववंशी परशुराम के हाथों मारा गया। इस सन्दर्भ में कई पुराणों में उल्लेख है कि एक बार परशुराम के पिता ऋषि जमदग्नि के आश्रम में राजा कार्तवीर्य अपने अनुचरों सहित अनायास पहुँच गया, तो ऋषि ने उत्कृष्ट खाद्य पदार्थों से अनुचरों सहित स्वागत-सत्कार किया। राजा के यह पूछने पर कि इस आश्रम में इतने सारे भोज्य पदार्थ उन्हें किस प्रकार प्राप्त हुए, जमदग्नि ने कहा कि यह सब उनकी दैवी शक्तिमयी गौ (होमधेनु) की कृपा है। यह सुनकर कार्तवीर्य ने उस गाय को ऋषि से माँगा और उसे लाने के लिए अपने मंत्री को भेजा। जमदग्नि के मना करने पर कार्तवीर्य के सेवकों ने पीट-पीट कर उनकी हत्या कर दी। शुक्राचार्य की कृपा से वे पुनर्जीवित हो गये, पर परशुराम इस घटना से बहुत क्षुब्ध हुए और उन्होंने कार्तवीर्य को अन्य क्षत्रियों के साथ मारने का संकल्प लिया और कालान्तर में माहिष्मती नगरी जाकर कार्तवीर्य को ललकारा और भयानक युद्ध के बाद हैहयवंशी नरेश को मारकर अपना प्रतिशोध पूरा किया।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मध्ययुगीन तंत्र शास्त्रों की परम्परा को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल के बाद कभी कार्तवीर्य सहस्रबाहु की पूजा एक विशिष्ट सम्प्रदाय के अन्तर्गत होने लगी थी। इस सम्प्रदाय का मुख्य देवता कार्तवीर्य स्वयं था और उसकी पूजा-पद्धति से तंत्र मंत्रों की सभी क्रियाएँ तथा विधाएँ धीरे-धीरे जुड़ गयीं। वैसे मानवीय महापुरुषों या सन्तों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की हमारे यहाँ लम्बी परम्परा थी और मृत्यु के बाद लोकनायकों और राजाओं को किसी सम्प्रदाय नायक के रूप में पूजने के भी भारतीय इतिहास में कुछ उदाहरण हैं। मथुरा में यदुवंशी पंचवृष्णि वीरों की उपासना, जो कालान्तर में वैष्णव मान्यताओं से जुड़ गयी थी, मूलतः राजकुलीन नायकों की पूजा थी। पाणिनि ने भी वासुदेव तथा अर्जुन के भक्तों की वासुदेवक तथा अर्जुनक के नाम से चर्चा की है, पर यह अर्जुन हैहय अर्जुन न होकर पाण्डव अर्जुन लगता है, क्योंकि वासुदेव कृष्ण के जीवन से उसी का व्यक्तित्व अन्तरंग रूप से गुँथा हुआ है।

अतः यह कहना कठिन है कि कब और कैसे कार्तवीर्य की पूजा ने सम्प्रदाय का स्वरूप धारण किया। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि लोक देवता के रूप में, मनुष्य योनि में जन्मे वीर अथवा पुण्यात्मा जननायकों तथा राजाओं को प्रतिष्ठित कर अर्चित करने की प्रथा भारत में पुराने समय से थी। मध्यकाल में भी राजस्थान में गूगा चौहान या बिहार में अहीरनायक लोरिक तथा दूसरे राजपुत्रों को मरणोपरान्त पूजने की काफ़ी सशक्त परम्परा के प्रमाण मिलते हैं। कुमायूँ में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भोलनाथ नामक एक स्थानीय चन्द्रवंशीय राजकुमार जो संन्यासी बन गया था, अपने भाई द्वारा धोखे से अल्मोड़ा नगर में मारे जाने पर देव रूप में पूजित हुआ। इस प्रकार के दृष्टान्तों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नर्मदा के तटीय क्षेत्र या मालवा में सम्भवतः प्राचीन काल से कार्तवीर्य को सिद्ध रूप में पूजने की कोई लोक परम्परा रही हो, जिसने कालान्तर में एक व्यवस्थित अनुष्ठानात्मक रूप ले लिया हो। अनुमानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्तोत्तरकाल,

विशेषकर मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र के क्षेत्रों में कलचुरी शासकों के उत्कर्ष के बाद, कार्तवीर्य की पूजा को एक साम्प्रदायिक स्वरूप मिल गया हो। इसलिए सम्भव है कि कलचुरी राजा अपने को हैहय वंश तथा कार्तवीर्य से जोड़ते थे। उनके कुछ शासन-पट्टों में इस प्रकार का उल्लेख भी हैं; उदाहरणार्थ त्रिपुरी के युवराजदेव द्वितीय (980-990 ई.) के बिलहरी के अभिलेख का एक अंश इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है :

.....सोयं सोमाभिधानस्तिलकयति कला मौलिमस्यैव शम्भोरस्मादेव प्रवृत्तः किपरमयमप्यन्वयो हैहयानाम् ।। 7 ।।
अस्मिश्च वन्यतमाताङ्गमिते बुधाद्यैराद्यैनृपैर्नृ पतिरर्ज्जुन इत्युदारः ।
आसीद् द्विषद्विपिनकर्त्तनकीर्त्तनीयकीर्त्तिच्छटाछुरित दीर्घदिगन्तरालः ।। 8 ।।
यद्वक्षस्तटताडनातितरलत्रु ट्यत्पविप्रोच्छलज्ज्वालामालिकरालितेन करिणा देवाधिपः क्वाप्यगात् ।
लीलोल्लालितशर्व्वपर्व्वतपतेस्तस्यापि लङ्कापतेर्यद्वैरव्यवसायिनो यदभेवत्ख्यातिप्रमाणं हि तत् ।। 9 ।।
दत्तात्रेय इति प्रकामकमलालीलायितानाम्पदं यो देवः स सुतप्रतिश्रुतवचः प्रीत्या यमन्वग्रहीत्..... ।। 10 ।।

इन श्लोकों में हैहयों को शिव के शीर्ष पर स्थित चन्दमा से उत्पन्न बताया है और यह भी कहा है कि बुध (चन्द्रपुत्र) आदि प्राचीन राजपुत्रों से यह कुल वन्दित हुआ। इसी महान वंश में उदार, कीर्तिवान् शत्रुहन्ता अर्जुन (सहस्रबाहु) नामक राजा हुआ, जिसने लंकापति रावण का वक्षस्थल ताड़न कर अपना यश स्थापित किया और जिसे भगवान दत्तात्रेय द्वारा पुत्रों की प्राप्ति का प्रसाद दिया गया था।

इसी प्रकार महाकवि राजशेखर अपने ***बालरामायण*** में महिष्मती के कलचुरियों को परिलक्षित कर स्पष्ट लिखते हैं :

यन्मेखला भवति मेकलशैलकन्या ।
वीतेन्धनो वसति यत्र च चित्रभानुः ।।
तामेष पाति कृतवीर्ययशोवतंसां ।
महिष्मतीकलचुरे कलराजाधानीम् ।।

इस प्रकार के सन्दर्भों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कलचुरी नरेशों ने अपना माहात्म्य बढ़ाने के लिए कार्तवीर्य की महिमा को संस्कृति की परम्परा के अन्तर्गत ढालकर उसे लोकदेवता से उच्चकोटि के देवता के रूप में तांत्रिक तथा शास्त्रीय औपचारिकताओं के साथ प्रतिष्ठापित किया। उसके तांत्रिक क्रम की जो परिकल्पना की गयी, उसमें ब्राह्मणों के प्रति कटुता नहीं थी, यद्यपि ***(सहस्रनामस्तोत्र*** में) उसे क्षत्रिय क्षत्रधर्मधृत (उपासनाध्यायः पंचम प्रकरण श्लोक 57) कहा गया है। ***सहस्रनाम*** (20 श्लोक, 5 प्रकरण) में ऋषि जमदग्नि तथा उनके पुत्र परशुराम का उल्लेख क्रमशः 'रेणुकारमण द्रोही' तथा 'रेणुकासुत पातितः' शब्दों में है, जो उसे जमदग्नि के शत्रु तथा परशुराम द्वारा पराजित राजा के रूप में व्यक्त करता है। लोकाचार और वनवासियो की अनुष्ठान प्रक्रिया का भी इसमें समावेश हुआ, क्योंकि नर्मदा का तटीय क्षेत्र तथा दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ़) या इसके आसपास का प्रदेश रहस्यमय तंत्र-मंत्र की परम्पराओं तथा शाक्त और शैवाचार्यो का केन्द्र आरम्भ से ही रहा है। अतः कार्तवीर्य के सम्प्रदाय में देवता का स्तुतिगान तथा देवता के लिए तंत्राचार्य के आदेशात्मक मंत्रों का विचित्र समायोग है।

उपलब्ध सन्दर्भ

आज हम यह नहीं कह सकते कि कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के सम्प्रदाय से सम्बन्धित तांत्रिक क्रम कितना विस्तृत था और यह किस प्रकार विकसित हुआ, क्योंकि हमें जो प्रकाशित सन्दर्भ ग्रन्थ मिले, वे बहुत कम हैं। यद्यपि उनसे इस तांत्रिक पद्धति के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय है प्राचीन तंत्र-मंत्रों के अपेक्षाकृत अर्वाचीन संग्रह यथा ***मंत्रमहोदधि***,[1] पंडित मुरलीधर झा द्वारा सम्पादित ***पुरश्चर्यार्णव***[2] (अठारहवीं शती ई.) तथा पंडित हरिकृष्ण द्वारा सम्पादित और शक 1829 (1907 ई.) में मे. खेमराज श्रीकृष्णदास (वम्बई) द्वारा प्रकाशित ***कार्तवीर्य उपासनाध्याय***[3]। पहले दो ग्रन्थों की अपेक्षा ***कार्तवीर्य उपसनाध्याय*** में इस सम्प्रदाय से सम्बद्ध विशेष सामग्री है, यद्यपि प्रकाशक ने इसमें स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है कि उन्हें इस क्रम की पूरी पाण्डुलिपि नहीं मिली, अतः वे इसे अपूर्ण ही मुद्रित कर रहे हैं। तीनों ग्रन्थों में कार्तवीर्य की तांत्रिक उपासना से जुड़ी सामग्री मुख्यतः उड्डामेश्वर या उड्डामर तंत्र से ली गयी है। कुछ अंश ***सुदर्शन संहिता*** नामक किसी ग्रन्थ से लिये गये हैं। सम्भवतः कार्तवीर्य उपासना सम्बन्धी यह कोई अन्य पुस्तक थी।

उपासना का स्वरूप

कार्तवीर्य की उपासना में शैव और शाक्त तथा वैष्णव मतो का प्रभाव मालूम पड़ता है। उसकी उपलब्ध अर्चना पद्धति पूर्णतः तांत्रिक है। उसमें एक दर्जन से भी अधिक बीजमंत्रों का प्रयोग मिलता हैं; ओंकार तथा क्रोंकार का अधिकांशतः उपयोग हुआ है। उसकी उपासना दक्षिण तथा वाम दोनों मार्गो से की जा सकती है : *अर्चनं द्विविधंचैव वाम दक्षिण भेदतः। वामेनवा दक्षिणेन पूजनं तु यथा रुचि* (10 श्लोक, प्रकरण प्रथम कार्तवीर्योपासनाध्याय)। कार्तवीर्य के अधिकतम मंत्रों के ऋषि दत्तात्रेय हैं और देवता स्वयं कार्तवीर्य; एक मंत्र के ऋषि नारद भी हैं। कुछ मंत्रों के सन्दर्भ में सदाशिव या शबर वेशधारी शिव का भी मंत्र विशेष के ऋषि के रूप में उल्लेख है और देवता के रूप में दत्तात्रेय को माना गया है। शाक्ततंत्रों तथा शबरवेशधारी शिव का अन्यत्र उल्लेख मृगयाप्रिय किरात या महाकिरात के रूप में है। उनके साथ शबरी या भिल्ली के रूप में धनुर्धारिणी पार्वती की परिकल्पना की गयी है। इसीलिए ***देवीभागवत*** में रामायण की शबरी को भी भगवती माना गया है। इस दैवी-अवधारणा का आदि स्रोत सम्भवतः महाकोसल की वन्यक्षेत्रीय आदिवासी संस्कृति हो सकती है, जिसे संस्कृति शाक्त परम्परा ने कालान्तर में ग्रहण किया।

उपलब्ध विधानों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि कार्तवीर्य सहस्रार्जुन की उपासना में तांत्रिक पद्धति के लगभग सभी तत्त्व विद्यमान हैं; यथा भूत शुद्धि, द्वार पूजा, भष्म एवं रुद्राक्ष (अथवा) गोपी चन्दन तथा तुलसी माला धारण, मुद्राएँ, कई प्रकार के न्यास, अन्तर्याग एवं वहिर्याग का विधान, वैश्वदेवनिरूपण, देवतापीठ निर्णय, पंचमकारशुद्धि, तिरस्करणी पूजन, पात्रस्थापन, यंत्रप्रतिष्ठा, यंत्रपूजन (इष्टदेव सपर्या), देवता का आवाहन (आसन), पाद्य, अर्ध्य, स्नानादि का विधान तथा विविध उपचारों, यथा गन्ध अक्षत पुष्प, धूप-दीप-नैवेद्य, सहित नीराजन। विशेष अवसरों पर इसमें बलिदान, कुमारी पूजन और शक्ति पूजन भी सम्मिलित किया जाता था।

कार्तवीर्य का यंत्र बिन्दु, षट्कोण, वृत्त, अष्टदल तथा भूपुर युक्त है। सभी यंत्रों की तरह इसमें विशिष्ट बीजाक्षरों को भी आरोपित किया जाता है। तंत्र की अन्य विद्याओं की तरह इसमें ध्यान, मार्जन, तर्पण, कार्तवीर्य गायत्री और उसके दूसरे मंत्रों के जप का विधान है। कार्तवीर्य के कुछ स्तोत्र भी आगम परम्परा में शिव पार्वती संवाद के रूप में प्राप्त होते हैं।

कार्तवीर्य के अनेक ध्यान श्लोक हैं; इनमें उसे मुकुट, कुण्डल तथा हारधारी दिव्यतेजोमय, रक्तवस्त्र-वेष्ठित राजेश्वर के रूप में परिकल्पित किया गया है। इसके एक सहस्र हाथों में पाँच सौ धनुष तथा पाँच सौ बाण बताये गये हैं। उदाहरणार्थ कुछ श्लोक प्रस्तुत हैं :

अव्यात्सर्वभयात्प्रभाकरनिभः प्रद्योतनोद्योतनः स्वर्णसक्परिवीतकंधरधरो रक्तांशुकोष्णीषवान् ।।

अधिक प्रचलित ध्यान इस प्रकार है :

सहस्रबाहुं सशरं सचापं रक्ताबरं रक्तकिरीटकुण्डलम्।
चौरादिदुष्टभयनाशनमिष्टदं तं ध्यायेन्म हाबलविजृमितकार्तवीर्यम् ।।

इस श्लोक में कार्तवीर्य का चोरों तथा दुष्टों के नाशक तथा मनोवांछित फलदाता, लाल वस्त्र, लाल रंग के मुकुट तथा लाल कुण्डल धारण करने वाला धनुर्वाणधारी राजा के रूप में ध्यान किया गया है।

निम्नलिखित ध्यान में उसे सूर्य के समान तेजयुक्त, कमलनेत्र, दुष्टहन्ता, रथारूढ़, स्थूल एवं विशालकाय शक्तिशाली सप्तद्वीप के स्वामी तथा भक्तों के रक्षक राजेश्वर के रूप में प्रस्तुत किया है, यथा :

सप्तद्वीपेकनाथः सवितृसमसचिः सर्वदुष्टान्तको नः
पायदब्जायताक्षोरथवनिलयः स्थूल कायो तिभीमः ।।

कार्तवीर्य के मुख्य हिन्दू देवताओं की तरह अपना गायत्री मंत्र भी है, यथा :

ॐ कार्तवीर्यार्जुनाय विद्महे सहस्रकराय धीमहि तन्नो विष्णुप्रचोदयात् ।

साधारणतः कार्तवीर्य का अधोलिखित मंत्र भय-मुक्त होने के लिए पढ़ा जाता है :

दक्षेपंचशतवाणान्वामेपंचशतंधनुः कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजारक्षतु मां सदा ।

इन स्तुतिरूपी ध्यानों के अतिरिक्त आदिम जादू (तंत्र) की परम्परा में कार्तवीर्य साधन के ऐसे भी मंत्र हैं, जिन्हें साधक देवता को अपने कष्ट निवारण के लिए स्पष्टतः आदेश देते है, उदाहरणार्थ :

ॐ नमो भगवते भो भो कार्तवीर्यार्जुन····· मम मूर्धिनं दुष्टं दारय दारय दुरितं हन हन पापंमथमथ आरोग्यं कुरु कुरु·····।

जैसा हमने पहले लिखा है कि कार्तवीर्य उपासना में अन्य तंत्र पद्धतियों के समान अङ्गन्यास, करन्यास के अतिरिक्त मातृकान्यास का भी उल्लेख हुआ और इसके पूजा-पंचाग के अंतर्गत सहस्रनाम, अष्टोत्तर, शतनाम, पंजर तथा कई प्रकार के कवचादि स्तोत्र दिये गये हैं और गुरु निर्दिष्ट विधान के अनुसार उनको गोपनीय रखकर पाठ किये जाने की परम्परा है। इन स्तुतियों को, जिनमें कार्तवीर्य के सन्दर्भ में जिन शब्दों या विशेषणों का

प्रयोग हुआ है, उनका विश्लेषण करने से कई बार इस पंथ या सम्प्रदाय के गठन और इसकी मान्यताओं पर प्रकाश पडता है। जैसे एक कवच में एक श्लोक इस प्रकार है : *करुणामृतवर्षिण्यापश्यन्तसाधकंदृशा*। अपने उपासक को करुणारूपी अमृत से आप्लावित करने की परम्परा मूलतः सम्भवतः महायान के मूलतत्त्व अर्थात् करुणा से प्रेरित है। बौद्ध धर्म में इसकी अभिव्यक्ति भक्तों के कल्याण बुद्ध तथा बोधिसत्वों के माध्यम से हुई है।

इसी प्रकार कार्तवीर्य के करन्यास के भी कई रोचक पक्ष हैं। यह पुराणों की हैहय परम्परा से जुड़े हैं, यथा :

ओ दत्तात्रेयप्रियतमाय अगुष्ठाभ्यां नमः।

.....महिष्मतीनाथाय तर्जनीभयां स्वाहा। रेवा (नर्मदा) क्रीड़ातृप्ताय. मध्यमाभ्यां वषट् .....हेहयाधिपते अनामिकाभ्यां हुं।.....वीरभद्राय कनिष्ठकाभ्यां वौषट्। .....सहस्रबाहवे करतलकर पृष्ठाभ्यां फट।।

कार्तवीर्य अर्जुन की महादेवता रूपी अवधारणा में वैष्णव, शैव, शाक्त एवं अन्य अब्राह्मण तत्त्व भी समाहित हैं। उसे मूलतः विष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार माना गया है : *यःसुदर्शन चक्रस्यावतारः क्षितिमंडले* (1, 13 प्रकरण) शिव के संदर्भ में उसे *सायक श्रेणी दुर्धर्षः श्रीनिवाससदाशिः* (6, 5 प्रकरण) या *शिव पूजा परायणः* कहा गया है। कलचुरी क्षेत्र में सोम सिद्धान्त को मानने वाले शैव भी रहते थे। अतः उसका एक विशेषण है *सोम सिद्धान्त शुद्धात्मा* (36 प्रकरण 5)। कुछ विद्वान सोम सिद्धान्तवादियों को अघोरपन्थी शैवों की श्रेणी में रखते हैं और कुछ सात्विक शैवों में।

एक अतिरोचक सन्दर्भ और हे, जिसमें कार्तवीर्य को किरातवेशी शिव द्वारा संस्तुत (प्रशंसित) और कात्यायनी (दुर्गा) प्रिय (7 प्रकरण, 26) कहा गया है। अन्यत्र उसका 'भवानी जयतत्पर' अर्थात् दुर्गा की विजय के लिए सदा कटिबद्ध के रूप में स्मरण किया गया है। एक स्थान पर उसे नवरात्रियों में नवदुर्गाओं का निराहारी पूजक भी बताया है—*नवरात्रि निराहारो नवदुर्गा परायणः* (51-5 प्रकरण)।

कुछ तंत्र परम्पराओं में कार्तवीर्य की पूजा दक्षिणाम्नाय और कुछ में पश्चिमाम्नाय के अन्तर्गत मानी गयी है और शायद इस प्रणाली का सम्बन्ध त्रिपुरा या श्रीविद्या उपासना पद्धति के अन्तर्गत था। वैसे भी सहस्रनाम में कार्तवीर्य के दो विशेषणों में उसे *श्रीविद्योपासनी* (श्रीविद्या का उपासक) तथा *श्रीविद्योद्यानसारथी* (श्री विद्या के मणिद्वीप स्थित उद्यान का नायक) बताया गया है। उसका एक सहस्रनाम (प्रकरण 5) का वर्णन भगवान आनन्द भैरव के मुख से किया गया है; और आनन्द भैरव स्वयं भी श्री विद्या सम्प्रदाय का प्रमुख देवता है। वैसे तंत्र की भाषा में सहस्रनाम में उसका एक महत्त्वपूर्ण पर्याय 'कुरुकुल्वाकुलग्राही' भी है, जिससे ऐसा लगता है कार्तवीर्योपासना अवस्था पर ताराकुल की साधना से भी जुड़ी हुई है। कुरुकुल्वा मूलतः बौद्धों (वज्रयान) की देवी है, जो तारा से सम्वद्ध है; बाद में ब्राह्मण तंत्राचार में उसे मान्यता देकर ताराकुल की नित्याओं में स्थान दिया गया।

सूर्य से कार्तवीर्य की कई बार तुलना की गयी है; कभी उसे सूर्यमण्डलमध्यस्थ (सूर्यविम्ब में स्थित), तो

कभी उदीयमान सूर्य की प्रभा से युक्त कहा गया है। कार्तवीर्य के सहस्रकर, सूर्य की अनन्त रश्मियों के समकक्ष माने गये हैं; अतः उसका तादात्म्य सूर्य से स्थापित कर दिया गया है; इसी प्रकार सुदर्शन चक्र को भी मूर्त रूप में अनेक बहुओं से वेशिष्ट माना गया है और इसी भाव को लेकर कार्तवीर्य को सुदर्शनावतार कहा गया है। दक्षिण भारत में रामानुज सम्प्रदाय द्वारा पूजित सुदर्शन चक्र की इसी प्रकार की प्रतिमाएँ मिलती हैं।

कुछ अंशों में कार्तवीर्य की तुलना सूर्यपुत्र रेवन्त से भी की जा सकती है, क्योंकि वह भी अश्वारोह (*घोटकारोहतत्परः*) तथा मृगयाप्रिय है तथा वनैले शूकरों तथा हरिणों का संहार (*शूकरश्रेणिसंहारो हरिणप्राणहारणः*– 83-5 प्रकरण) करता है। प्रतिमाशास्त्र के अनुसार रेवन्त के मध्ययुग की मूर्तियों में उसे हरिण तथा शूकर का शिकार करते हुए एक राजसी अश्वारोही के रूप में फिर दर्शाया गया है।

सहस्रबाहु की (महानता में) तुलना जिन, बृहस्पति तथा बुद्ध से की गयी है; पर साथ ही उसे 'बौद्धशास्त्र विनाशन' भी कहा गया है, जो एक विचित्र स्थिति को दर्शाता है। ऐसे ही एक दूसरे सन्दर्भ में, जहाँ, उसे 'पूर्ण विज्ञानी' तथा 'ब्रह्ममानस' माना गया है, वहीं उसका नाम ब्रह्महा अर्थात् ब्रह्म या ब्राह्मणघाती भी है। उसकी परम्परा का सम्भवतः ग्रामांचलों से कुछ सम्बन्ध रहा होगा, क्योंकि उसके लिए ग्रामी, ग्रामीण आदि विशेषण भी प्रयुक्त हुए हैं। कार्तवीर्य के अनेक नामों में उसे वेदों का ज्ञाता (वेदविद्यापयोनिधिः), संगीत और नृत्य का आचार्य, धर्मशास्त्रज्ञ, तर्कवेत्ता, पुराण इतिहास का विद्वान, मीमांसातत्त्वज्ञ, काव्यकर्त्ता, पाणिनि व्याकरण का पाठक, नट विद्या तथा गारुड़ी विद्या (जादू टोना आदि) का विशारद बताया गया है। स्मरण रहे कि नट एवं गारुड़ी विद्या का मूल जनजातियों में था, सम्भवतः सम्प्रदाय में कलचुरी राजाओं के माध्यम से इन विद्याओं को मान्यता सम्प्रदाय में मिली हो।[4]

कार्तवीर्य की उपासना का प्रधान अंग दीप प्रज्वलन तथा दीपदान है। दीप विभिन्न अर्थो के लिए सोना, चाँदी, ताँबा, कांसा, लोहा अथवा मिट्टी का हो सकता है। उसे उड़द की दाल के चूर्ण अथवा गेहूँ के आटे से भी बनाया जा सकता है। तिल के तेल में सात, पाँच, तीन अथवा एक बत्ती को जलाने का विधान है। साधारण दीप घी का भी हो सकता है। प्रदीपानुष्ठान के लिए विशेष दिन नियत है। इससे भक्त को सभी कुछ उपलब्ध हो सकता है। सम्भवतः दीप जलाने के इस विधान का सम्बन्ध मूलतः दत्तात्रेय द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठान 'भद्रदीप प्रतिष्ठा' की प्राचीन परम्परा से था।

शायद कार्तवीर्य के दैवी स्वरूप की अवधारणा उसकी ज्योति रूप में की गयी थी। किसी देवता के ज्योति-परक स्वरूप की मूल कल्पना वैदिक साहित्य में वर्णित स्कम्भ की अवधारणा में है; इसलिए शिवलिंग का मूलस्वरूप भी ज्योतिकूट के रूप में माना गया है। अमरावती शिल्प में बुद्ध के अमूर्त रूप को अग्निस्तम्भ के रूप में दिखलाया गया है। एक सहस्रनाम में कार्तवीर्य के मानवेतर स्वरूप को 'ब्रह्मज्योति' का नाम दिया है। पूरी पंक्ति इस प्रकार है : *ब्रह्मज्योतिब्रह्मद्योतिः सर्वज्योतिजगन्मयः* (95. अध्याय 95)। उसका एक विशेषण 'दीपप्रिय' भी हैं। श्रीविद्या सम्प्रदाय परम्परा में आज भी कुछ अनुष्ठानों में यंत्र पर रखे दीप पर भगवती का आवाहन किया जाता है।

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपने विकसित रूप कार्तवीर्य की

उपासन में तंत्रों के अंतर्गत यंत्र, मंत्र, पूजा, स्तुतियों के प्रयोग की परम्परा चल चुकी थी। विशेष अवसरों पर मनोरथ पूर्ति हेतु दीपानुष्ठान किया जाता था। अर्चक या साधक के लिए लाल वस्त्र पहन कर पश्चिम की ओर मुख कर लाल पुष्पों से पूजा का विधान किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कार्तवीर्य के दैवी स्वरूप की अव्यक्त से व्यक्त होने की प्रक्रिया में (यंत्र में चिह्नित) बिन्दु की विकसित अवस्था में उसे ज्योति रूप में कल्पित किया गया। वृत्त से लगे अष्टदल उसकी आठशक्तियों के परिचायक मालूम होते हैं। ये आठ शक्तियाँ हैं : सितप्रभा, क्षेमंकरी, वश्यंकरी, श्रीकर, यशस्वकरी, आयुकरी, पुष्पकरी एवं विद्याकरी। भूपूर उसका दुर्ग (नगर) अथवा दैवी माहिष्मती की कल्पना का द्योतक है।

कार्तवीर्य के पन्थ में काम्य कर्मो की सफलता के लिए यज्ञों का विधान मान्य है। अन्य तांत्रिक कर्मो में भी ऐसी परम्परा है।

सिद्धान्त पक्ष

उपलब्ध (प्रकाशित) ग्रन्थों से सम्प्रदाय के सिद्धान्त की स्पष्ट रूपरेखा नहीं मिलती है, पर बिखरे सन्दर्भो से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि तांत्रिक शाक्त सम्प्रदायों की तरह कार्तवीर्य के अनुयायियों के लिए भोग एवं मोक्ष दोनों ही प्रस्तावित हैं। उनके लिए काम्य उद्देश्यों की उपलब्धि, यथा; भयनिवारण, शत्रुओं पर विजय, नष्ट धन की प्राप्ति, राजा का अनुग्रह, रोगमुक्ति के साथ गुरु सानिध्य में यत्न करने पर मोक्ष की प्राप्ति भी सम्भव है। इसीलिए कार्तवीर्य का एक नाम मोक्षद भी है। ग्रन्थों के अध्ययन से यह भी परिलक्षित होता है कि इसमें भक्ति, योग, जप, मंत्रशक्ति की प्राप्ति, यज्ञ की परम्परा, तप, दान, ब्राह्मण भोजन आदि का विधान मान्य है। कार्तवीर्य को, जैसे हम ऊपर लिख चुके हैं, भक्तों के लिए करुणामय बताया गया है।

पशुपाश विमुक्तात्मा पशुपाश विमोचनः (65. प्रकरण 5)—इस पर्याय के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाशुपत शैवों के मूल सिद्धान्त पशु, पति तथा पाश पर कार्तवीर्य के अनुयायी भी विश्वास करते थे। देवता (कार्तवीर्य) पशु (साधारण अदीक्षित मानव) को दीक्षा (ज्ञान) देकर पाश विमुक्त (जीवन्मुक्त) कर देता था। शैव से इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सम्बन्धों की पुष्टि कार्तवीर्य का विशेषण 'शृंगीवादन नन्दनः' से भी होती है, क्योंकि मध्ययुग के नाथपंथी शैव साधुओं में शृंग या सिंगी साथ में रखने और बजाने की परम्परा थी। शायद इसे भी कार्तवीर्य सम्प्रदाय ने अपनाया होगा।

सम्प्रदाय का काल तथा वर्तमान स्थिति

सम्प्रदाय की उत्पत्ति, जैसा कि हम लिख चुके हैं, कलचुरी राजाओं के अंतर्गत मध्य युग में हुई थी, पर ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी तक इसका पूर्ण विकास हो चुका था। इसका संकेत श्रीराग के संदर्भ में है। एक सहस्रनाम (प्रकरण 5) में कार्तवीर्य का एक विशेषण है; 'श्रीरागो रागरागज्ञो', और श्रीराग (जिसे परवर्ती संगीत साहित्य में शिव के सद्योजात नामक मुख से संजात माना है) का महत्त्वपूर्ण संदर्भ भारतीय संगीत की प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. प्रेमलता शर्मा के अनुसार पहली बार ग्यारहवीं शती ई. में सोमेश्वर के ***मानसोल्लास*** में मिलता है।[5] ***संगीतरत्नाकर*** में शार्ङ्गदेव ने कुछ विस्तार से चर्चा की है। शार्ङ्गदेव का समय बारहवीं शती ई.

में है। अतः श्रीराग का प्रचलन भी ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शती से पूर्व होने की अधिक सम्भावना नहीं लगती, इसलिए कम-से-कम इस सहस्रनाम (जिसका वाचक देवता आनन्द भैरव माना गया है) का समय बारहवीं शती के सन्निकट माना जा सकता है। कार्तवीर्य सम्प्रदाय के साहित्य में नर्मदा तथा गोदावरी नदियों का विशेष महत्त्व बताया गया है। क्या हम इससे यह अनुमान लगा सकते हैं कि सम्प्रदाय अपने विकसित रूप में पहले इसी क्षेत्र में फैला? किन्तु यह अनुमान सन्देहास्पद हो सकता है।

यह बताना नितान्त कठिन है कि वर्तमान समय में कार्तवीर्य सहस्रबाहु के इस सम्प्रदाय का अस्तित्व है भी या नहीं। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में पंडित तंत्राचार्यो विशेषकर मणिद्वीपवासी पूज्य आचार्य अमृतवाग्वव जी तथा महात्मा विद्यारण्य (स्वामी मूर्खानन्द) और अन्य पंडितों से जिज्ञासा करने पर ज्ञात हुआ कि इस सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रकट रूप से अपने पूर्ण रूप में नहीं मिलता है। गुरु के आदेशानुसार कुछ श्रीविद्योपासनी यदाकदा कार्तवीर्य से जुड़े अनुष्ठान कर लेते हैं। मराठी में *भारतीय संस्कृति कोश* के विद्वान प्रणेता पंडित महादेव शास्त्री जोशी का यह कथन है कि नष्ट या चोरी की गयी वस्तु को पुनः प्राप्त करने के लिए महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में कार्तवीर्य का मंत्र पाटी में लिखकर जल या अन्यत्र स्थापित करने की परम्परा है और यह प्रचलित विश्वास है कि ऐसा करने पर खोयी हुई वस्तु मिल जाती है। तंत्र विशारदों का यह भी मत है कि कार्तवीर्य के सम्प्रदाय का मोक्षपक्ष अब विस्मृत-सा हो गया है और काम्य कर्मो की प्राप्ति के लिए गुप्त रूप से आज सभी कार्तवीर्य के अनुष्ठान अथवा पुरश्चरण किए जाते हैं।

सम्भवतः मध्यकाल में भी इस सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व राजाओं, पथिकों और व्यापारियों को मार्ग में डाकू, चोर, अग्निभय, जलभय, राजभय, युद्धभय, हिंस्रक पशुओं से सुरक्षित रहने के लिए किये गये अनुष्ठानों, मंत्रोच्चारणों के कारण था। क्योंकि सहस्रनाम का एक विशेषण 'वैश्यप' अर्थात् वैश्यों का रक्षक भी है। यह आवश्यक है कि इस सम्प्रदाय के ऐतिहासिक रूप को विस्तार में जानने के लिए विषय से जुड़ी पुरानी पाण्डुलिपियों की खोज की जाये तथा मालवा, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र के उत्तरी भागों में लुप्त होती हुई लोक संस्कृति का अनुशीलन किया जाये। सम्भव है इससे इस सम्प्रदाय के विस्मृत पक्षों पर शायद प्रकाश पड़ जाये।

संदर्भ ग्रन्थ तथा टिप्पणी

1. सुखदेव चतुर्वेदी (सम्पादक एव अनुवादक), मन्त्रमहोदधि, वाराणसी, 1981
2. मुरलीधर झा (सम्पादक), पुरश्चर्यार्णव (पुनर्मुद्रित) चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1985
3. हरिकृष्ण (सम्पादक), कार्तवीर्योपासनाध्यायः, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, शक 1829 (सन् 1907)
4. वासुदेव विष्णु मिराशी, कलचुरी नरेश और उनका काल, भोपाल संवत् 2022
5. श्रीराग सम्बन्धी ऐतिहासिक सदर्भ देने के लिए मैं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की अवकाश प्राप्त प्रोफ़ेसर डॉ. प्रेमलता शर्मा जी का आभारी हूँ। उनके अनुसार सोमेश्वर कृत *मानसोल्लास* मे श्रीराग को उपयोगी (अर्थात देशी) रागों मे प्रथम माना गया है। *मानसोल्लास*, डॉ शर्मा की राय में *संगीत रत्नाकर* से एक शती पूर्व का ग्रन्थ है। शाङ्गदेव ने भी सामभ्नर

को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों मे गिना है। श्रीराग की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है .

षड्जाशन्याससयुक्तः सम्पूर्णः सप्तमि स्वरै.।

आन्दोलितस्तु स्वस्थाने प्रविष्ट ऋषभान्वितः।।

अवरोहेऽपिगान्धारः क्वापि क्वापि प्रयुज्यते।

गान्धार दुर्बलश्चाय श्री राग परिकीर्तितः।।

डॉ. प्रेमलता ने शृगी नामक वाद्य के विषय मे हमे यह बताया कि इसका निर्माण सगीतरत्नाकरानुसार भैस की सींग स किया जाता था। इसके आकार का साम्य धतूरे के फूल समान बताया गया है। इसके बनाने पर इससे विविध प्रकार की ध्वनियॉ निकल सकती थी। हमारा अनुमान है कि वाद्य का मूल शायद वन्य जातियो मे रहा होगा और कालान्तर में इसका प्रचार शैव साधुओं और जनसाधारण मे भी हुआ।

बौद्ध परार्थ चिन्ता

करुणेश शुक्ल

शील या सदाचार समस्त मानव व्यवहार का मूल है। इसकी रक्षा के बिना हमारा जीवन व्यर्थ, नीरस और निष्प्रयोजन है। समस्त भारतीय परम्परा, सांस्कृतिक निधिरूप सुरक्षित शास्त्र तथा विधाएँ शीलमूलक आचार की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। *मनुसंहिता* में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि श्रुति और स्मृति द्वारा कथित आचार ही परम धर्म है।[1] दशविध आधार ही धर्म-लक्षण है।[2] व्यक्ति को दूसरों के साथ अपने प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए।[3] इसीलिए वैदिक धर्म को आचार प्रधान और संस्कार-मूलक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

श्रमण परम्परा में भी आचार को प्रधान बताया गया और समाधि तथा प्रज्ञा के आधार के रूप में शील की प्रतिष्ठा की गयी। शील को मनुष्य की प्रधान सम्पत्ति, उसका अलंकार और प्रधान अनुरूपक तथा गन्ध के रूप में कल्पित किया गया।[4] यह भी प्रतिपादित किया गया कि शील गन्ध से सुवासित पुद्‌गल संघ या समुदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आर्य अष्टांगिक मार्ग में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प और सम्यक् आजीव वस्तुतः शील की शोधनमूलकता को ही द्योतित करते हैं।

कर्म या शील की विशुद्धि समस्त आचार के मौलिक, शोधित, संस्कृत (संस्कारयुक्त) स्वरूप को प्रस्तुत करती है।[5] संकल्पमूलक काम यदि दुःशीलता को जन्म देता है तो सम्यक् संकल्प और सम्यक् आजीव सम्यक् दृष्टि से संयुक्त होकर रागादि के प्रहाण पूर्ण का मिथ्या दृष्टि संवलित काम , मिथ्या, व्यापाद प्रभृति तथा मिथ्या आजीव के निराश को सम्यक् रूप से कल्पित करते हैं। चित्त की शुद्धि निर्वाण का मुख्य सोपान है। इसी प्रकार शील की विशुद्धि चित्तशुद्धि की भी पूर्वभूमि है। दुःशील, पापसमाधार भिक्षु की कल्याण-कामना करते हुए उसके शील की विशुद्धि और दुःख का निवारण कल्याणमित्र का परम धर्म है। सन्मित्र, जिसे बौद्ध परम्परा कल्याणमित्र का अभिधान देती है, पापकर्मा, दुःशील मानव को सत्कर्म निरत रहने और शील के शोधन का मार्ग प्रदर्शित करता है, जिससे उसके विविध क्लेश क्षयावस्था को प्राप्त होते हैं और वह सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन से तत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।[6] भगवान् बुद्ध ने समस्त मानव-जाति के कल्याण हेतु जिस दुःख विमुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया था, सदाचार और सदाशयता के उस मार्ग पर चलते हुए मानव अपनी विमुक्ति के लिए यत्नशील होता है। किन्तु मनुष्य स्वयं अपने लिए, अपने क्लेशों की विमुक्ति के लिए, यत्नशील हो, तब भी वह उसका स्वार्थनिष्ठ आदर्श मानवता के उच्च आदर्श से अवर कोटि का ही माना जाता है। इसलिए योगशास्त्र में[7] और श्रमण चिन्तन की बौद्ध परम्परा में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से

चित्प्रसादनपूर्वक आत्म-शुद्धि के अनन्तर स्वक्लेशनिवृत्ति होने के बाद, अन्य दुखी प्राणियों के क्लेश की विमुक्ति के लिए बोधिसत्व के उच्च आदर्शों की परिकामना की गयी।[8] चित्त में जो विद्यमान मल है, उनका क्षय और पुनः अनागत अध्वा में मलों या क्लेशों का सम्भव या उत्पाद न होने के ज्ञान को बोधि कहा गया है—*क्षयानुत्पादयोर्ज्ञानं मलानां बोधि रुच्चयते;*[9] किन्तु यदि मनुष्य स्वयं अपने दुःख से विमोक्ष प्राप्त कर ले, तब भी वह दूसरे प्राणियों को दुःख से यदि नहीं छुड़ाता तो उसका जीवन व्यर्थ है। शन्तिदेव कहते हैं :

यदा मम परेषां च भयं दुखं न प्रियम।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतर्म।।[10]

इसीलिए वे यह भी कहते हैं कि दुःख का अन्त और सुखान्त प्राप्त करने की इच्छा से श्रद्धा के मूल को ढूँढकर बोधि में दृढ़ भाव से बुद्धि स्थिर करनी चाहिए :

दुःखान्तं कर्तुकामेन सुखान्तं गन्तुमिच्छतां।
श्रद्धामूलं दृढीकृत्य बौधौ काय मतिर्दृढा।।[11]

इसके लिए आचार्य शन्तिदेवपाद ने जिन्हें सिद्धपरम्परा में मूतुकपा के नाम से जाना जाता है, बोधिसत्वसंवर के साधन के रूप में चर्या के निम्नलिखित अंगों का उपन्यास किया है :

1. आत्मभाव की रक्षा यानी दुःशीलता का परित्याग।
2. भोगरक्षा अर्थात वितृष्णभाव से भोगों की रक्षा करना।
3. फलों की तृष्णा न रखते हुए पुण्यों की रक्षा करना।
4. आत्मभाव-शुद्धि अर्थात् पापरूपी कोशों का शोधन करना।
5. भोगशुद्धि अर्थात् जीविका के समीचीन साधनों की शुद्धि।
6. शून्यता दृष्टि तथा करुणा चित्त से लोकहितार्थ कार्य करना और एतद्द्वारा पुण्यशुद्धि करना।
7. बल और अनालस्य की वृद्धि से आत्मभाव की वृद्धि करना, जिससे दूसरों को देने के लिए अपने पास अधिकाधिक सम्बल रहे।
8. शून्यता-दृष्टि और करुणाचित्त द्वारा दान से भोगवृद्धि करना।
9. करुणाभाव द्वारा आरम्भ से ही दृढ़संकल्प और दृढ़चित्त से करुणाभाव को आगे कर पुण्यवृद्धि करना।

इसके लिए वंदना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना ओर अध्येषणारूप मद्रचर्याविधि का अभ्यास और श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा बलों के अभ्यासपूर्वक मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार ब्रह्मविहारों तथा बुद्ध, धर्म, संघ, त्याग, शील और देव—इन छह अनुस्मृतियों की भावना करते हुए, बोधिसत्व को निरामिष धर्मदान और बोधिचित्त के उत्पाद द्वारा पुण्यवृद्धि करनी चाहिए। चार सम्यक् प्रहाणों द्वारा अप्रमाद, स्मृति, सम्प्रजन्य तथा गम्भीर चिन्तनपूर्वक चर्या से मनुष्य को सिद्धि की प्राप्ति होती है।[12]

बोधिसत्व की चर्या महाकरुणा के सिद्धान्त से ओतप्रोत है। बोधिसत्व सभी सत्वों की अनुकम्पा से प्राणिमात्र की दुःख-विमुक्ति के लिए यत्नशील होते हैं और तब तक विश्रान्त नहीं होते, जब तक अन्य प्राणी दुःख-विमुक्त

होकर निर्वाणभूमि में प्रवेश नहीं कर लेते। मनुष्य होना ही दुर्लभ हैं, बुद्धों का उत्पाद भी दुर्लभ है, अविकार इन्द्रियों का योग दुर्लभ है। बुद्ध के धर्म का श्रवण भी दुर्लभ है, तत्पुरुष के प्रति अवधान भी दुर्लभ है। बुद्ध के अंत तक और मनुष्य लोक में कल्याणमित्र तथा भूतनय को अनुशासनों के साथ-साथ सम्यक् जीवित भी दुर्लभ है।[13] दुर्लभों की इस परम्परा में मिथ्यादृष्टि के विघात के साथ बोधि में दृढ़निश्चय कर सभी सत्वों की अनुकम्पा को ध्यान में रखते हुए सभी दुखों के उपशम के लिए चित्त का उत्पाद भी अत्यंत दुर्लभ है :

मनुष्यं दुर्लभं लोके बुद्धोत्पादोऽति दुर्लभः ।
ततोऽपि श्रद्धा प्रव्रज्या प्रतिपत्तिः सुदुर्लभा ।।
बोधो चित्तं दृढ़ सर्वसत्तवानामनुकम्पया ।
सर्वदुःखप्रशान्त्यर्थं दुर्लभानां परम्परा ।।[14]

आचार्य शन्तिदेव इसी दृष्टि को केन्द्रस्थ कर यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करते हैं कि पुरुषार्थ की साधनभूत यह दुर्लभ आठ अक्षरों से विमुक्त परम्परा मानव देह के रूप में हमें मिली है। यदि इसका भी समुचित उपयोग और हितसाधन नहीं किया गया, तो लोक-कल्याण को गति कहाँ से प्राप्त हो सकेगी।[15] इसलिए जब शुभ दुर्लभ हो और अशुभ तथा आय सबल हों, तो अशुभ को जीतने में क्षम्य बोधिचित्त ही हमारा कल्याण कर सकता है।[16] बोधिचित्त रूपी रथ समस्त दुखों के स्वेद रूप श्रम को दूर करने में समर्थ हैं।[17] इसलिए भव के शताधिक दुःखों से तीर्ण होने, सत्वों के दुःख-जाल को दूर करने और अनवरत सुखों का अनुभव करने के लिए हमें बोधिचित्त को कभी भी छोड़ना नही चाहिए।[18] बोधिचित्त वस्तुतः महाकरुणा से उदय का प्रतीक है। यह वह रसायन है, वह बहुमूल्य रत्न है, जिसे जिनों (बुद्धों) ने परखा है।[19] यह वह वृक्ष है, जो हमेशा हरा-भरा बना रहता है और सदा फल देता रहता है। उस बोधिचित्त का सहारा मूढ़ प्राणी क्यों नहीं लेते, जिसका सहारा लेकर अत्यंत दारुण पाप करके भी मनुष्य क्षण भर में उसे पार कर जाता है। यह बोधिचित्त महापातकों से त्राण दिलाता है।

चिन्तामणि के समान यह बोधिचित्त मानव का कल्याण-सम्पादन करने वाला है। बोधिप्रस्थान चित्त और बोधिप्रणिधिचित्त के भेद से यह दो प्रकार का होता है।[20] बोधिप्राणिधिचित्त वस्तुतः बोधिचित्त का पूर्वरूप है, जिसमें बोधिसत्व यह प्रार्थना करता है कि समस्त जगत् के परित्राण के लिए मैं बुद्ध होऊँ। साधक के व्रत ग्रहण कर मार्ग में अग्रसर होने और जगत्हित के शुभ-कार्य में व्यापृत होने पर बोधिप्रस्थान चित्त का उदय होता है।[21] बोधिचित्त के उत्पाद, प्रणिधान और व्याकरण के अनन्तर बोधिसत्व चर्या का प्रारम्भ होता है, जिसमें सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों की चर्या, अभिज्ञा, पारमिता और सत्व परिपाक की चर्या का स्थान मुख्य है। यह चर्या बोधिसत्वों की दशभूमियों की चर्या का पूर्वरूप है।

आत्मभाव की रक्षा और परार्थ उसे समर्पित कर देने की शुभ भावना समस्त की आचारवाद मूल में निहित है, *धर्मसंगीतिसूत्र* में इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर कहा गया है कि जो सत्वों की रक्षा करता है, वह वस्तुतः शील की रक्षा करता है–*यःसत्वान् रक्षति स रक्षनीतिः*[22] और अहंभाव या आत्मदृष्टि का विनिवर्तन इस परार्थ-चिन्ता को विशेष बल प्रदान करता है।[23] समस्त दुःख का मूल अहंकार, आत्मदृष्टि या सत्कायदृष्टि है,

जिसके विनिवर्तन से ही दुःखों की निवृत्ति सम्भव हैं।[24] इसलिए आर्यदेव कहते हैं कि नैरात्म्य अद्वितीय, शिवद्वार, कुदृष्टियों के लिए भय उत्पन्न करने वाला तथा सभी बुद्धों का विषय है :

अद्वितीयं शिवदारं कुदृष्टीनां भयंकरम्।
विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते।।[25]

नागार्जुन ने आत्मा और आत्मीय के विप्रयोग को ही तत्त्व का लक्षण स्वीकार किया है[26] और यह प्रतिपादित किया है कि समस्त स्कन्ध अहकार प्रसूत हैं और अहंकार भी तत्त्वत· अनृत हैं। जिसका बीज ही अनृत है, उसका प्ररोह भला सत्य कैसे हो सकता है। अतएव असत्य (अनृत) स्कन्धों को जान लेने से अहंकार का प्रहाण हो जाता है और अहंकार के प्रहाण से पुनः स्कन्धों का प्रादुर्भाव नहीं होता।[27]

अतएव अहंकार को समेटकर, यदि धर्मपूर्वक आचरण किया जाये तो राजकर्म भी समुचित रूप से चलता है। यंदि नीति ,अधर्म से युक्त है, तो वह वास्तविक प्रजारंजन नहीं कर सकती। अतएव राजकर्म में भी धर्म का पूर्ण समावेश होना चाहिए। यदि ऐसा हो तो वर्तमान पतनोन्मुख सामाजिक चरित्र की रक्षा सम्भव है। यदि अहं का प्रकर्ष हुआ तो यह चरित्र दूषित हो जायेगा। इसलिए यह कहा गया है कि यदि धर्म की रक्षा करनी है तो अहंकार का शासन करना होगा।[28] यदि राजनीति धर्मपराङ्मुख है तो नैतिकता का ह्रास दृढ़ होगा। शील का परिग्रह करने पर ही लोक-कल्याण सम्भव है। यह शीलपरिग्रह अहंकार-निवृत्ति से सम्भव है और अहंकार निवृत्ति से ही महात्मदृष्टि का उदय होता है,[29] जिसमें सभी तत्त्वों के प्रति करुणा और सद्भाव की भावना निहित है।

सन्दर्भ :

1. आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
   —मनुस्मृति
2. धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्।।
3. आत्मानः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
4. द्रष्टव्यः श्रावकभूमि, सं. डा. करुणेश शुक्ल, पटना, 1973, पृ. 52-57
5. तु. कायकर्मा वाक्कर्म मनस्कर्म च राहुल।
   अभिक्षणं प्रत्यवेक्षस्व स्मरन बुद्धानुशासनम्।।
   एतच्छ्रामणकं कर्म अत्र शिक्षत्व राहुल।
   अत्र ते शिक्षमाणस्य श्रेय पवन पापकम्।।
   —पृ. 27।
6. तुलनीय, आर्य क्षितिगर्भसूत्र, शिक्षासमुच्चय। सं. पी.एल. वैद्य, पृ. 41, श्रावकभूमि, पृ. 127-133, बोधितत्त्वभूमि। सं. नलिनाक्ष दत्त, पृ. 163-164, तथा श्रावकभूमि, पृ. 127-28। टिप्पणी।
7. योगसूत्र
   मैत्रीकरुणामुदितौपेक्षाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

8. बोधिते सत्वान् विषमातु दृष्टितो
   न एष मार्गो अमृतस्य प्राप्तये
   कुमार्ग वर्जित्व पथस्थपेति।
   तं कारण वुच्यति बोधिसत्वः।
9. अमितसमयालंकार।
10. शिक्षासमुच्चय, कारिका।
11. वही, कारिका 21।
12. शिक्षा समुच्चय कारिका 1-27। द्रष्टव्य परिशिष्ट।
13. द्रष्टव्य, बोधिचर्यावतार पंजिका, सं. पी.एल. वैद्य, दरभंगा, 1960
    पृ. 5 में उद्धृत गंडव्यूह, पृ. 116।
14. बोधिचर्यावतार पंजिका I, पृ. 4-50 में उद्धृत।
15. बोधिचर्यावतार I, 4-5
    क्षणसम्पदियं सुदुलर्दभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनो।
    यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः।।
    रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे बद्ध विद्युत्क्षणं प्रकाशम्।
    बुद्धानुभावेन तथा कदाचिल्लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात्।।
16. तस्माच्छुमं दुर्बलमेव नित्यं
    बलं तु पापस्य महत् सुघोरम्।
    तज्जीयतेऽन्येन शुभेन केन
    संबोधिचित्तं यदि नाम न स्यात।।

—बोधिचर्यावतार 1, पृ. 6।

17. तुलना कीजिये, वही, 6, पृ. 27-30
    न दुःखी त्यक्तपापत्वात् पंडितत्वान्न दुर्मनाः।
    मिथ्याकल्पनया चित्ते पापात्काये यतो व्यथा।।
    पुण्यने कायः सुखितः पांडित्येन् मनः सु।
    तिष्ठन् परार्थ संसारे कृपालुः केन विद्यते।।
    क्षमयन् सर्वपापानि प्रतीच्छन पुण्यसागरान्।
    बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रगः।।
    एवं सुखात् तुरवं गच्छन् को विषोदेत् सचेतनः।
    बोधिचित्तरथ प्राप्यं सर्वखेदश्रमापहम।।
18. वही, I ड।
    भवदुःखशतानि तर्तुकामैरपि तत्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
    नं विमोच्यं हि सदैव बोधि चित्तम्।।
19. बोधिचर्यावतार 1, 10, 11,
20. बोधिचर्यावतार तथा पंजिका, I 15-16
21. वही।
22. शिक्षासमुच्चय, पृ. 70 में उद्धृत।

23. तु. वही, पृ. 71, समाधिराजसूत्र, 25/14 :

यावन्ति धर्माः कुशलाः प्रकीर्तिताः
शीलं श्रुतं त्यागु तथैव क्षांति।
सक्लेश मूलं हययमप्रमादौ
निधानलम्भः सुगतेन देशितः।।

द्रष्टव्य, शिक्षासमुच्चय, पृ. 191 :

सदा प्रमादो ह्यमृतस्य मूलं
तत्वार्थ युक्तस्य बोधित्तिम्।
यधोनिशश्चैव विवेकचित्त-
मपनिग्रहः सर्वसुखस्य मूलम्।।

तथा :

परात्मसमताभ्यासद्बोधिचित्तं दृढीभवेत्।
आपेक्षिक परात्मत्वं पारावारं यथा मृथा।।
तत्कूलं न स्वतः पारं किमापेक्ष्या त्वपारता।
आत्मत्वं न स्वतः सिद्धं किमपेक्ष्य परोऽमवेत्।।
तद् दुःखेन न मे बाधेत्यतो यदि न रक्षति।
नानाभिकाय दुखात्ते बाधा तत्केन रक्षति।। पृ. 191।

24. आत्मतृष्णा च सर्वेषां दुःखानां मूलमुत्तमम्।
तस्मिन्नहस्मि तामेव तत्वेभ्यः सवार्थमुत्सृजन्।।
तदग्रदूती ज्ञातेच्छा जेतव्या सर्वयत्नत.
आत्मतत्वस्मृतिं कृत्वा प्रतीत्योत्पादचिन्तया।।

शिक्षासमुच्चय, पृ. 193, तुलनीय,
मध्यमकावतार, 6-120

खत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान्
क्लेशांश्च द्रोषांश्चं धिया विपश्चिम्।
आत्मानमस्या विषयं च बुद्धवा।
योगी करोत्यात्मनिषेधमेव।।

—प्रसन्नपदा 18/1 में उद्धृत।

तु. दुःखहेतुरंकार आज्ञत्ममोहात्तु वर्धते।
वसुपधकृत त्रिशिंका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि।

25 चतुश्शतकः।

26. आज्ञत्मात्मीययोर्विक्योगस्तत्वस्य लक्षणम्।

अकुतोमंया, 18/1।

27. नागार्जुनकृत रत्नावली, I, 27-35।

अहंकारप्रसूतेयं ममकारोपसंहिता।
प्रजाप्रजाहितैकान्तवादिनामिहितोखिला।।
अस्त्यहं मम चास्तीति मिथ्येतत् परमार्थिकी।
यथाभूतपरिज्ञानान्न भवत्युभयं यतः।।

अहंकारोद्भवाः स्कन्धा स्तोऽहंकारोनृतोर्थतः ।
बीजं यस्यानृतं तस्य प्ररोहः सत्यतः कुतः ।।
स्कन्धानसत्यान् दृष्ट्वैमहंकारः प्रहीयते ।
अहंकार प्रहाणाच्य न पुनः स्कन्धसंभवः ।।
न च कश्चित् स तत्वेन स्वमुख प्रतिबिम्बवत् ।।
यथादर्शमुदादाय स्वमुखप्रतिबिम्बकम् ।
दृश्यते नाम तच्चैवं न किंचिदपि तत्वतः ।।
अहंकारस्तथा स्कन्धानुपादायोपक लभ्यते ।
न च कश्चिन् स तत्वेन स्वमुख प्रतिबिम्बवत् ।।
यथादर्शमनादाय स्वमुखप्रतिबिम्बकम्
न दृश्यते तथा स्कन्धाननादायाहमित्यपि ।।
एवं विधार्थश्रवणादयंसुर प्राप्तवान्
आर्यानन्दः स्वयं चैव भिक्षुम्ययोऽमोक्षणमुक्तवान् ।
स्कन्धग्राहो यावदस्ति तावदेवाहमित्यपि ।
अहकारे रतिः पुनः कर्म जन्म ततः पुनः ।।

28. वही, 2/25, 30-37 ।

तस्माद् यावदविज्ञातोधर्मोऽहंकार शासनः ।
दानशीलक्षमाधर्मे तावदादरवान् भव ।।
परातिसन्धानपरा कष्टा दुर्गतिपद्धतिः ।
अनर्थविद्या दुष्प्रज्ञैरथविद्या कथं कृताः ।।
परातिसिंधान परोनीतिमान्कथभर्थतः ।
येन जन्म सहस्राणि बहून्यात्मेव ऊचयते ।।
रिपोरप्रियमन्विच्छन् दोषांस्त्यक्त्वा गुणान श्रय ।
स्वहितायाप्तिरेवं तु रिपो श्चाप्यप्रियं भवेत् ।।
दानेन प्रियवद्येन हितेनैकार्थचर्यया ।
एभिराचर लोकस्य धर्मस्यैव च संग्रहम् ।।
विश्वासं जनयत्येकं सत्यं संज्ञा यथादृढम् ।
तथैवाभूतमप्येषामविश्वासकरं परम् ।।
नाक्सिंवादवत्सत्यं तत्त्वे उद्गतभर्थतः ।
परैकान्तहितं सत्यमहित्वान्मृषेतरत् ।।

29. तु महायानसूत्रालंकार –

शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान्मार्गलाभतः
बुद्धाः शुद्धात्मलाभित्वाद् गता आत्ममहात्मताम् ।।

शन्तिदेवविरचितः शिक्षासमुच्चयः ।

शिक्षासमुच्चयः कारिका

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम् ।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम् ।। 1 ।।

दुःखान्तं कर्तुकामेन सुखान्तं गन्तुमिच्छता ।
श्रद्धामूलं दृढीकृत्य बोधौ कार्या मतिदृंढा ।। 2 ।।
(शिक्षादरोः) महायानाद्बोधितत्वस्य संवर : ।
मर्मस्थानान्यतो विद्याद्येनानापत्तिको भवेत्।। 3 ।।
आत्मभावस्य मीगनां त्र्यध्ववृत्तेः शुभस्य च ।
उत्सर्ग : सर्वसचेभ्यस्तद्रक्षा शुद्धिवर्धनम्।। 4 ।।
परिभोगाय .सत्वानामात्मभावादि दीयते ।
अरक्षिते कुतो भोगः किं दत्तं य न्न भुज्यते ।।5 ।।
तस्मात्तत्वोपभोगार्थमात्ममावादि पालयेत् ।
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणां च सदेक्षणात् ।।6 ।।
तत्रात्ममावे का रक्षा यदनर्थविवर्जनम् ।
केनैतल्लभ्यते सर्वं निष्फलस्पन्दवर्जनात् ।। 7 ।।
एतत्सिध्येत्तदा स्मृत्या स्मृतिस्तीव्रादराद् भवेत्' ।
आदरः शममाहात्म्यं ज्ञात्वातापेन जायते ।। 8 ।।
समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन्मुनि : ।
शमाच्च न चलेच्चितं बाहाचेष्टानिवर्तनात् ।। 9 ।।
सर्वत्राचफलो मन्दगतिस्निग्धामिमाषणात्।
आवर्जयेज्जनं भव्यमादेयश्चापि जायते।। 10 ।।
अनादेयं तु तं लोकः परिभूय जिनांकुरम।
मस्मच्छन्नो यथा वह्निः पच्यते नरकादिषु।। 11 ।।
रत्नमेघे जिनेनसेक्तस्तेन संक्षेपसंवरः।
येनाप्रसादः सत्वानां वृदयत्नेन विवर्जयेत् ।। 12 ।।
एषा ग्क्षात्मभावस्य भेषज्यवसनादिभिः।
आत्मतृष्णोपभोगात्तु क्लिष्टापत्तिः प्रजायते ।।13 ।।
सुकृतारश्मिणा भाव्यं मात्रज्ञेन च सर्वतः।
इति शिक्षापदादस्य भोगरक्षा न दुष्करा।। 14 ।।

वैदिक ज्ञान की धारा

विद्यानिवास मिश्र

सर्वमयता, बीज वृक्ष, देश, लौक, और काल तथा स्वतंत्रता, उनकी अभिव्यक्ति वाक् से होती है, वाणी से होती है। वाणी के कई स्तर हैं, व्यक्त, व्यक्त-अव्यक्त (मध्यम), अव्यक्त तथा व्यक्त-अव्यक्त से परे। इनके नाम हैं वैखरी (शाब्दिक अर्थ विशेष रूप से स्पष्ट, श्रव्य) मध्यमा, पश्यन्ती और परा। वैखरी उच्चारित शब्दों का ऐसा संगुम्फन है, जिससे मानव लोग परस्पर संवाद स्थापित करते हैं। यही मानवी भाषा है, जो लोगों को जोड़ने का काम करती है। ऋग्वेद के बृहस्पति सूक्त में कहा गया है कि:

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो धीरा
मनसा ऋषयां वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।

जैसे चलनी से सत्तू छान-छान कर उसका महीन हिस्सा अलग कर लिया जाता है, उनकी भूसी या मोटा हिस्सा छोड़ दिया जाता है, वैसे ही अपने ध्यान से निर्मल मन से सत्य का साक्षात्कार करने वाले तत्त्वचिन्तकों ने वाक् की (परिशुद्ध) रचना की। यही एक दूसरे के सख्य (मैत्री) की पहचान का माध्यम वनी और परिशुद्ध वाणी बोलने वाले में एक-दूसरे की पहचान से आयी शोभा निखरी।

इस वाक् का कुछ और सूक्ष्म स्तर है कण्ठ में बसी कुछ स्फुट, कुछ अस्फुट, कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त, भीतर-ही-भीतर सुनायी पड़ने वाली मध्यमा। इसी मध्यमा से हम सोचते रहते हैं। कोई भी विचार विना भाषा के आकार नहीं पाता। इसी से आज के बहुत से ह्वोर्फ-जैसे विद्वान मानते हैं कि भाषा विचार के पूर्व है। हर संस्कृति की एक भाषा होती है, उसी के साँचे में विचार रूप लेते हैं। विड्गेनस्टाइन-जैसे नये युग के प्रखर विचारक ने कहा भाषा ही हमारे विश्व की सीमा है, भाषा के वाहर कोई विश्व नहीं है। इसी विचार को भर्तृहरि ने दूसरी तरह रखा–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते,

ऐसा कोई प्रत्यय (आइडिया) नहीं है, जो शब्द के अनुगम (वोध) के विना सम्भव होता है। ज्ञानमात्र मानो

किसी किरण की नोक से बिंधकर शब्द से प्रकाशित होता है। ज्ञान निराकार पड़ा रहता है, शब्द की किरण उसे छूती है, उसके भीतर तक, उसकी तह तक चली जाती है, तभी वह ज्ञान दूसरे तक पहुँच पाता है, वह भासित होता है, वह प्रकट होता है। भर्तृहरि का इस कारिका का गहरा अभिप्राय यह है कि सृष्टि का विचार भी जब कभी आया होगा, उस समय कोई ध्वनि हुई होगी, कोई प्रकाश हुआ होगा; वह कैसी ध्वनि थी, वह कैसा प्रकाश था, यह परिभाषित न भी हो, पर सृष्टि अपने आप में दूसरे के साथ जुड़ने, दूसरे के साथ मिलकर काम करने दूसरे के लिए आकुल होने की प्रक्रिया है। उसी सृष्टि की तरह प्रत्येक सम्प्रेषण अपने आप में अपर्याप्त या अयथेष्ट होने का अनुभव है। इस अनुभव के साथ ही वह पर्याप्त होने के लिए प्रबल इच्छा है, वही काम है, जो अभी नहीं है, वह होने की उत्कण्ठा है और वही संवाद है। भर्तृहरि यह स्थापना करना चाहते हैं कि वाक् सृष्टि का पर्याय है। उनके पास ऋग्वेद के वाक्सूत्र का आधार भी है। वाक्सूत्र वाग्देवता घोषणा करता है:

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।

मैं ही एक दूसरे से पायी जाने वाली शोभा हूँ। मैं समष्टिचेतना का सौन्दर्य हूँ। मैं पृथ्वी के अधिष्ठाताओं वस्तुओं को परस्पर अभिमुख करने वाली शक्ति हूँ। मैं ही अपने अधूरेपन, अपनी अपूर्णता, अपनी अपर्याप्तता की समझ रखने वाले और इसी कारण पूर्णतर होने के लिए अपनी सूक्ष्मतर भावसत्ता से एकाकार होने के लिए यज्ञ करने वाले परस्पर भाव का अनुष्ठान करने वालों की प्रेरक ज्ञानशक्ति हूँ।

अव्यक्त वाक् के भी दो स्तर हैं। एक पश्यन्ती, जो देख रही है, कुछ कर नहीं रही है, जो क्रिया नहीं है, जो इच्छा है, अपने को दूसरे तक पहुँचाने की इच्छा है, अपने को विसर्जित करने की सर्जना की आकांक्षा है। वहाँ शब्द और अर्थ दोनों अलग नहीं, दोनों संस्कार या चित्त की वासना हैं (वासना का अर्थ है, जैसे किसी वस्त्र के बीच केवड़े का फूल बहुत दिनों तक रखा जाये, फिर फूल हटा लिया जाये तो वस्त्र केवड़े से गमकता रहता है, वैसे ही पश्यन्ती भी वासना है, पूर्व भाषिक अनुभवों और भाषा-प्रयोग अनुभवों की छनी हुई स्मृति है)। इस पश्यन्ती के मूल में है शुद्ध चैतन्य, संविद्, अच्छी तरह पूरी तरह जानने वाला, जो जानने की वस्तु अपने भीतर समेटे हुए है; ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान तीनों उसमें समाहित हैं; वह है परा, उसके कारण ही इच्छा होती है, इच्छा के बाद क्रिया होती है। प्रत्येक उच्चारित भाषा के पूर्व प्राणशक्ति का विनियोग है, प्राणों के संचालन के पीछे मन में उगी इच्छा और मन में प्रतिबिम्बित बृद्धि है, बृद्धि के पीछे आत्मा है। आत्मा ही पराशक्ति है। वह प्रकाश का प्रकाश है।

इसी वाक्सूत्र में आगे कहा गया है कि मेरा मूल अस्तित्व अनन्त काल की गहराई में है, "मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे"। ब्राह्मण ग्रन्थों को वाक् आरम्भणीय अहन् (पहला दिन) कहा गया है। वह प्रकाश का पहला विकिरण है, वह नाद का पहला स्फोट है। उसी वाक् का विकसित रूप है आर्य वाक् (ऋषियों की वाणी), जो ध्यानयोग का परिणाम है, तप का फल और अव्यक्त का सामंजस्य है, वहीं समस्त विचारों, प्रत्ययों और ज्ञान-विधियों का स्रोत है; हम उसे वेद कहते हैं। वेद का अर्थ यह सब है—ज्ञान, जाना हुआ, जानने की प्रक्रिया और जानने

का अनुभव। वेद का अर्थ शब्दराशि मात्र नहीं हे, शब्द के द्वारा शब्दातीत अनुभव भी है। वेद का निरन्तर स्वाध्याय, वेद का निरन्तर मनन और वेद का निरन्तर प्रयोग इस परम्परा का स्वभाव है। हमारी परम्परा का दूसरा रूप, जो ऊपर से वेदविरोधी, वेदनिरपेक्ष दिखायी पड़ता है, वास्तव में वह भी वेद की ज्ञानात्मक प्रक्रिया से ही विकसित होता है। इस रूप मे आभ्यन्तर ध्यान और आभ्यन्तर अनुभव का प्रामाण्य बौद्धो को, जैनों को, निर्गुणवादियो को भी मान्य है। भगवान बुद्ध ने कहा—*सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं भासते* (अपने ध्यानयोग से बुद्धवचन को समझने का प्रयत्न करो और उसे अपने परामर्श किये हुए रूप मे स्वीकारो)। जैन वाङ्मय में भी इसिभासित (ऋषि-भाषित) का महत्त्व है; सभी अनुभव यात्राओ के विवरणों का महत्त्व है। निर्गुण सन्तों ने भी पहले के सन्तों की साखियों (साक्ष्य) को महत्त्व दिया है। बौद्ध वाङ्मय में थेरगाथा और थेरगाथा अनुभव के अभिलेख माने जाते हैं—जैन पुराण, जैन चरित, निर्गुण सन्तों को पर्चिय, बाद के सन्तों के संवाद। रामकृष्ण परमहंस देव, श्रमण महर्षि, विशुद्धानन्द, योगी अरविन्द, रामतीर्थ, इसी परम्परा के उदाहरण हैं। इन दो रूपो को एक साथ देखने का प्रयत्न करेगे तो स्पष्ट हो जायेगा कि हमारी परम्परा शब्द का विस्तार और शव्द की गहराई दोनो मे जाती है। वह निरन्तर बाहर से संवाद स्थापित करने के लिए लोकजीवन से जुड़ी हुई सीधी सरल भाषा का व्यवहार भी आवश्यक मानती है और अपने भीतर सच्चाई की खोज जारी रखने के लिए शब्दो का अपकर्षण करते-करते किसी अत्यंत सघन बीजशब्द मे सब अनुभव समाहित कर देती है, उसी को वह नाम कहती है, बीजक्षर कहती है। इस नाम के निरन्तर अभ्यास को श्वासों के नियमन के साथ जोडकर वह वाक् प्राण और मन को एक त्रिपुटी बनाती है। यहाँ सभी एक हो जाते है। जाने हुए शब्द, जाना जाता हुआ अर्थ, जानने के साथ एकाकार अन्तःकरण सब अलग नहीं रह जाते।

हमारे वरेण्य मित्र डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय अपनी परम्परा का वैशिष्ट्य समझते हुए यही कहते है, "भारतीय परम्परा की रुझान मुनष्य के भीतर अपने अतिक्रमण की सम्भावना और इस अतिक्रमण की आवश्यकता जगाने की ओर है। इसी से उसमें प्रकृति या उसकी ऊर्जा के स्रोत का एकान्तिक महत्त्व है, न मानव समाज की समासता का ऐतिहासिक महत्त्व है; पश्चिम मे प्रकृति पर विजय की आकांक्षा भूत की तरह मनुष्य के ऊपर सवार हुई। उसके पीछे प्रकृति को अपने बाहर विशिष्ट स्थान देना ही तो था और उसके बाद अतिरेक की स्थिति मे, मॉग की पराकाष्ठा की स्थिति में पलायन करने की बात भी अमेरिका में इसीलिए दिखायी पड रही है। सामाजिक समरसता और नैतिकता का आग्रह, जो चीनी परम्परा मे रहा है, वह भी मनुष्य के ऊपर अधिक आरोपित रहा है, मनुष्य के हृदय का संवाद उसके साथ नहीं रहा है (द मीनिग एंड प्रॉसेस आफ कल्चर)। भारतीय परम्परा में समर्पण और अतिक्रमण की दुहरी प्रक्रिया बराबर चलती रही है (कभी-कभी खोयी अवश्य रहती है)। पहली प्रक्रिया को हम विधि का पालन, शास्त्रीय व्यवस्था का अनुवर्तन कह सकते हे। अशोक इसी को अपने अभिलेखो में पुराण प्रकृति कहते हैं, साधारण जन परम्परा की रीति कहते है। दूसरी प्रक्रिया आत्ममन्थन के द्वारा इसके अतिक्रमण या दूसरे शब्दों में शास्त्र की नयी विधि के विधान की है। यह प्रक्रिया उन सबके लिए है, जो कठिन मन्थन की राह पर चलने के लिए और सब कुछ छोड़ने को मन से तैयार हों, शास्त्र का अतिक्रमण करने का अधिकार सबको है; पर शर्त यही है कि वह व्यक्ति पहले सब कुछ छोड़ दे, व्यवस्था के सभी लाभ छोड दे, अपने को एकदम अकिंचन बना दे, अनिकेत बना दे, निःस्व बना दे और तब वह अनजाने जगल मे अपने

ही शरीर की श्वास को प्रकाश की लौ बनाकर अपनी राह निकाले। वही अतिक्रमण की विश्वसनीय प्रक्रिया होगी। आनन्द कुमार स्वामी ने ऐसे समाज की विशेषता बतलाते हुए यही बात और सुन्दर ढंग से कही है, "ऐसे समाज का एक मुख्य विभेदक अभिलक्षण है व्यवस्था। पूरे समुदाय-का-समुदाय में समस्त जीवन कुछ पहचाने साँचों में ढलकर चलता है; इन साँचों की प्रामाणिकता के बारे में कोई प्रश्न नहीं करता। व्यक्ति के कुछ विशिष्ट प्रकार्य (फंक्शन) अलग साधे जाते रहें, पर समुदाय के रूप में वह सामुदायिक पद्धति के लिए अर्पित हो। यह मानना कि व्यक्ति को इस दिये हुए साँचे को स्वीकार करने के लिए लाचार किया जाता है, ठीक नहीं है, प्रत्युत मानना यह चाहिए कि व्यक्ति सामाजिक दायित्व से मुक्त हो जाता है, जब वह परम्परागत व्यवस्था को स्वीकार लेता है। ऐसी व्यवस्था के अनुपालन से ही आत्मसाक्षात्कार की ओर व्यक्ति की सीमा के अतिक्रमण की सम्भावनाएँ तीव्रतर होती हैं। कुमार स्वामी की बात कुछ दशक पहले पश्चिम के लोगों की अटपटी और बड़ी असामयिक लगती थी, पर आज पश्चिम का समाज भी यह समझने लगा है कि जो दिया हुआ है, वह पूरी तरह जाना जाता है, तभी नयी सर्जना पूर्णतर होती है। भाषा भी दी हुई होती है और उसकी दी हुई भाषा में से ही उसी के वजन पर नयी भाषा सिरजी जाती है। आज वाक्केन्द्रित परम्परा को समझना सम्भव हो रहा है, क्योंकि युग निषेध का नहीं, स्वीकार का आ रहा है।

हमने विद्यामात्र—संगीत, साहित्य और कला की देवी के रूप में जिस सरस्वती की छवि आँकी, उसमें ऊपर वर्णित सभी तत्त्व आ गये हैं। यह देवी सरस्वती है, नदी है, निरन्तर प्रवाह; प्रवाह दूसरों को तो स्वच्छतर निर्मलतर करता ही है, अपने को भी स्वच्छतर करता रहता है। यह देवी श्वेतपद्मासना है; सात्विक गुण का रंग है श्वेत, कमल है सृष्टि का खुलना, वाग्देवी खुलना मात्र नहीं, वही सत्य का उद्रेक है, वही अव्यक्त रूप में हृदय में नित्य बहने वाली स्पन्दनी धारा है, यही धारा जोड़ती रहती है। व्यक्त रूप में यह हाथ में ली हुई अनेक तारों की बनी वीणा है, यही सभी तारों के अलग-अलग, पर संवादी स्वरों के योग से एक राग-रचना करती है। अव्यक्त रूप में, नाद के रूप में, सभी की जननी है। वह रचनाकार की रचना के क्षण में सहचरी है, पर इसके पूर्व वह रचनाकार का सीस उतरवा लेती है, अभिमान नष्ट कर देती है। उसका वाहन हंस पानी अलग कर देता है, केवल दूध ले लेता है। वही हंस सरस्पती को दूर-दूर ले जाता है, पर वही हंस कमल के लोभ में कभी भी धरती का सम्बल नहीं छोड़ता, वह धरती का दिया हुआ कमलनाल का पाथेय लेकर ही उड़ान भरता है।

इसी प्रकार हम अपनी परम्परा को धरती से जोड़े रहते हैं, उसे कमल की जड़ जल से, जल की अतल गहराई से जोड़े रहते हैं, और साथ ही उसे विवेक के सहारे, आत्ममन्थन के सहारे दूर-दूर से ऊपर से ऊपर ले जाते हैं, प्रकाश के स्रोत की ओर ले जाते हैं। वाक् शब्द मात्र नहीं, सर्जनात्मक अभिव्यक्ति मात्र है वह सर्जना है और सर्जना की सोद्देश्यता भी है, रचना की चरितार्थता भी है। वह ध्वनि है, सुर है, रेखा है, गति है, उड़ान है, वह सृष्टि है, स्थिति है और सबका शुद्ध ज्ञान में संहार (संहार का अर्थ विनाश नहीं, समेटना है) भी है। हम इसीलिए इस परम्परा के अनुवर्तन में हमेशा सत्यपूत वचन, मनःपूत आचरण और तपःपूत ज्ञान का अभ्यास करते हैं। हमारे यहाँ वचन का मोल है, क्योंकि सत्य की प्रतिष्ठा है। हमारे यहाँ प्रिय होने की आकांक्षा है; हमारा प्यार पाना नहीं, दूसरों के लिए सुखप्रद होना है; प्यार की परिभाषा है, दूसरे के सुख से

सुख पाना। उस रूप में वह ऋत् की प्रतिष्ठा है। कभी भी अप्रिय सत्य न बोलें, इस पर बल है; पर असत्य बोल भी दें, कभी तो क्षम्य है, पर ऐसा ही सत्य बोलें, जो ऋत् का विरोधी न हो यही सदा-सदा रहने वाला हमारी परम्परा का स्वभाव है सनातन धर्म है, 'सनन्तनों धम्मो' है।

हमें अपनी परम्परा के सम्पूर्ण रूप का ध्यान सदा-सदा रखना चाहिए, उसमें शास्त्र का सत्य है, लोक का ऋून है, उसमें युग का ध्यान है, युगातीत की चिन्ता है। ऐसी परम्परा खण्डित रूप में समझी नहीं जा सकती, खण्डित चित्र से समझी नहीं जा सकती। यह केवल खिले श्वेत कमल की तरह उज्ज्वल और खुले मन-चित्त से समझी जा सकती है।

कर्म न ज्ञान का विरोधी है और न ही ज्ञान कर्म का। दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। कर्म की शुद्धता के बिना ज्ञान की शुद्धता सुनिश्चित नहीं होती, न ज्ञान की शुद्धता के बिना कर्म की शुद्धता सम्भव होती है। ज्ञान का भारतीय परम्परा में अर्थ जानना मात्र नहीं है, विद् धातु से कई शब्द बनते हैं, वेद (प्रकाशमय ज्ञान की राशि) विद्या, विद्यमान (वर्तमान), वित्त (धन, प्राप्ति)। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान या ज्ञान की प्रक्रिया या शाखा विद्या बहुत व्यापक अर्थ रखते हैं। आचार्य पतंजलि ने विद्या की तब तक उपयोगिता नहीं मानी, जब तक वह चार प्रक्रियाओं से सम्पुष्ट न हुई हो। ये चार प्रक्रियाएँ है—अध्ययन, मनन प्रवचन और प्रयोग। अध्ययन का अर्थ है जिज्ञासु होकर कहीं उचित गुरु के पास जाना, विनयपूर्वक उनसे शिक्षा ग्रहण करना। शिक्षा केवल अक्षर की ही नहीं होती; हर एक कौशल की, हर एक कला की होती है और सिखाने वाले केवल साक्षर व्यक्ति ही नहीं होते, गाड़ी हाँकने वाले रैक्व-जैसे गँवार भी राजा को शिक्षा दे सकते हैं काशी का चाण्डाल भी शंकराचार्य को शिक्षा दे सकता है; सच्चकिरिया (सत्यक्रिया) की प्रक्रिया बुद्धवचन के ही अनुसार उनके अलावा एक वेश्या (उस समय थी) दे सकती थी। अध्ययन की अर्थ सीखने के लिए अच्छे सिखाने वालों के पास जाना है और उनके साथ रहकर सीखना है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली गुरु को ही संस्था मानती रही है।

अध्ययन के बाद है मनन। जो कुछ भी सीखें, उस पर मनन करें, मनन करने की प्रक्रिया में दो बातें आती हैं; एक अपने से पूछना, अपने से उत्तर पाना—दूसरी बात है संगति बिटलाना-समस्त प्राप्त ज्ञान के बीच और ज्ञान तथा आसपास के जीवन के बीच। *उपनिषद्* की प्रसिद्ध कथा है—देव, मनुष्य और असुर तीनों ने तप किया, ब्रह्मा प्रसन्न हुए और तीनों को शिक्षा दी—द द द। प्रत्येक से पूछा—क्या समझे? प्रत्येक ने पहले उत्तर दिया—हम नहीं समझ पाये। बाद में प्रत्येक ने अपने आप मनन करके अपने लिए अलग-अलग सन्देश पाया। देवता ने सोचा—हमसे कहा है—दाम्यत, दमन करो, भोग पर नियंत्रण करो; क्योंकि हमारा स्वभाव बहुत भोगात्मक हो गया है। मनुष्य ने सोचा—हम बड़े लोभी और परिग्रह के प्रति आसक्त हैं, हमसे कहा है—दत्त, दो, वस्तुओं के प्रति अपनी ममता छोड़ो, वस्तु दो। असुरों ने सोचा—हमसे कहा गया है कि दयध्वम्—दया सीखो, हम बहुत क्रूर हो जाते हैं। इस प्रकार मनन से तीनों ने अपने लिए अलग-अलग शिक्षा ग्रहण की। इस कहानी पर हम मनन करेंगे, तो हमे लगेगा कि तीनों शिक्षाएँ मनुष्य के लिए हैं, क्योंकि उसमें देव, मनुष्य और असुर तीनों निवास करते हैं, (ये तीर्नें गुणों, सत्व, रज, तमस के ही वाचक हैं); इन तीनों की कुछ सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनके ऊपर क़ाबू पाना चाहिए।

मनन के बाद है प्रवचन। जो सीखा, जिस पर मनन किया, उसकी परख सिखाने से होती है, क्योंकि सिखाते समय जो प्रश्न सीखने वालों के द्वारा उभारे जाते हैं, वे सीखी हुई विद्या का विस्तार करते हैं, प्रश्नों से ही अधिगत ज्ञान में गति आती है। हमारी ज्ञान परम्परा बराबर प्रश्नों के समाधानों के रूप में आगे बढ़ी है। *उपनिषद्* प्रश्नोत्तर है, गीता प्रश्नोत्तर है, बुद्ध के वचन भी प्रश्नों के अधिकतर समाधान ही हैं।

आचार्य पंतजलि ने चिन्तन की शैली ही ऐसी बनायी, जिसमें विस्तृत व्याख्या करते समय शंका अपने आप उठायी जाती है, एक समाधान दिया जाता है, वह उतना संतोषजनक नहीं होता, अन्त में सबसे सटीक समाधान दिया जाता है। यही पद्धति समस्त शास्त्रों की पद्धति हुई। पहले एक स्थापना दी जाती है, फिर पूर्वपक्ष उठाया जाता है—इस स्थापना में यह दोष है। दोषों का परिहार प्रस्तुत किया जाता है। उस परिहार में भी दोष निकाले जाते है। स्थापना प्रत्येक समाधान में परिष्कृत होती चलती है। अन्त में शास्त्रकार सबसे उचित समाधान देते हुए स्थापना का अत्यन्त परिष्कृत रूप रख देता है। आगे आने वाले चिन्तक उस परिष्कृत समाधान का और परिष्कार करते हैं। परिष्कार की इस अनवरत प्रक्रिया में भाषा की बड़ी मँजाई तो होती ही है, विचारों की स्पष्टता भी सुनिश्चित होती चलती है। जहाँ कहीं कोई अर्थ इकहरा न होकर दुहरा है और केवल एक और सही अर्थ देना अभीष्ट है, वहाँ उस अर्थ का वहन करने वाली भाषा माँजी जाती है और विचार भी प्रखरतर बनाये जाते हैं। इस तरह से प्रवचन केवल गुरु शिष्य संवाद ही नहीं हैं, अपने आप भी प्रश्नों और उत्तरों की कल्पना का अभ्यास है। प्रवचन में ये सभी बातें सन्निविष्ट हैं।

अन्त में आता है प्रयोग। कालिदास ने कहा है :

आपरितोषाद विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम।
बलवदपि शिक्षितानां ह्यात्मन्यप्रत्ययं चेतः।

मालविकाग्निमित्र

प्रयोग का विज्ञान, मैं तब तक ठीक नहीं मानता, जब तक विद्वान भलीभाँति परितुष्ट न हो जायें। कितनी भी कठिन अभ्यास प्रक्रियों से कोई विद्या क्यों न सीखी गयी हो, सीखने वालों को अपने ऊपर विश्वास नहीं होता है। इस श्लोक से दो संकेत मिलते हैं कि हमार यहाँ प्रयोग विज्ञान है। प्रयोग का अर्थ है प्रकृष्ट योग। योग तो अपने शरीर, मन, वचन, संतुलन तक सीमित रहता है, प्रयोग दूसरों के शरीर मन वचन से योग स्थापित करता है। साथ ही प्रयोग परीक्षण है। वस्तुओं के स्वभावों का निरीक्षण करके उनकी स्वभावगत विविधता का कुछ सामान्य कोटियों में वर्गीकरण है। पुनः उनकी ऐसी प्रस्तुति है कि प्रत्येक व्यक्ति को, जो उसे पढ़ता, देखता, सुनता है, स्वाभाव की विलक्षणता का ठीक-ठाक ज्ञान हो सके।

तुलसीदास जी ने भी कहा है—*उपजहिं अनत अनत सुख लहहीं* (अन्यत्र उपजते हैं, अन्यत्र शोभा पाते हैं; रचना कोई है, पर रचना ग्राहक को अच्छी लगती है, तभी शोभा पाती है)। तुलसीदास की बात हर रचना पर लागू होती है और शिक्षा भी रचना ही है।

प्रयोग का तीसरा अर्थ भी है—आचरण में उतारना। *पर उपदेश कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।* —तुलसीदास की इस उक्ति में यही बात रेखांकित की गयी है कि आचरण में न उतारें, तो समस्त अद्वैत पाखण्ड

हो जाता है; सर्वभूतहित की बात उपहास हो जाती हे। प्रयोग वाद्य प्रयोग तो है ही, वह समस्त विद्याओं का चरम परीक्षण है। व्याकरण पढ़ लिया और व्याकरण के नियमों को अपनी ही भाषा के तत्त्वों पर घटा न सके, तो व्याकरण ज्ञान व्यर्थ है। प्रश्न ज्योतिष पढ़ा और जब मुट्ठी में अँगूठी रखकर पूछा गया कि क्या है? प्रयोग में अनभिज्ञ ज्योतिषी ने बतलाया—गोल है, बीच में खाली है पत्थर है; पर निष्कर्ष निकला चक्की है। सामान्य ज्ञान वाला व्यक्ति भी जानता है कि चक्की मुट्ठी में बन्द नहीं होगी। ज्योतिषी केवल शास्त्र जानता था, उसको प्रयोग से पुष्ट नहीं किया था। प्रयोग और कुछ नहीं, जीवन को खुली आँख से देखना है और शास्त्र को इस जीवन में प्रमाणित करना है। हमारी चिन्तन-परम्परा जब से प्रयोग से अलग हुई, तबसे इसकी गतिशीलता क्षीण होती गयी। ज्योतिषी ने नक्षत्रों का निरीक्षण करना छोड़ दिया। व्याकरण ने भाषा के बदलते स्वरूप को ध्यान से देखना छोड़ दिया। वास्तुशास्त्री ने निर्माण-कार्य छोड़ दिया। नाट्यशास्त्रवेत्ता ने नाटक करना छोड़ दिया। इसी प्रकार दर्शनशास्त्री ने नयी ज्ञान सामग्री का परीक्षण छोड़ दिया। इसलिए शास्त्रों की बोधकता कुछ कुहासे के भीतर धुँधली हो गयी। पश्चिम के ज्ञान से आतंकित हुए बिना उसे समझना और उसकी क्षमता-अक्षमता को समझना हमारी विद्याओं के विकास के हित में है। हम अपनी विद्याओ को प्राच्य या प्राचीन मानकर अलग रख रहे हैं, यह न केवल अपनी विद्याओं के लिए घातक है, यह पश्चिमी विद्याओं के लिए भी घातक है। हमारा मन-मस्तिष्क खुला रहा है। अब भी खुला रहना चाहिए। तभी हम अपने स्वरूप की सही पहचान कर अपने ज्ञान का सही उपयोग अपने देश के हित में और विश्व के हित में कर सकेंगे।

हमारे यहाँ ज्ञान-प्रक्रिया एकान्तिक नहीं रही है, *एतावदिति निश्चिता* (यहीं तक सब कुछ है, ऐसा आसुर बुद्धि वाले ही माने बैठे रहते हैं) इसीलिए हमारे यहाँ गुरु शिष्य से पराजित होने में अपनी जीत और अपनी सार्थकता मानते हैं। वे यह जानते हैं कि ज्ञान-यात्रा मुझ तक ही समाप्त नहीं होनी चाहिए, यह आगे जानी चाहिए। इसके लिए तैयार होना चाहिए कि सत्य की कसौटी बड़ी निर्मम होती है। इसे देखना हो, तो *महाभारत* पढ़ें और द्रौपदी और गान्धारी के प्रति श्रीकृष्ण के निर्मम वचन पढ़ें; युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के अवसर पर अपने भाइयों और द्रौपदी के बर्फ़ में गिरते जाने पर कठोर सत्य वचन पढ़ें। सत्य की खोज ही ज्ञान का मुख्य प्रयोजन है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने *गीता* में कहा है कि ज्ञान की आग सभी कर्मो को भस्म कर देती है। ज्ञान को आग कहने का अर्थ केवल यह नहीं है कि वह जलाता है, वह केवल दाहक है, आग कहने का यह भी अर्थ है कि वह प्रकाशक है, एक दूसरे के चेहरे की पहचान कराता है, एक दूसरे को सन्निकट लाता है, एक दूसरे को बातचीत के लिए उकसाता भी है, वह आत्मीयता का बोध कराता है। वह अपने चारों आंर घिरे अन्धकार का भयमात्र नहीं दूर करता, वह उन आंतकों को भी दूर करता है, जो दूर से हिंस्र पशुओं से सम्भावित होता है। ये हिंस्र पशु हैं—काम, क्रोध, लोभ मोह, मद, मात्सर्य। इसीलिए विद्या को विमुक्ति दिलाने वाली कहा गया, केवल मुक्तिदायिनी नहीं।

ऐसी विद्या सोपानों के द्वारा सीखी जाती है। पहले सीमित वस्तुओं को समझने के लिए सीमित ज्ञान आवश्यक होता है। रेखा गणित की सिद्धान्त परिभाषा से शुद्ध बिन्दु और रेखा अशुद्ध बिन्दु और रेखा से सीखे जाते हैं; क्योंकि शुद्ध बिन्दु और शुद्ध रेखा मूर्त रूप में बनेंगे नहीं, वे अवधारणाएँ हैं। अवधारणा साध्य है, साधन

नहीं बनायी जा सकती। हमारे यहाँ न्याय, वैशेषिक मीमांसा, परम ज्ञान के पहले सोपान है, सांख्य-योग दूसरे सोपान हैं और वेदान्त अन्तिम सोपान है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और सांख्य तथा योग दर्शनों में बहुत्व स्वीकार किया गया है। इस बहुत्व को व्यावहारिक स्तर पर समझना आवश्यक है। इसकी उपेक्षा करने से एकत्व का ज्ञान पूरा नहीं होगा।

पहले हम द्रव्यों को वस्तु के रूप में समझते हैं और अव्यक्त आत्मा को भी उसी तरह द्रव्य मानते हैं, जैसे काल दिक् और आकाश को। इसके बाद हम द्रष्टा और दृश्य के रूप में दूसरे सोपान में विभाजित करते हैं। जब द्रष्टा का ज्ञान हो जाता है, तो अन्तिम सोपान में हम द्रष्टा-दृश्य में अन्तर मिटा देते हैं। इस प्रकार हम *उपनिषद्* के शब्दों में—

अविद्याया मृत्यं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

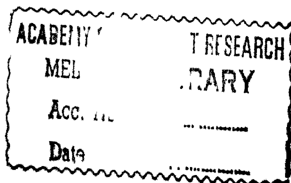
अविद्या के द्वारा हम मृत्यु का सन्तरण करते हैं। अविद्या अर्थात् सीमित ज्ञान हमें केवल वहीं तक पहुँचाती है, जहाँ हम यह जान पाते हैं कि मृत्यु अन्त नहीं है; खण्डित सत्य-सत्य, नहीं हैं; परन्तु असीमित ज्ञान अर्थात् विद्या के द्वारा यह सम्भव होता है कि अमृत तत्त्व के आस्वादक बनें। अखण्ड सत्य अखण्ड आनन्द है। दुःख से मुक्ति, मुक्ति होगी, विमुक्ति नहीं है। आनन्द की प्राप्ति, दुःख-सुख से परे निर्बाध अनन्त आनन्द की प्राप्ति ही विमुक्ति है।

हमारी सभी विद्याएँ, ज्ञानधाराएँ इसलिए एक दूसरे की उपकारक हैं, क्योंकि ज्ञान समावेशक है। उनमें आपस में विरोध नहीं, जैसा कि भ्रमवश समझा जाता है। जो एक दर्शन से दूसरे में, एक चिन्तक से दूसरे चिन्तक में मतभेद और खण्डन-मण्डन दिखायी देता है, उसका तात्पर्य यही है कि अखण्ड को समझने के लिए खण्ड-खण्ड अलग करके समझना आवश्यक है। एक खण्ड को समझने के लिए दूसरे खण्ड से उसका अलग वैशिष्ट्य समझना आवश्यक है। श्रमण और वैदिक विचारधाराओं में विरोध की बात की जाती है। वैदिक विचारधारा में शास्त्रों की विद्रोही विचारधारा की बात की जाती है। लोग यह नहीं सोचते कि वैचारिक टकराव टकराव नहीं है, वह सत्य को समझने का अभ्यास है। एक प्रातःकाल से दूसरे प्रातःकाल तक दैनन्दिन जीवन एक-सा है, विरक्त परिव्राजकों के लिए आदरभाव एक-सा है, ज्ञान सीखने की गुरु-शिष्य परम्परा एक-सी है, भक्ति भाव और उसकी वाह्य और आभ्यन्तर अभिव्यक्ति एक-सी है, योग का अनुशासन एक-सा है, कर्मवाद एक-सा है। यह स्वीकार भाव एक-सा है कि प्रत्येक को अपनी रुचि के अनुसार परम सत्य के अनुसन्धान का मार्ग वरण करने का अधिकार है। यदि ऐसी बात है, तो यही भाव पश्चिम की ज्ञान-पद्धति के प्रति भी होना हमारी परम्परा की दृष्टि से सहज है। संकोच पश्चिम के लोगों को हो सकता है, क्योंकि अभी भी चार सौ वर्षों की औपनिवेशिक मनोवृत्ति से उनकी मुक्ति नहीं हुई है, हमारी तो विमुक्ति पहले ही हो चुकी है। विश्व को ज्ञान के इस विमोचक रूप को आज नहीं, तो कल पहचानना ही होगा कि सभी ज्ञान में यह क्षमता होनी चाहिए कि अपना कहा जाने वाला सब कुछ जाता हो, चला जाये, पर मनुष्य की ज्ञान-यात्रा ठीक राह पर चलती रहे। जो चिन्तन-परम्परा ईश्वर को माया से ढका कह सकती है और इसे चरम सत्य नहीं स्वीकार करती है, तथागत को भी संवृत्ति मानकर अवास्तविक मान सकती है, वह कभी क्षीण नहीं होगी। जो शुद्ध ज्ञान की परिभाषा यह मानता है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु ज्ञानं तद्विद्धि सात्त्विकम्।।

श्रीमद्भावगवद्गीता

वही ज्ञान शुद्ध ज्ञान है, जो समस्त प्राणियों में, समस्त पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, आकाश, पंचमहाभूतों में, समस्त सत्ताओं में एक न चुकनेवाला भाव (जो है, उससे कुछ अलग होने का भाव; जो जानना चाहते हैं, वह होने का भाव देखता है और जो विभक्त (विलग) दिखने वाले पदार्थो में एक अविभक्त (सम्पूर्ण अखण्ड) भाव देखता है। वह स्वयं भी कभी चुकेगा नहीं, वह अव्यय बना रहेगा, भले वह सीमित अर्थ में कुछ कम शक्तिशाली दिखे। इस सात्विक शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता आज के खण्डित और परस्पर अविश्वासी, परस्पर भयभीत संसार में जितनी है और दिनोंदिन जितनी और बढ़ती जायेगी, उतनी कभी न रही होगी। भयंकर जकड़न के बीच विमुक्ति की तलब अधिक ज़ोरदार होती है। वह जकड़न आज चतुर्दिक है, जड़ वस्तुओं की नहीं, जड़ वस्तुओं के साथ जुड़ाव की जकड़न और पीड़ा दे रही है। वही आशा है नये या अपने पुराने ज्ञानोदय की।



कृतित्व

(पं. चन्द्रबली त्रिपाठी के कुछ लेख)

उपनिषदों का दार्शनिक स्वरूप

मनुष्य तथा पशु-पक्षी सभी जीव संसार को देखते हैं। यह भी दर्शन है। परन्तु बुद्धिमान पुरुष पदार्थों को देखकर उनकी बाह्य और आभ्यन्तरिक परीक्षा करके उनके मूल में निहित तत्त्व को ढूँढने के लिए जिस दृष्टि से काम लेता है, वही सच्चा दर्शन है। हम कहाँ से आये, यह चारों ओर फैला हुआ संसार कैसे उत्पन्न हुआ, इसकी उत्पत्ति आप-से-आप हो गयी अथवा उसका कोई सिरजनहार है, इस प्रकार के अनेकविध प्रश्न सदा से दर्शन के विषय रहे हैं। इसके सिवाय चिन्तनशील मनुष्य का यह भी शाश्वत प्रश्न है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है, तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से वह अपने को आबद्ध पाता है। उनसे उसे मुक्ति किस प्रकार मिल सकती है और वह अमरत्व अथवा शाश्वती शान्ति कैसे पा सकता है। संक्षेप में जीव, जगत और परमेश्वर-विषयक जिज्ञासा दर्शनशास्त्र का विषय है। इस परिप्रेक्ष्य में उपनिषदों के दार्शनिक स्वरूप की समीक्षा करनी है।

उपनिषदों के दार्शनिक स्वरूप का विश्लेषण करने के पूर्व भारत के अन्य प्राचीन विचारों का संक्षिप्त विवेचन औपनिषदिक सिद्धान्तों के तात्पर्य एवं महत्त्व को हृदयंगम करने में सहायक होगा। सर्वप्रथम हमारा ध्यान देहात्मवादी चार्वाक की ओर जाता है, जो शरीर से पृथक् आत्मा और परमात्मा किसी नित्य-तत्त्व के अस्तित्त्व को अस्वीकार करके निरे आधिभौतिक सुख को जीवन का परम लक्ष्य मान कर कहता है—*ऋणं कृत्वां घृतं पिबेत्*—ऋण लेकर और चाहे जिस प्रकार हो, संसार में रहकर मौज उड़ाओ। यह उस आसुर मत का ही सारांश है[1], जिसकी गीता में भरपूर भर्त्सना की गयी है और जो वास्तव में दर्शन-शास्त्र की कोटि में नहीं आता और उसका उल्लेख ही उसका खण्डन है।

किन्तु गहरे पैठकर दार्शनिक तत्त्व निकालने वाले कणाद और सांख्य-दर्शनों की समीक्षा महत्त्वपूर्ण है। अत्यन्त प्राचीन काल में कणाद ने सृष्टि-तत्त्व की छानबीन करके यह सिद्धान्त स्थिर किया कि जगत् के किसी पदार्थ को विभाजित करते जाइए, अन्त में उसके मूल में परमाणु का पता लगेगा और इस प्रकार विश्व में, जिस प्रकार नाना पदार्थ हैं, उसी प्रकार परमाणु भी असंख्य हैं और उनके अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व, आत्मा अथवा ईश्वर भी नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार मन और आत्मा भी विभाज्य हैं और अन्य पदार्थों की भाँति उनके भी आद्य परमाणु हैं। परमाणुओं के संघात से सृष्टि का आरम्भ होता है। अतः इस सिद्धान्त को आरम्भवाद अथवा परमाणुवाद कहते हैं। परन्तु यह मत अत्यन्त दुर्बल है, क्योंकि कणाद के मत वाले इस बात का कोई कारण नहीं बतला सकते कि परमाणुओं का संघात क्योंकर होता है। अर्थात वह कौन-सी शक्ति है, जो सृष्टि के आरम्भ होने के लिए एक परमाणु को दूसरे परमाणु से मिलाती है और यदि कहा जाय कि यह संयोग आप-से-आप

हो जाया करता है, तो यह कथन वैसा ही हुआ, जैसा यह कहना कि सृष्टि आप-से-आप हो गयी। इस मत को न्याय-वैशेषिक भी कहते हैं और कुछ न्यायिक ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं, जैसे घट का रचयिता कुम्भकार। परन्तु चेतन-स्वरूप ईश्वर अपनी सृष्टि से सम्यक् प्रकार से पृथक हो, तो सृष्टि में चेतन कहाँ से आया, इसका यथोचित समाधान वे नहीं कर सकते। सभी परमाणु समान गुणधर्म के होने के कारण उनसे निर्मित सभी पदार्थ एकरूप होने चाहिए, परन्तु हम पदार्थों में विविध श्रेणियों और वर्गों का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, एवं परमाणु चाहे कितने सूक्ष्म हों, उनके मध्य में किसी तत्त्व का होना आवश्यक है, ऐसा न हो तो परमाणुओं की पृथक सत्ता नही मानी जा सकती, और यदि उनके बीच में कोई तत्त्व अथवा पदार्थ विद्यमान हो तो वह क्या है, इसे परमाणुवादी बतला नहीं सकते। इस मत का बादरायणाचार्य ने ***ब्रह्मसूत्र*** के द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद के 11 से 17 सूत्रों में तथा शंकराचार्य ने उनके शारीरिक भाष्य में युक्तियुक्त खंडन करके उसे अत्यंत उपेक्षणीय बतलाया है।

जहाँ कणाद मत अनेक तत्त्ववादी है, कपिल का सांख्य मत द्वैतवादी है, जो दो स्वतंत्र, अनादि और स्वयंभू, मूल तत्त्व—प्रकृति और पुरुष—का प्रतिपादन करता है। पुरुष यद्यपि अनेक है, परन्तु मूल में समानधर्मा होने के कारण उनके समुदाय को एक इकाई मानकर इस मत को द्वैतवादी कहते हैं। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष तत्त्वतः एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं, प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है, प्रकृति में कर्तृत्त्वादि गुण हैं। पुरुष अकर्ता, उदासीन तथा प्रकृति के खेल का द्रष्टा-मात्र है। सांख्यों के दो प्राथमिक सिद्धान्त हैं, एक यह कि शून्य से अर्थात् जिसका सर्वथा अभाव है, उससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होता और दूसरा यह कि कारण में जो गुण वर्तमान होते हैं, उन्हीं के न्यूनाधिक विकसित होने से कार्य बनता है। इन सिद्धान्तों के सहारे सृष्टि का विश्लेषण करके सांख्य मत ने यह निश्चय किया है कि समस्त व्यक्त पदार्थों में न्यूनाधिक मात्रा में सतो गुण, रजोगुण और तमोगुण वर्तमान रहते हैं और उनके मूल में अव्यक्त और सूक्ष्म रूप में ये तीनों गुण एक ही तत्त्व में साम्यावस्था में वर्तमान रहते हैं; इस तत्त्व को वे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति की साम्यावस्था भंग होने अर्थात् इन गुणों में न्यूनाधिक्य आ जाने से सृष्टि का आरम्भ होने लगता है और गुणोत्कर्ष के सिद्धान्त के अनुसार क्रमपूर्वक सारी सृष्टि की रचना पूर्ण हो जाती है। अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल रूप में उत्कर्ष और विकास होकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हो जाता है, और जब प्रलय का समय आता है तो प्रतिलोम की विधि से स्थूल से सूक्ष्म की ओर विलय होते-होते अन्त में भूत मात्र का प्रकृति में लय हो जाता है और प्रकृति अपनी मूल साम्यावस्था को प्राप्त हो जाती है। इस मत को गुणोत्कर्षवाद भी कहते हैं, जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष को छोड़कर सृष्टि का अन्य कोई कारण अथवा ईश्वर नाम का तत्त्व नहीं है। मूल प्रकृति से ही 1 महतत्त्व, 1 अहंकार, 5 तन्मात्राएँ, 1 मन, 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पंच महाभूत अर्थात् कुल 23 तत्त्व उत्पन्न होते हैं, जो उसके विकार हैं। प्रकृति स्वयं जड़ होने के कारण सृष्टि की रचना नहीं कर सकती, और पुरुष सचेतन होते हुए भी उदासीन होने के कारण सृष्टि की रचना में असमर्थ है, परन्तु दोनों का संयोग होने से प्रकृति में कर्तृत्व आता है और सृष्टिचक्र चल निकलता है। प्रकृति से संयोग के कारण अहंकार में फँसकर पुरुष अपने को कर्ता, भोक्ता आदि मानकर सुख-दुःखादि द्वंद्वों में पड़ा हुआ प्रकृति का बन्दी बना रहता है और जब वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि सारा तमाशा प्रकृति का है और वह उससे भिन्न त्रिगुणातीत है, तब वह मुक्त हो जाता है। सांख्यों के मतानुसार मोक्ष का यही स्वरूप और पुरुष का परम पुरुषार्थ है।

परन्तु जिस प्रकार कणाद के परमाणुवाद का इसका समाधानकारक उत्तर देने नहीं बनता कि सृष्टि के आरम्भ के लिए परमाणुओं को गति कहाँ से मिलती है, उसी प्रकार सांख्य मत के सामने यह अनुल्लंघनीय बाधा है कि जड़ अतएव अन्धी प्रकृति और उदासीन अतएव लँगड़े पुरुष की जोड़ी कौन बैठाता है, जिससे सचेत सृष्टि का व्यापार चालू हो। सांख्यों का यह उत्तर कि "यह प्रकृति और पुरुष का स्वभाव ही है" निराधार है और यहीं पर प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त एक तीसरे तत्त्व की आवश्यकता आ पड़ती है।

इन दोनों मतों—कणाद के अनेकवाद और कपिल के द्वैतवाद—का विहंगावलोकन करने के उपरान्त हम उपनिषदों के दार्शनिक स्वरूप का, जिसे वेदांत[2] कहते हैं, विवेचन करेंगे। यहीं पर यह भी कह दें कि उक्त वादों के विपरीत यह मत अद्वैतवाद का है और वह आध्यात्मिक है। इस प्रसंग में उस अद्वैतवाद का उल्लेख असंगत न होगा, जिसका अर्वाचीन काल में शास्त्रीय ढंग से योग्यतापूर्वक यूरोपीय देशों में प्रतिपादन किया गया है। इसे आधिभौतिक जड़ाद्वैत कहते हैं, जिसका सर्वश्रेष्ठ पुरस्कर्त्ता हेकल कहता है कि जिस प्रकार सत्कार्यवाद और गुणविकासवाद के अनुसार एक ही जड़ प्रकृति से मन, अहंकार और बुद्धि आदि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चेतना भी प्रकृति का विकार है तथा पुरुष और परमेश्वर कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, सृष्टि में जो चेतना दिखायी देती है, वह जड़ प्रकृति का धर्म है। पश्चिम में ही—इस मत की जड़ वहाँ के दार्शनिकों ने काट दी है तथा प्रस्तुत विषय से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने से इसे यहीं छोड़ देते हैं।

अस्तु, ***मुक्तिकोपनिषद्*** के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 है, यद्यपि ***नारायण, नृसिंह, रामतापनी*** और ***गोपाल*** इन चार उपनिषदों के पूर्व और उत्तर-भेद से पृथक-पृथक प्रवचन के कारण यह संख्या वास्तव में 112 है। इनमें से प्रत्येक किसी-न-किसी वेद की शाखा से सम्बद्ध है। सब उपनिषदों का सार-तत्त्व ब्रह्म है और आत्मा तथा ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन उनका प्रधान विषय है। जगत् अविद्या के कारण सत्य भासित होता है, किन्तु नित्य परिवर्तनशील होने के कारण मिथ्या है। इसे ही एक प्रसिद्ध श्लोक में इस प्रकार कहा गया है :

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रंथकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।।

पिण्ड और ब्रह्मांड के मूल में वर्तमान नित्य-तत्त्व को ही उपनिषदों में ब्रह्म कहा जाता है। इस एक ही सत्य को, जैसा ***ऋग्वेद*** में कहा गया है—*एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति*[3] अर्थात् एकमात्र सत्य (ब्रह्म) का ज्ञानी लोग विविध रूपों में वर्णन करते हैं, इन उपनिषदों में नाना प्रकार से निरूपित किया गया है और इसी बात को भगवान् कृष्ण ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—*ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक*[4]—ऋषियों ने इसका निरूपण विभिन्न छन्दों में विविध प्रकार से किया है।

आरम्भ में मनुष्य के मन में उठने वाले जिन प्रश्नों का उल्लेख हमने किया है, वे प्रायः सभी उपनिषदों में किसी-न-किसी रूप में देखे जा सकते हैं। इनका सर्वोत्कृष्ट रूप सत्यान्वेषण है, जिसे हम सर्वप्रथम ***ईशावास्योपनिषद्*** में पाते हैं, जहाँ सत्यान्वेषी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका है कि वह जो कुछ देखता है, वह सत्य नहीं है; सत्य तो कोई दूसरा ही तत्त्व है, जो एक ऐसे आवरण से ढका हुआ है, जो बड़ा ही मोहक है और उसे खोलने के लिए प्रार्थना करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ।। [5]—पूषन

सत्य के मुख को सुवर्ण-पात्र से ढक रखा है, मुझ सत्यधर्मा के देखने के लिए तुम उसे उघाड़ दो। विस्तृत रूप से इसी प्रश्न को विविध प्रकार से ***श्वेताश्वेतर उपनिषद्*** के आरम्भ में इन शब्दों में उठाया गया है कि क्या ब्रह्म कारण है? यदि ब्रह्म कारण है तो किस प्रकार का? अथवा काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, पुरुष अथवा इनका संघात इस विश्व का कारण है? हम कहाँ से आये, किसके आधार पर ठहरे हुए हैं और हमें सुख-दुःखादि की प्रवृत्तियों में कौन नियोजित करता है?[6] इन प्रश्नों के उत्तर में इस उपनिषद् का मत है कि यह कहना भयंकर भूल है कि इस सृष्टि का कारण प्रकृति है; जो यह कहते हैं कि यह सब-कुछ प्रकृति का खेल है, वे इस सत्य को नहीं जानते कि यह एक ब्रह्मचक्र है, जो ब्रह्म की महिमा से संचालित हो रहा है। इस तथ्य को इन इन्द्रियों और तर्क से यथावत् नहीं जान सकते, किन्तु ध्यान योग से समाधिस्थ योगियों ने स्वानुभव से देख लिया है कि काल, स्वभाव, इत्यादि जितने भी सृष्टि के कारण बतलाये जाते हैं, स्वयं उनका अधिष्ठाता परमात्मा है और उसी की अपने गुणों से आच्छादित शक्ति का यह सब प्रसार है।[7] सांख्य मत में, जिसे प्रकृति कहा गया है, उससे यह देवात्मशक्ति भिन्न नहीं है, किन्तु सांख्य की प्रकृति स्वतंत्र है और उपनिषद् में उसे परमेश्वराधीन माना गया है। इस भेद को व्यक्त करने के लिए यहाँ माया शब्द का प्रयोग करके कहा गया है कि :

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। [8]

अर्थात् प्रकृति को माया मानो और परमेश्वर को मायावी अथवा उसका अधिपति महेश्वर, उसी के कार्य-कारण संघात से समस्त जगत् व्याप्त हो रहा है। सांख्य-शास्त्र का यह सिद्धान्त उपनिषदों को मान्य है कि शून्य से कुछ उत्पन्न नहीं होता, जो ***छान्दोग्य उपनिषद्*** में इन शब्दों में व्यक्त है कि *कथमसतः सन्जायेत्* [9] अर्थात् जिसकी कोई सत्ता न हो, उससे सत्तावान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और इसी प्रकार सांख्य के गुणोत्कर्ष का सिद्धान्त भी उपनिषदों में इस सीमा तक स्वीकृत है कि जब सृष्टिक्रम एक बार आरम्भ हो जाता है, तो उसका क्रम उसके नियमों के अनुसार ही अन्त तक चलता है। सांख्य और उपनिषदों में महत्त्व का यह अन्तर ध्यान में रखने योग्य है कि जहाँ सांख्य जड़ प्रकृति की क्रियात्मकता और सृष्टि में चेतनता का समाधान नहीं कर पाता, उपनिषदों में प्रकृति को चिद्रूप परमेश्वर की शक्ति मानकर इस असमंजस को दूर कर दिया गया।

प्रकृति को परमेश्वर की शक्ति मान लेने पर जगत् की उत्पत्ति का वर्णन परमेश्वर से करना तर्कसंगत है और ऐसा ही उपनिषदों में किया गया है। ***तैत्तिरीय उपनिषद्*** में जगत् की उत्पत्ति के विषय में यह वर्णन है —*यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवति। यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म* [10]—ब्रह्म वह है, जहाँ से भूतमात्र उत्पन्न होते, जिसके आश्रय से उत्पन्न होकर जीते और जहाँ लौटकर लीन हो जाते हैं, तथा ***मुंडक-उपनिषद्*** में ब्रह्म के अद्रेश्य, अग्राह्य इत्यादि निर्गुण स्वरूप को बतलाकर उसे सब भूतों की योनि[11] कहा गया है और भूतों का संक्षिप्त विवरण देकर उसी से प्राण, मन, समस्त इन्द्रियों, आकाश, वायु, ज्योति (अग्नि

अथवा तेज) जल और सबको धारण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति का निदर्शन है[12] एवं कोई शंका कर बैठे कि सूर्य और चन्द्रमा इत्यादि आप-से-आप हो गये अथवा उनकी उत्पत्ति परमेश्वर के सिवाय अन्य किसी तत्त्व से हुई, तो इस उपनिषद् का उत्तर है कि अग्नि ब्रह्म की मूर्धा, सूर्य और चन्द्र उसके नेत्र, दिशाएँ उसके कान, वेद उसकी वाणी, वायु उसका प्राण तथा सारा विश्व उसका हृदय है और पृथ्वी उसके चरणों से उत्पन्न हुई और वह सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा है।[13] ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के विषय में ***छान्दोग्य उपनिषद्*** का कथन है कि मूलारम्भ में एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत् था, उसने इच्छा की कि एक से बहुत हो जाऊँ, और उसने तेज, जल, अंन्न (पृथ्वी) का सृजन किया[14] और इसी प्रकार ***ऐतरेय, प्रश्न*** तथा कई अन्य उपनिषदो में भी ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति का विवेचन पाया जाता है।

किन्तु उपनिषदों में कहीं यह नहीं कहा गया है कि सब भूतों की उत्पत्ति युगपद् हो गयी, अपितु उनमें सृष्टि की क्रमोत्पत्ति ही मानी गयी है। जैसे ***तैत्तिरीय उपनिषद्*** में कहा गया है कि जो ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, उससे आकाश, आकाश पिण्ड से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है।[15] यह क्रम पिण्ड अर्थात् मनुष्य देह एवं ब्रह्माण्ड दोनों के विषय में सत्य है। क्रम विकास के विचार से ही ***गर्भोपनिषद्*** में देह को 'पंचात्मक'[16] कहा गया है और आकाशदि पाँच महाभूतों की क्रमोत्पत्ति बतलायी गयी है और इसी प्रकार ***प्रश्न***[17] और ***बृहदारण्यक*** उपनिषदों[18] में भी पंच महाभूतों से जगत् की रचना का सिद्धान्त निरूपित पाया जाता है। जगत् की उत्पत्ति के मूल कारण के विषय में सब उपनिषदों का मतैक्य है कि वह ब्रह्म है, परन्तु कई अन्य स्थानों में जहाँ ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बतलायी गयी है, वहाँ इस क्रम को ध्यान में नहीं रखा गया, क्योंकि वहाँ उत्पत्ति का क्रम दिखाना विवक्षित नहीं है, केवल ब्रह्म को जगत् का कारण बतलाना ही उद्दिष्ट है। यह बात ऊपर दिये गये वाक्यों से ही स्पष्ट झलकती है। परन्तु ***छान्दोग्य उपनिषद्*** के इस कथन से कि ब्रह्म ने तेज, जल और अन्न (पृथ्वी) को उत्पन्न किया और ***श्वेताश्वतर उपनिषद्*** के निम्नलिखित मन्त्र से कुछ विद्वान यह अर्थ निकालते हैं कि उपनिषदों में पाँच महाभूतों की नहीं, केवल तेज, जल और पृथ्वी इन्हीं तीन महाभूतों की उत्पत्ति बतलायी गयी है।

उक्त मंत्र

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणाऽनुशेते जहात्येनां भुक्ताभोगामजोऽन्यः।।[19]

अर्थात् अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाली एक लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की अजा (बकरी-प्रकृति) को एक अज (बकरा-जीव) सेवन करता हुआ उसी में लिप्त रहता है और दूसरा अज उसका भोग करके त्याग कर देता है। इस मंत्र में प्रकृति को लोहित अर्थात् तेजोरूप, अग्नि, शुक्ल (जल) और कृष्ण (पृथ्वी) इन तीन तत्त्वों से युक्त बतलाया गया है और इन्हीं तीन का ***छान्दोग्य उपनिषद्*** में उल्लेख किया गया है, जिससे आकाश और वायु को महाभूत न मानकर इन्हीं तीन महाभूतों को कुछ विद्वान् ग्रहण करते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कि इन वाक्यों में सृष्टि-क्रम विवक्षित न होने से यह निष्कर्ष ही समीचीन है कि सृष्टि आकाशादि पाँच महाभूतों के प्रयोग से बनी है और ***ब्रह्म सूत्र*** अध्याय 2, पाद 3 के सूत्र 1-7 भाष्य में

शंकराचार्य ने इसी मत को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—*श्रुति प्रामाण्यादेकस्माद्ब्रह्मण आकाशादि महाभूतोत्पत्ति क्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते* अर्थात् श्रुतियों के प्रमाणों से यह निश्चित किया जाता है कि ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति आकाशादि महाभूतों की क्रमोत्पत्ति के अनुसार हुई है।

ब्रह्म की इच्छा से जगत की उत्पत्ति के वर्णन से उसे एक प्रकार से जगत् का निमित्त कारण कह सकते हैं, परन्तु यह एक अपूर्ण कथन है, क्योंकि कुम्भकार से जैसे घट का पृथक् निर्माण होता है, उस प्रकार जगत् ब्रह्म से पृथक नहीं उत्पन्न होता है; बल्कि ब्रह्म से ही उत्पन्न होने के कारण वह जगत् का उपादान कारण भी है। ब्रह्म से जगत् के इस प्रकार उत्पन्न होने के सम्बन्ध में *मुंडक उपनिषद्* में यह वर्णन आता है कि :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च
यथापृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्।।

जिस प्रकार मकड़ी जाले को अपने में से ही बनाती है और उसे निगल जाती है, जैसे पृथ्वी में से औषधियाँ उत्पन्न होती है और जैसे सजीव पुरुष के शरीर से केश और लोम निकलते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह विश्व भी उत्पन्न होता है।[20]

ब्रह्म का स्वरूप

ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति के निरूपण के उपरान्त उपनिषदों के सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रधान विषय ब्रह्म के लक्षण और स्वरूप का विवेचन उपयुक्त है। सृष्टि के सतत परिवर्तनशील पदार्थों और भूतमात्र के मूल में वर्तमान कभी न बदलने वाले नित्य सत्त्व को उपनिषदों में ब्रह्म कहा जाता है। कोई भी सत्ता अथवा तत्त्व हो, उसके तीन रूप हो सकते हैं; वह सगुण हो सकता है, अथवा निर्गुण या सगुण-निर्गुण उभयात्मक। ब्रह्म के ये तीनों प्रकार के वर्णन उपनिषदों में पाये जाते हैं; किन्तु उनमें आध्यात्मिक चिन्तन से ब्रह्म का सच्चा और अन्तिम स्वरूप निर्गुण ही निश्चित हुआ है। उनमें ब्रह्म के इस स्वरूप का जो निरूपण हुआ है, वह केवल तर्क से नहीं जाना जा सकता, जैसा कि *कठ उपनिषद्* के इस कथन से प्रकट है—नैषा तर्केण मतिरापनेया[21]—यह बोध तर्क से नहीं प्राप्त होता, क्योंकि तर्क की गति नामरूप तक अर्थात् वहीं तक है, जहाँ मन और बुद्धि की गति है। परन्तु जो तत्त्व इनसे परे हो, वह अतर्क्य है और उसका स्वरूप ध्यान योग से ही सम्यक् रूप से जाना जा सकता है। इस प्रकार समाधिस्थ होकर जिन महात्माओं ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया, उसका मानवीय भाषा में जितना सम्भव हो सकता है, उन्होंने उपनिषदों में वर्णन किया है। इसलिए उपनिषदों को 'ब्रह्मविद्या' कहा जाता है। जिससे ब्रह्म को जाना जाता है, उसे ही उपनिषदों में 'परा विद्या' कहते हैं और शेष सभी शास्त्र अथवा तथाकथित ज्ञान को 'अपरा विद्या' कहा गया है। *मुंडक उपनिषद्* में निर्दिष्ट विद्या के ये दोनों भेद, परा और अपरा,[22] *छान्दोग्योपनिषद्* में सनत्कुमारनारद[23] संवाद में भी मिलते हैं।

छान्दोग्य और *मुंडक* उपनिषदों में सृष्टि के सभी पदार्थो को नामरूप[24] कहा गया है और उसी के अन्तर्गत ब्रह्म के वे विशेषयुक्त वर्णन भी आ जाते हैं, जिन्हें कुछ नाम दिये जाते हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* में ब्रह्म का लक्षण सत्य, ज्ञान और अनन्त[25] कहकर अन्त में कह दिया है—*यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह* अर्थात् वहाँ न हमारी वाणी पहुँच सकती है, न उसका हम वर्णन कर सकते, और न मन से ही उसे पा सकते हैं। *ईशावास्योपनिषद्* में उसे सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, अस्नायु, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू[26] तथा *कठ उपनिषद्* में अनादि, अनन्त महतत्त्व से परे ध्रुव बतलाकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित, इन्द्रियों का अविषय तथा अव्यक्त प्रकृति से भी परे, वह तत्त्व निर्दिष्ट किया गया है, जो ज्ञान की पराकाष्ठा है और जिसके आगे कुछ नहीं है। *कठ उपनिषद्* में ही ब्रह्म को अत्यन्त विलक्षण बतलाने के लिए कहा गया है कि वह धर्म से पृथक् और अधर्म से भी पृथक है, एवं कार्य-कारण रूप प्रपंच तथा भूत और भविष्यत् से व्यतिरिक्त कालातीत है।[27] *मुंडक उपनिषद्* में ब्रह्म के अतीन्द्रिय स्वरूप का यह वर्णन करके कि वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अगम्य और कर्मेन्द्रियों द्वारा अग्राह्य अगोचर है, उसे अवर्ण. कान और नाम, आँख तथा हाथ और पैर से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म, अव्यय और दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से भी परे कहा है।[28] *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में ब्रह्म को निष्फल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य, निरंजन और अमृत का सेतु[29] कहकर उसके निर्गुण स्वरूप को शब्दों में बाँधने का प्रयास बताया है, एवं *केन उपनिषद्* में ब्रह्म को मन और इन्द्रियों को अज्ञेय कहकर उसे उनका प्रेरक बतलाते हुए प्रतिपादित किया है कि ब्रह्म विदित और अविदित, व्याकृत और अव्याकृत सबसे परे है।[30] इसी प्रकार ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को *बृहदारण्यक उपनिषद्* में अस्थूल और अनणु तथा अनन्त, अपार, विज्ञानधन, और नेति-नेति[31] शब्दों से व्यक्त किया है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में एक अन्य स्थान पर ब्रह्म के निर्विशेष रूप को जहाँ यह कहकर निर्देश किया है कि वह न सत् है और न असत् है, केवल शिव है;[32] *मैत्रायणी उपनिषद्* में ब्रह्म को सर्व कार्य-कारण से निर्मुक्त अर्थात् न वह कार्य है, न कारण है, निर्वचन, अनौपम्य और निरुपाय बतलाकर जिज्ञासु को उसकी अनिर्वचनीयता को 'किं तदंग वाच्यम्'[33]—प्यारे! क्या वह कहने की चीज है, कितने भव्य शब्दों में उच्चरित किया है।

मैत्रायणी उपनिषद् में जहाँ ब्रह्म के निरतिशय निर्गुण स्वरूप का उक्त निरूपण हुआ है, वहीं मनुष्य की कल्पना में आने वाले ब्रह्म के सगुण रूप के लिए उसे ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, विष्णु, नारायण, सविता, धाता, सम्राट, इन्द्र, इत्यादि विशेषणों से विभूषित किया है, और कहा है कि वही अपने तेज से आच्छादित होकर सहस्र नेत्रों से तप रहा है।[34] ब्रह्म के इसी विराट् सगुण का वर्णन *मुंडकोपनिषद्* के उक्त मंत्र में हुआ है, जिसमें सूर्य और चन्द्रमा उसके नेत्र बतलाये गये हैं, तथा *श्वेताश्वेतरोपनिषद्* में जहाँ वर्णन है कि वह सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर भुजाओं वाला और सब ओर पैरों वाला है, एवं वह सहस्त्र सिर और सहस्त्र आँखों वाला तथा सहस्र पैरों वाला है।[35] वह सब ब्रह्म के सगुण रूप की कल्पना है। कहाँ तक कहूँ, उपासना के निमित्त अथवा निर्विशेष ब्रह्म का बोध कराने के लिए उसके सगुण अथवा सविशेष स्वरूप के वर्णन से उपनिषद् भरे हुए है; इसी प्रकार जो ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, जो सब प्राणों का प्राण है, जिसके सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है, उसे छोटा कहें अथवा बड़ा, दूर कहें या

समीप इत्यादि जो कुछ भी कहें, सब उपयुक्त ही है, अतएव इस प्रकार के सगुण-निर्गुण उभयात्मक वर्णन भी उपनिषदों में बहुतेरे पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ *ईशावास्योपनिषद्* में कहा गया है कि वह चलता है, नहीं भी चलता है, वह दूर है, समीप भी है, वह सबके अन्दर है, वह सबके बाहर भी है;[36] ***मुंडकोपनिषद्*** में वह बड़ा है, पर अचिन्त्य-रूप है, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और दूर-से-दूर है और जो देखना चाहे, अपने हृदय ही में उसे देख सकता है।[37] ***श्वेताश्वतर-उपनिषद्*** का यह व्याख्यान है कि उसके हाथ-पैर नहीं है, फिर भी उसमें तेज़ गति और पकड़ है; उसके नेत्र नहीं है, तथापि वह देखता है और कान नहीं है, किन्तु सुनता है[38] इत्यादि। उभयात्मक वर्णन के थोड़े-से उदाहरण हैं। ***बृहदारण्यक*** और ***मैत्रायणी*** उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूपों को व्यक्त और अव्यक्त अथवा मूर्त तथा अमूर्त नाम देकर मूर्त रूप को असत्य की श्रेणी में रखा है।[39] क्योंकि वह नाम-रूप से आच्छन्न है, परन्तु उपनिषदों का अन्तिम सिद्धान्त यही है कि ब्रह्म निर्विशेष और अनिर्वचनीय है।

जीव अथवा आत्मा

हम पहले ही कह आये हैं कि तत्त्वतः आत्म और ब्रह्म में अभेद है। देखना यह है कि उपनिषदों के किन वाक्यों से यह निष्कर्ष निकलता है। ***तैत्तिरीय उपनिषद्*** में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है—*इदं सर्वमसृजत् यदिदं किंच, तत्सृष्ट्वातदेवानु-प्राविशत्,*[40] अर्थात् यह जो कुछ है, उस सबका उसने सृजन किया और उसे रचकर उसमें प्रवेश कर गया। ***छान्दोग्य उपनिषद्*** में यह वर्णन है कि तेल और जल आदि महाभूतों की उत्पत्ति करने के पश्चात् *अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत*—इसी जीव-रूप से उनमें प्रवेश करके नामरूप जगत् को व्यक्त और विभक्त किया।[41] वह कहीं एक स्थल से प्रविष्ट नहीं हुआ, बल्कि ***बृहदारण्यक उपनिषद्*** के अनुसार—*सः एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः* अर्थात् इसमें वह नखों के अग्र भाग तक में प्रवेश कर गया और नखाग्र के साथ लोमों को भी जोड़कर ***कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्*** ने इस मत को और भी पक्का किया। उसमें कथन है—*आत्मेदं शरीरमनुप्रवष्टि आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः*[42] अर्थात् उस आत्मा ने इस शरीर में सम्पूर्ण लोमों और सम्पूर्ण नखाग्रों तक प्रवेश किया। यदि इन वाक्यों के सिवाय आत्म और ब्रह्म के अभेद दिखाने वाले दूसरे वाक्य न होते तो इतने ही उपनिषदों के मत निर्देशन के लिए पर्याप्त थे, किन्तु नीचे दिये गये उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उनमें ब्रह्मात्मैक्य सिद्धान्त का प्रतिपादन निःसंशय है। ***छान्दोग्य उपनिषद्*** में *सर्व खल्विदं ब्रह्म*—यह सब कुछ ब्रह्म है, उसमें इतना कहकर तुरन्त शांडिल्य ने आत्मा और ब्रह्म को तत्त्वतः एक बतलाने के लिए इन शब्दों को जोड़ दिया है—*एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्म*[43]—यह आत्मा जो मेरे हृदय में है, वह ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त *एकमेवा द्वितीयम्*[44]—एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है, तथा *नेह नानास्ति किंचन मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति*[45]—यहाँ नाना नाम की कोई चीज़ नहीं हैं, यहाँ जिसे नानात्व दिखायी देता है, वह आवागमन से मुक्ति नहीं पा सकता, और इसी प्रकार 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्',[46] 'आत्मैवेदं सर्वं',[47] वाक्य तत्त्वतः आत्मा और ब्रह्म की एकता स्थापित करते हैं और अधिक खुले शब्दों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में प्रथम परिगणित ***ईशावास्योपनिषद्*** में सत्यधर्मा साधक सत्य का दर्शन करके ब्रह्मानन्द में विभोर होकर बोल पड़ता है—*योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि*[48]—अर्थात् वह पुरुष जो कुछ है, वही मैं हूँ। अब आइए उपनिषदों के उस महावाक्य पर विचार करें, जिसे लेकर वेदान्त के भिन्न

मतों में पर्याप्त विवाद है। विस्तार-भय से यहाँ उनकी पूरी समीक्षा नहीं हो सकती, तथापि उस पर यहाँ जो विचार प्रस्तुत किये जाते हैं, उनसे उपनिषदों का तात्पर्य निकालने में सन्देह नहीं रह जाता। ***छान्दोग्य उपनिषद्*** में श्वेतकेतु के पिता ने उसे ब्रह्म का ज्ञान कराने के हेतु कई प्रकार से यह समझाकर कि—*स य एषोऽणि मैतदात्म्यमिदं सर्व तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो,*[49] अर्थात् यह जो कुछ है वह आत्मस्वरूपी तत्त्व है, यही सत्य है श्वेतकेतु! तुम वही हो, इसे बार-बार दोहराया है। इस तत्त्वमसि महावाक्य से जहाँ अद्वैतवादी ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन करते हैं, इस सीधे-सादे संस्कृत पद का कुछ लोग यह अर्थ लगाकर कि तुम उसके हो, वही नहीं हो, दूसरा वाद खड़ा करते हैं। परन्तु अन्य उपनिषदों में ही इस वाक्य का तात्पर्य बहुत स्पष्ट रीति से कर दिया गया है। उदाहरण के लिए ***कैवल्य उपनिषद***—में *यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनम् महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम् स त्वमेव त्वेमव तत्*[50] अर्थात् जो परं ब्रह्म, सर्वात्मा, विश्वमात्र का परम स्थान तथा सूक्ष्म मे भी सूक्ष्म और नित्य तत्त्व है, वह तुम हो और तुम ही वह हो; एवं ***मंडल ब्राह्मणोपनिषद्*** में इस उद्घोष के उपरान्त कि 'ब्रह्माहमस्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, यह वचन कि—*त्वमेवाहं न भेदोस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः*[51]—'तुम्हीं मैं हूँ, परमात्मा से भेद नहीं है', तत्त्वमसि महावाक्य का सम्पूर्ण खुलासा है।

मृत्यु

आत्मा और ब्रह्म के अभेद पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि मृत्यु क्या है। इस पर ***कठोपनिषद्*** कहती है :

न जायते म्रियते वा विपश्चि—
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[52]

यह मेधावी आत्मा न उत्पन्न होती हे, न मरती है; यह न तो किसी अन्य कारण से है और न स्वतः ही कुछ बन गयी है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है और शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरती। तो मृत्यु किसकी होती है, इस पर आत्मा को अविनाशी और अनुच्छित्ति—धर्मा बतलाकर ***बृहदारण्यक उपनिषद्*** में बतलाया गया है कि जरा और मृत्यु[53] शरीर की होती है और यही बात ***छान्दोग्योपनिषद्*** में इन शब्दों में निर्दिष्ट की गयी है—*जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति*[54] अर्थात् जीव से रहित होकर यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता।

उपनिषदों के अनुसार जो नित्य-तत्त्व पिण्ड में, वही ब्रह्माण्ड में, एक रस विद्यमान है; उसकी अतर्क्य माया से विमोहित जीव अपने को शरीरी और संसारी मानकर शुभाशुभ कर्मो को भोगता हुआ उनके फलों को भोगने के लिए संसार-रूपी ब्रह्मचक्र में आवागमन करता रहता है और जब उपनिषदों में निर्दिष्ट उपासना और योग-साधन से उसे ब्रह्मात्मैक्य अर्थात् अपने स्वरूप का अनुभवात्मक ज्ञान हो जाता है, तब उसे मुक्ति मिल जाती है। बिना इस ज्ञान के इस संसार-चक्र से कदापि छुटकारा नहीं हो सकता। ***श्वेताश्वतर उपनिषद*** का कहना है—*नान्यः पंथा विद्यतेऽनाय*[55]—इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है और इस सिद्धान्त का अकाट्य बतलाने के लिए

नहीं कहा गया है कि जिस समय लोग चमड़े के समान आकाश को लपेट लेंगे, तभी परमात्मा के ज्ञान के बिना भी वे दुःख से छुटकारा पा सकेंगे। उपनिषदों का कहना है कि उक्त ज्ञान जिसको हो जाता है, वह ब्रह्म हो जाता है—*स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति*[56] जो उस परम् ब्रह्म को जानता है, परम ब्रह्म ही हो जाता है। उस स्थिति में वह अपने में सब भूतों को और सब भूतों में अपने को देखता है; उसके ईर्ष्या-द्वेष, शोक-मोह छूट जाते;[57] हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ टूट जातीं, सभी संशय मिट जाते, और शुभ-अशुभ समस्त कर्मो के भले-बुरे फलों से मुक्त होकर[58], जिस प्रकार इधर-उधर बहकर नदियाँ समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, उसी तरह नामरूप से विमुक्त होकर ज्ञानी परात्पर पुरुष में एकाकार[59] हो जाता है।

नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः।

('संस्कृति' : डॉ. आदित्यनाथ झा अभिनन्दन ग्रन्थ)

संदर्भ :

1. श्रीमद्भगवद्गीता 16.8
2. मुंडक उपनिषद् 2.1.2.1.6
3. ऋग्वेद 1.164.46
4. गीता 13.4
5. ईशावास्योपनिषद् 15
6. श्वेताश्वतरोपनिषद्
7. वही 6.1.1.3
8. वही 4.1.0
9. छान्दोग्य उपनिषद् 6.2
10. तैत्तिरीय उपनिषद् 3.1
11. मुंडक उपनिषद् 1.1.5-6
12. वही 2.1.3
13. वही 2.1.4
14. छान्दोग्य उपनिषद् 6.3-4
15. तैत्तिरीयोपनिषद् 2.1
16. गर्भोपनिषद्
17. प्रश्नोपनिषद् 4.8
18. वृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.5
19. श्वेताश्वतर उपनिषद् 4.5
20. मुंडक उप. 1.1.7
21. कठ उप. 1.2.9
22. मुंडक उप. 1.1.4.5
23. छान्दोग्य उप. 6.1.4
24. छान्दोग्य उप. 6.1.4, मुंडक उप. 3.2.8
25. तैत्तिरीय उप. 2.1.1, 3.4.1
26. ईशावास्य उप. 8, कठ उप. 1.3.15, 1.3.10-11
27. कठ उप. 1.2.14
28. मुंडक उप. 1.1.6, 2.1.2
29. श्वेताश्वतर उप. 6, 19
30. केन उप. 1.1.2-3
31. वृह. उप. 3.8.8, 2.4.12 और 3.9.26
32. श्वेताश्वतर उप. 4.18
33. मैत्रायणी उप. 5.7
34. मैत्रायणी उप. 5.8
35. श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.3.11, 3.14, 3.16
36. ईशावास्योपनिषद् 5
37. मुंडक उप. 3.1.7
38. श्वेताश्वतर उप. 3.19
39. वृह. उप. 2.3.1, मैत्रायणी उप. 5.3
40. तैत्ति.उप. 2.6.1
41. छा. उप. 6.3.2-3
42. वृह. उप. 1.4.7. तथा कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् 4.16

43. छां. उप. 3.14.4
44. छा. उप. 6.2.1
45. कठ 2.1.10-11, वृह. उप. 4.4.19
46. मुं. उप. 2.2.11
47. छां. उप. 7.15.2
48. ईशावास्योपनिषद् 16
49. छां. उप. 6.1.4
50. कैवल्योपनिषद् 1.16
51. मंडल ब्राह्मणोपनिषद् 3.2
52. कठ उप. 1.2-18
53. वृ. उप. 4.5.14
54. छां. उप. 6.11.3
55. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3.8.6.20
56. मुंडक उप. 3.2.9., तै. उप. 2.1.1.
57. ईशावास्योपनिषद् 6.7
58. मुंडकोपनिषद् 2-2.8
59. वही 3.2.8

—

भारतीय संस्कृति में नर और नारी की मौलिक एकता

दृश्यमान जगत् में सर्वत्र भेद, नानात्व और वैषम्य दृष्टिगोचर होते हैं। नानात्व उसका प्रधान लक्षण है। जगत विभक्त है और विनाशमान है, यह प्रत्यक्ष है। इस बाह्य रूप को परम सत्य मानने के अतिरिक्त अनीश्वरवादी को और कुछ नहीं दिखायी देता और वह बड़े गर्व के साथ उद्‌घोष करता है :

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।

भगवद्‌गीता 16.8

किन्तु उसकी इस कामोपहत बुद्धि की निःसारता की प्रत्यक्षानुभूति करके जिन तत्त्वदर्शियों ने विभक्त में अविभक्त को, विनाशमान में अविनाशी को, आदि में अनादि को, व्यक्त में अव्यक्त को तथा नानात्व में एकत्व 'एकमेवाद्वितीयम' को देखा और उसका साक्षात्कार किया है, उनके अध्यात्मज्ञान से परिपुष्ट मंतव्यों ही पर विचार करना है। उनका प्रतिपादन है कि इस दृश्यमान जगत् के परे कोई अदृश्य, इन्द्रियातीत, अगोचर शक्ति अवश्य है, जो सृष्टि, स्थिति और संहारकारिणी है तथा ब्रह्मांड के समस्त पदार्थों को नियमबद्ध रखती है। संसार के सभी मत-मतान्तर, ऋषि, मुनि और पीर, पैगम्बर किसी-न-किसी रूप में इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। वे देश, काल और भाषा-वैभिन्य इत्यादि कारणों से उसी सत्य को विभिन्न निर्देशों से अभिहित करते आ रहे हैं। इस परम तथ्य को श्रुति ने गागर में सागर की भाँति–*एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति* (ऋ. 1.164.46) मंत्र में भर दिया है।

यह मान लेने पर कि सृष्टि के मूल तत्त्व में एकत्व हैं, यह प्रश्न सहज ही उठता है कि नर और नारी की मौलिक एकता भी सम्भव है अथवा नहीं। दोनों की बाह्य तथा प्राकृतिक रचना और आकृति इत्यादि के भेद स्पष्ट ही हैं। यह भेद सृष्टि-विधान कृत हैं और अमिट भी हैं। किन्तु इस विभिन्नता के मूल में ऐक्य भी निहित है और यही संशयरहित तथ्य है, जो भारतीय संस्कृति की मुख्य मान्यता है। जब हम जड़ चेतनात्मक सृष्टि पर दृष्टिपात करते हैं, तब उसमें चेतनात्मक प्राणियों की श्रेष्ठता प्रत्यक्ष देखते हैं तथा उनमें भी मानव की विशेषता प्रत्यक्ष करते हैं। चैतन्य प्राणियों में मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार उसकी सदसद्विवेचिनी बुद्धि है, जिसके द्वारा वह धर्माधर्म अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करता है। यह बुद्धि नर और नारी में समान रूप से विद्यमान है। अन्य जीवों से मानव का भेद दिखलाने ही के लिए कहा गया है कि :

आहार निद्रा भयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिकोविशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः।।[1]

ज्ञान अथवा धर्म को मनुष्य से पृथक् कर दिया जाय तो आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि प्राकृतिक धर्मो की सामान्यता के कारण पशु योनि और मनुष्य योनि में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। इतर प्राणियों से मानव जाति को विशिष्टता देने वाला ज्ञान अथवा धर्माधर्म निर्णायिका बुद्धि नर और नारी में एक समान सन्निहित है। यह दोनों के मौलिक ऐक्य का ही प्रतिपादक है। इस सिद्धान्त के स्थिर हो जाने पर यह समझना कठिन नहीं कि समाज में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का क्या स्थान स्थिर होना चाहिए। इस पर विचारपूर्वक मीमांसा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न समाजों में स्त्री-पुरुष विषयक ऊँच-नीच, उत्तम-मध्यम विचारात्मक प्रवृत्तियाँ, जो सामाजिक व्यवहार का आधार बनी हुई है, दूषित एवं निराधार हैं।

अस्तु, देखना यह है कि नर-नारी की इस सामान्य एकता के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में तद्विषयक कौन-सी धारणाएँ अथवा मान्यताएँ ग्राह्य हुई हैं? यदि इन मान्यताओं का कोई स्थिर रूप होगा, तो संस्कृति के इतिहास में नारी के स्थान का निरूपण मिलना चाहिए। परमेश्वर की इस अद्‌भुत सृष्टि में मानव की सर्वश्रेष्ठता बतलाते हुए ***महाभारत*** के समस्त ज्ञान-विज्ञान का नवनीत महर्षि व्यास ने अपने इस वचन में उड़ेल दिया है:

गुह्यं ब्रह्मतदिदंब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतर हि किंचित्।।

जो गुह्य तत्त्व ज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्मज्ञान के समान सर्वोपरि और सर्वव्यापक अनुभव है, वह मैं तुमसे कहता हूँ, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। ***शतपथ ब्राह्मण*** (4.3) कहता है—*पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम्* अर्थात् पुरुष प्रजापति के अत्यन्त निकट है। इसी ब्राह्मण का मंत्र (6.2.1.23) *पुरुषः प्रजापतिः*—पुरुष और प्रजापति का अभेद बतला रहा है। इसमें तिल भर भी संशय नहीं कि पुरुष में स्त्री का भी समावेश है।

इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए सृष्टि क्रम का यत्किंचित् विवेचन आवश्यक है। सृष्टि सम्बन्धी समस्या अति प्राचीन तथा मानवी बुद्धि को चक्कर में डालने वाली है। पहले बीज हुआ अथवा वृक्ष, यह प्रश्न पुरातन काल से समाधान माँगता आ रहा है। प्रत्यक्ष अनुभव बतलाता है कि बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्ष से बीज। बुद्धि यह निश्चय करती है कि विशाल वट-वृक्ष सूक्ष्म रूप से बीज में वर्तमान रहता है तथा बीज का ही विकसित रूप है। परन्तु बीज आया कहाँ से और कब, इसका निर्णयात्मक समाधान अत्यन्त दुरूह है। इसी प्रकार संसार रूपी अश्वत्थ की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इसका भी उत्तर उतना ही दुःसाध्य है। अन्त में निश्चय यही करना पड़ता है कि बीज और वृक्ष की भाँति यह सृष्टिप्रवाह भी अनादि है। सृष्टि उभयात्मक अथवा जड़ चेतनात्मक है। दूसरे शब्दों में वह प्रकृति पुरुषात्मक है। प्रकृति जड़ और पुरुष चेतनामय है, परन्तु दोनों अनादि। सांख्य दर्शन के इस अकाट्य सिद्धान्त को भगवद्‌गीता में भी स्वीकार किया गया है कि प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं और समस्त विकार एवं सत्त्व, रजस और तमस इत्यादि गुण प्रकृति के धर्म हैं।[2]

इस प्रकार देखते हैं कि शास्त्रीय मत सृष्टिप्रवाह को शाश्वत तथा अनादि मानता है। यदि ऐसा है तो उसके किसी स्रष्टा का अस्तित्व कहाँ? इस प्रश्न का समाधान भी शास्त्रों ही में देखना है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि बीज ही वृक्ष रूप में विकसित होता है, वृक्ष स्वरूपतः बीज से पृथक नहीं है, वरन् उसका विवर्त है। इसी प्रकार सृष्टि के मूल में अव्यक्त प्रकृति बीज रूप वर्तमान रहती है और उसी से यह व्यक्त गोचर सृष्टि विकसित होती है। परन्तु सृष्टि में जड़ तथा चेतन दोनों पाये जाते हैं। अतएव, अचेतन अव्यक्त प्रकृति में संचार अथवा गति प्रदान करने के लिए चिद्रूप आत्मा का अस्तित्व मानना पड़ता है। चिदात्मा और जड़ अव्यक्त प्रकृति के संयोग से सृष्टि का विकास आरम्भ होता है। यह अव्यक्त प्रकृति सूक्ष्म रूप से महत्तत्त्व में सन्निहित रहती है। उससे परे परम चैतन्यमय तत्त्व है, जिसे पुरुषोत्तम कहते हैं। अव्यत प्रकृति उसी का अभिन्न अंग है और उसी के समान अनादि है, यद्यपि उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। अपनी अचिन्त्य, अवर्णनीय, अलौकिक दैवी शक्ति से, जिसे योग अथवा माया भी कहते हैं, जब पुरुषोत्तम में इच्छा होती है, वह अव्यक्त से व्यक्त सृष्टि की रचना करता है। यह क्रम सांत नहीं, अनंत अनादि और शाश्वत है। किन्तु इसका एक नियम क्रम है, आरम्भ, मध्य और विलय। व्यक्त सृष्टि ही का अव्यक्त प्रकृति में लय होता है, जिसे महाप्रलय कहते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त से व्यक्त होते हैं, उनकी रात्रि आने पर सब उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार यह भूत समूह अथवा सारी सृष्टि रात के आगमन काल में बारम्बार लीन होती हुई दिन के आगमन पर बरबस उदय होती रहती है।[3] इस विषय में प्रकृति सर्वथा अस्वतंत्र है। इसीलिए परमात्मा को सृष्टि का कर्ता कहते हैं। ब्रह्मसूत्रों में भी 'जन्माद्यस्य यतः' सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार ब्रह्म से बतलाया गया है।[4] उपनिषदों ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। परन्तु इससे अधिक सृष्टिविषयक गूढ़ विषय का विवेचन प्रकृत विषय के लिए आवश्यक है। विवेच्य विषय का आधार समझने के लिए इतनी मीमांसा अलम् है।

अस्तु, सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर की दैवी इच्छा से प्रथम ब्रह्म अथवा प्रजापति की उत्पत्ति होती है, जो सृष्टि क्रम को अग्रसर करते हैं। इस क्रम में नर और नारी की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है। देखना चाहिए कि क्या इस कल्पना में किसी मौलिक भेद अथवा ऐक्य का प्रतिपादन मिलता है? इस सम्बन्ध में एक वर्णन ***सुबालोपनिषद***[5] में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि प्रजापति ने आत्मस्वरूप के आधे अंश से पुरुष और आधे से स्त्री को उत्पन्न किया। ***देवी भागवत*** में कहा गया है स्वेच्छा-स्तोत्र प्रजापति एक रूप से दो रूप हुआ। वाम भाग से स्त्री रूप तथा दाहिने से पुरुष हुआ।[6] इसी पुराण में एक अन्य स्थान पर यह वचन मिलता है कि सृष्टि के विधान में आत्मा अपने योगबल से दो रूप हो गया। दाहिने आधे से वह पुरुष बना तथा बायें आधे से प्रकृति अथवा स्त्री कहलाया।[7] ***मनुस्मृति*** में आरम्भ ही में सृष्टिक्रम का ज्ञान-विज्ञान सहित विवेचन अधिक विस्तार के साथ हुआ है। वहाँ यह वर्णन है कि ब्रह्म ने अपने देह के दो भाग किये। आधे से वे पुरुष हुए और आधे से स्त्री, जिसमें उन्होंने विराज को उत्पन्न किया।[8] मनु के समान ही विचार ***बृहदारण्यक उपनिषद्*** में भी मिलते हैं।[9] यहाँ यह कथन असंगत न होगा कि एक ही आत्मतत्त्व के वामार्ध से उत्पन्न होने के कारण धर्मशास्त्रों में स्त्री को वामांगना अथवा पुरुष की अर्धांगिनी कहते हैं और समस्त धार्मिक यज्ञादिक कार्यों में पति और पत्नी के सम्मिलित होकर उनके सम्पादन का विधान है। वामार्ध से उत्पन्न होने ही से इन कार्यों

के समय पत्नी के पति की बायीं ओर आसन ग्रहण करने की विधि भी है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार समस्त वेद और शास्त्रों में पुरुष और स्त्री की एकरूपता मानी गयी है। उसका कहना है कि वेदों और शास्त्रों में दारा और पुरुष का अनन्य भेद है।[10] उत्कृष्ट लौकिक साहित्य में भी नर और नारी की समानता की प्रतिष्ठा की गयी है। इस साहित्य के प्रतिनिधि महाकवि कालिदास की उक्ति है कि ब्रह्म के आत्मस्वरूप से स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति हुई। उन्होंने अपनी मूर्ति के भेद करके सृष्टि की इच्छा से नर और नारी को उत्पन्न किया।[11] इस प्रकार देखते हैं कि समस्त भारतीय संस्कृति में—क्या धार्मिक और क्या लौकिक, सभी उच्च कोटि के साहित्य में—सर्वत्र स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति की कल्पना एक ही आत्मतत्त्व से की गयी है। यह सृष्टि एक साथ तथा तुल्य अंश से हुई है। इससे केवल एक ही निष्कर्ष निकलता है कि स्वरूपतः स्त्री का स्थान पुरुष से न ऊँचा है और न नीचा, वरन् दोनों समान और तुल्य महत्त्व और श्रेणी के हैं।

पुरुष और स्त्री की मौलिक एकता स्थिर हो जाने पर यह देखने की आवश्यकता है कि इससे किन निष्कर्षो पर पहुँचते हैं। इस अनन्य आधार का सहज और सर्वप्रथम परिणाम सूचित करता है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध में मूलतः किसी प्रकार के संघर्ष के लिए कोई कारण नहीं है। यह सम्बन्ध विघटनात्मक नहीं, एकीकरण का है। दोनों में न केवल वर्ग-भेद-जन्य विरोध के लिए अवसर नहीं है, वरन् सहयोग उसका नितान्त अभेद्य अंग है। रथ के चक्रों की भाँति दोनों के सम्मिलित उद्योग ही से संसार-रथ सुचारु रूप से चल सकता है। उन भौतिकवादियों की बात छोड़िये, जिन्हें जीव-जीव में सर्वत्र संघर्ष ही दृष्टि-गोचर होता है; संग्रह उन तत्त्वदर्शियों के विचारों का करना है, जिन्होंने अपने विमल सात्विक ज्ञान से सब भूतों में एक अव्यय भाव को विभक्त में अविभक्त का दर्शन करके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अमृत वाणी सुनायी है।[12] जिस संस्कृति ने मनुष्यों को देवताओं के साथ सहयोग की शिक्षा दी है, उसमें मनुष्य-मनुष्य में अथवा नर और नारी में इस आचार की आवश्यकता का कहना ही क्या। हमारे यहाँ बतलाया गया है कि सृष्टि के आदि में प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजा अर्थात् स्त्री और पुरुष को उत्पन्न करके उन्हें आदेश किया कि यज्ञ किया करो, यह तुम्हारी कामधेनु है। यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते रहो और देवगण तुम्हारे भावों का आदर करें। इस प्रकार परस्पर सन्तोष और प्रसन्नता का वातावरण बना कर परम श्रेयस् की प्राप्ति करो।[13]

स्त्री और पुरुष की मौलिक एकता और उससे निष्पन्न सहकारिता पर विचार करने के पश्चात् दोनों के नैसर्गिक भेद का विवेचन करना है। यह भेद आध्यात्मिक नहीं वरन् प्राकृतिक है, जिसके कारण दोनों के कार्यकलाप में अन्तर भी स्वाभाविक है। नर और नारी की शारीरिक रचना, आकृति और प्रधानतया यौन-भेद ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उन्हें व्यवहार जगत् में एक दूसरे से पृथक् अथवा विशिष्ट करती हैं। इससे उनके कार्य-क्षेत्रों में भी विभिन्नता अपरिहार्य है। इस अनिवार्य हेतु से स्त्री और पुरुष को, जो पृथक कर्म प्राप्त होते हैं, वे उनके 'स्वधर्म' हैं। अपने-अपने धर्म अथवा कर्त्तव्यों के सुचारु रूप से पूरा करने में ही प्रत्येक की इति कर्त्तव्यता है और इसीलिए नीति और धर्मशास्त्रों में नर और नारी के सामान्य धर्मों के अतिरिक्त उनके पृथक्-पृथक् कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। स्वधर्म पर न चलने से पतन भी अवश्यम्भावी है और स्वभाव-सिद्ध कर्म करने के लिए मनुष्य बाध्य भी होता है। प्रकृति की उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। इस तथ्य को दृष्टि में रख कर स्वधर्म से हटने के इच्छुक अर्जुन को श्रीकृष्ण ने फटकारते हुए कहा था कि प्रकृति तुझे प्रवृत्त करके रहेगी।[14]

वस्तुतः स्वधर्म निष्ठा ही भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। पुरुष हो अथवा स्त्री, स्वधर्म का पालन ही उसका स्वाधिकार है। किन्तु सैकड़ों वर्षों से अपनी संस्कृति के सार तत्त्वों और सनातन सिद्धान्तों के क्रमागत ह्रास के कारण यथा बाद को पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से स्वधर्म निष्ठा की ओर दुर्लक्ष्य और पाश्चात्य संस्कृति की अधिकारानुसारिणी प्रवृत्ति का प्रवाह हमारे समाज में घुस गया है। पुरातन मान्यताओं के स्थान में अवांछनीय प्रवृत्तियों का उदय हुआ है। कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि अन्धविश्वासों और समाज को जर्जर करने वाली रूढ़ियों की लकीर पीटते जाना चाहिए। किन्तु अपनी संस्कृति की आधारभूत परम्पराओं को जड़ से उखाड़ फेंकने से भारत आत्मा की रक्षा नहीं कर सकता। अधिकाराग्रही बुद्धि का ही दुष्परिणाम बहुत अंशों में उस अनुशासनहीनता में मिलेगा, जो विचारवानों की चिन्ता का कारण हो रही है। स्पष्ट है कि अधिकार का आग्रह विघटन और संघर्ष का जन्मदाता है। इसी भ्रममूलक दृष्टिकोण के कारण यह भ्रान्त धारणा उत्पन्न हुई है कि भारतीय संस्कृति में नारी उपेक्षित है और पुरुष के तारतम्य में उसका कोई स्थान नहीं है। बात-बात में स्त्री अपने अधिकारों की अकड़ दिखाने में गर्वानुभूति, करती है मानो नर और नारी के दो पृथक् वर्ग हैं, जिनके हित परस्पर विरोधी हैं और उनमें वैषम्य और संघर्ष अनिवार्य हैं। यह समझ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए घातक है। अस्तु, भारतीय संस्कृति के मौलिक आधारों का अध्ययन, उसमें स्त्री और पुरुष की मौलिक एकता और उससे निष्पन्न एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों की मीमांसा आवश्यक है।

(सरस्वती, सितम्बर 1961)

संदर्भ

1. महाभारत, शान्तिपर्व 294.29
2. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
   विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।
   गीता 13-19
3. अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
   रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।
   भूतग्राम स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
   रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे।।
   भगवद्गीता 8-18-19
4. ब्रह्मसूत्र 1-1-2
5. सुबालोपनिषद्, द्वितीय खण्ड
6. स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव सः।
   स्त्री-रूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः।।
   देवीभागवत 2-27

7. योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पूमांश्च दक्षिणार्धागो वामार्धा प्रकृतिः स्मृता।।

देवीभागवत 2-27

8. द्विधा कृत्वाऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।।

मनुस्मृति 1-32

9. स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्
स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स
इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्.........

बृहदारण्यक उप. 1.4.3

10. शास्त्रप्रयोगाद्विविधाच्च वेदादनन्यरूपाः पुरुषस्य दाराः

वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधाकांड 24-38।

11. स्त्रीपुमांसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ।।

कुमारसंभव 5-7

12. सर्वभूतेषु येनैकं भावभव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विक्।।

गीता 18-20

13. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमावाप्स्यथ।।

गीता 3-10-11

14. यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।

गीता 18-59

स्त्री-धन और उत्तराधिकार

सभी प्रकार की सम्पत्ति के उपार्जन, उसके स्वामित्व एवं उत्तराधिकार का अधिकार पुरुष के समान स्त्री को भी प्राप्त हो, यह समाज की आदर्श स्थिति माननी चाहिए। परिस्थितियाँ अथवा समाज की तात्कालिक अवस्था के कारण उसमें बहुत कुछ न्यूनाधिक्य आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो सकता है, परन्तु उस संस्कृति को निम्नतम स्तर की समझना चाहिए; जिसमें नारी के लिए इस प्रकार के विधान का सर्वथा अभाव हो।

भारतीय संस्कृति के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि उसके वैदिक काल के आरम्भ में पुरुष और स्त्री का विभेद सम्पत्ति के विषय में नहीं था, कम-से-कम पति और पत्नी के सम्बन्ध में। यह एक ठोस तथ्य था, जिसकी ओर आपस्तम्ब धर्मसूत्र के इस निर्देश में स्पष्ट संकेत है कि विवाह के समय से पति और पत्नी सम्मिलित रूप से धर्म-कार्य किया करें, सम्मिलित रूप से इन कार्यों का फल प्राप्त करें और पारिवारिक सम्पत्ति पर दोनों का अधिकार हो तथा आवश्यकता पड़ जाने पर पति की अनुपस्थिति में पत्नी उसमें से दान भी कर सकती है।[1] इतना उदार तथा व्यापक अधिकार स्त्री को किसी संस्कृति में प्राप्त था, इतिहास इसका पता नहीं देता। सम्मिलित सम्पत्ति में पति के समान पत्नी का यह तुल्याधिकार वैदिक नारी के स्वतंत्र वातावरण के सर्वथा अनुरूप ही था।

परन्तु यह ज्ञात नहीं कि पति के मरने पर उस सम्पत्ति का उत्तराधिकार स्त्री को प्राप्त था अथवा नहीं। सम्भवतः श्री पी.वी. काणे का यह अनुमान संयुक्तिक हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में पति की उत्तराधिकारिणी उसकी पत्नी नहीं हुआ करती थी, जिसके लिए उन्होंने कालिदास के *शकुंतला* नाटक में उल्लिखित पुत्रहीन सेठ के निधन पर उसकी स्त्री को दाय न देने के निर्णय को आधार माना है।[2] कालिदास का वर्णन यों है कि सार्थवाह धनमित्र सेठी के सामुद्रिक दुर्घटना में निःसंतान मर जाने पर उसकी विशाल सम्पत्ति के उनकी सेठानी को जाने के स्थान पर दुष्यन्त के अमात्य ने उसे राजकोश में मिला लेने की राजाज्ञा माँगी थी। दुष्यन्त की इस आज्ञा में कि धनमित्र में विधवाओं में कोई गर्भिणी है, इसका पता लगाया जाये[3] पत्नी के उत्तराधिकार के अभाव की सूचना मिलती है। जान पड़ता है कि *याज्ञवल्क्य स्मृति* की भारतीय व्यवहार शास्त्र में प्रधानता प्रतिष्ठित होने के पूर्व एक सुदीर्घ काल तक स्त्री के उत्तराधिकार की बहुधा यही स्थिति थी, क्योंकि यद्यपि गौतम ने पुत्रहीन की सम्पत्ति पर उसकी विधवा का अधिकार स्वीकार किया है,[4] तथापि आपस्तम्ब, मनु और नारद ने ऐसा माना है, और यह उल्लेख योग्य है कि ई.पू. तीसरी शती के कौटिल्य का भी यही मत है।

दायभाग और मिताक्षरा

भारत के 1947 में स्वतंत्र होने के पूर्व के तथा पश्चात् के दशक में भारतीय नारी के उत्तराधिकार के विषय में दो-तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, जिनसे उसका यह अधिकार-क्षेत्र विस्तृत हो गया है। किन्तु उसके पूर्व भी प्रायः दो सहस्र वर्षो से भारतीय नारी का साम्पत्तिक अधिकार उदार रहा है। जहाँ अधिक प्राचीन काल की अपेक्षा उसके वेदाध्ययन तथा स्वतंत्र रूप से धार्मिक कार्यो के सम्पादन में अपरकाल में संकीर्णता आती गयी, इस द्विसहस्राब्दि में उसके साम्पत्तिक अधिकारों में वृद्धि आयी। हिन्दू व्यवहार शास्त्र के दो मुख्य संस्थानों—जीमूतवाहन के दायभाग और विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा ने इस व्यवहार-विकास में प्रमुख कार्य किये। *याज्ञवल्क्य स्मृति*, जो मिताक्षरा का आधार धर्मशास्त्र है, स्त्री की सम्पत्ति के विषय में उदार धारणाओं की प्रतिष्ठापिका है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि दायभाग की मान्यता बंग देश में तथा मिताक्षरा की शेष भारत में निर्बाध चली आ रही है और उपयुक्त वैधानिक परिवर्तनों के साथ आज भी समाज तथा न्यायालयों में बरती जा रही है।

सम्मिलित परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति और उसमें उत्तराधिकार की व्यवस्था मिताक्षरा धर्मशास्त्र की अपनी विशेषता है, जो दायभाग में विहित नहीं है। मिताक्षरा के अनुसार पुत्र और पौत्र को पैतृक सम्पत्ति में जन्मतः और सदस्यों के समान अधिकार प्राप्त हो जाता है और इस प्रथा में केवल कतिपय पुरुष ही परिगणित होते हैं, जिससे उक्त वैधानिक परिवर्तन के पूर्व की स्थिति में किसी सदस्य के मर जाने पर उसका स्वत्व परिवार के शेष जीवित पुरुष सदस्यों को प्राप्त होता है और उसकी उत्तराधिकारिणी मृत की माता, पुत्री अथवा अन्य कोई स्त्री नहीं होती। परन्तु दायभाग को पिता की सम्पत्ति में पुत्र को जन्मना स्वत्व प्राप्ति स्वीकार नहीं है और न पिता अथवा पितामह के जीवनपर्यन्त पुत्र उस सम्पत्ति का विभाजन करा सकता है। पिता के अधिकार की समाप्ति पर जो उनके निधन, संन्यस्त अथवा पतित हो जाने पर निर्भर है, उसके पुत्र उसका विभाजन कर सकते हैं, अथवा स्वेच्छा से पिता स्वयं कर सकता है। दायभाग के अनुसार पति के निधन पर उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसकी पत्नी को प्राप्त हो जाता है, चाहे वह अपने भाइयों के सम्मिलित ही क्यों न मरा हो। मिताक्षरा के अनुसार यद्यपि सम्मिलित सम्पत्ति का दाय पत्नी को प्राप्त नहीं होता, पति की निजी सम्पत्ति उसके पुत्रहीन मरने पर उसकी पत्नी को मिलती है, यहाँ तक कि पुरुष दायादों की अपेक्षा स्त्री दायादों की प्राथमिकता है; क्योंकि पत्नी, पुत्री, माता और मातामही इत्यादि दायादों के क्रमशः अभाव में ही मृत के पिता, भाई इत्यादि पुरुष दायादों को उसका धन मिल सकता है। दौहित्र अथवा पुत्री का पुत्र मात्र इसका अपवाद है, जो पत्नी और पुत्र के ठीक बाद ही आता है, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि वह पुत्र की श्रेणी में आता है और उसका सम्बन्ध पुत्री अर्थात् नारी के द्वारा ही उत्पन्न होता है। दायभाग में विधवा पुत्री, माता, मातामही, प्रमातामही उत्तराधिकारिणी मानी गयी हैं। इनके सिवाय अन्य किसी स्त्री का उत्तराधिकार उसे मान्य नहीं है।

स्त्री-धन

उपर्युक्त नियमों के अनुसार किसी नारी को दाय-स्वरूप जो धन उपलब्ध होता है, उसमें उसका सर्वाधिकार नहीं होता। यावज्जीवन उसका वह उपभोग कर सकती है, किन्तु उसे न नष्ट कर सकती है और न बेच सकती

है। अलबत्ता, निर्दिष्ट आवश्यकताओं के लिए उसे बंधेज रख सकती अथवा विक्रय और अंशतः दान भी कर सकती है। परन्तु इस प्रकार की सम्पत्ति के अतिरिक्त भारतीय नारी को चाहे वह विभाजित परिवार की हो, अथवा अविभाजित, एक प्रकार की सम्पत्ति रखने का अधिकार है, जिसकी शास्त्रानुसार पारिभाषिक संज्ञा स्त्री-धन है। इस पर स्त्री का सम्पूर्ण अधिकार है, जिसे वह न केवल उपयोग में ला सकती है, वरन् यदृच्छया उसे बंधेज, विक्रय और प्रदान इत्यादि से पृथक भी कर सकती है। उसके इस अधिकार में उसका पति अथवा अन्य कोई सम्बन्धी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता।[5] स्त्री-धन का उत्तराधिकार भी पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकार से विभिन्न नियमों पर आधारित है, जिसमें पुरुष की अपेक्षा नारी दायाद को प्राथमिकता प्राप्त है। कौन-कौन-सा तथा किस उद्गम से सम्प्राप्त धन 'स्त्री-धन' कहलाता है, इसके विषय में स्मृतिकारों, टीकाकारों और दायभाग एवं मिताक्षरा व्यवहार शास्त्र की विभिन्न शाखाओं में थोड़ा-बहुत अन्तर है। परन्तु प्रस्तुत विषय के अध्ययन के लिए हमें इस विवरण के झमेले में पड़ना अनावश्यक है। हम कह चुके हैं कि स्त्री-धन की उत्तराधिकारिणी प्रथमतः क्रमशः कुमारी कन्या, विवाहित किन्तु अँसम्पन्ना पुत्री, सम्पन्ना विवाहिता पुत्री और पुत्री की पुत्री को प्राप्त होता है और ऐसे दायादों के अभाव में ही वह क्रमशः दौहित्र पुत्र और पौत्र एवं पति और उसके दायादों को जाता है। स्त्री-धन की याज्ञवल्क्य के मतानुसार यह विशेषता उल्लेखनीय है कि उस पर से उसके स्वत्व का अपहरण विरुद्ध अधिकार (Adverse possession) से नहीं हो सकता।[6]

यह प्रायः निश्चित है कि सम्पत्ति विषयक स्त्री के अधिकारों में पूर्वापेक्षा पंचाद्वर्ती में उदार विकास हुए हैं; क्योंकि यद्यपि आपस्तम्ब के वचन से ज्ञात होता है, सम्पत्ति पर स्त्री का पुरुष के समान अधिकार अत्यन्त प्राचीन काल में पाया जाता है; तथापि, वह पुरुष की उत्तराधिकारिणी कहीं स्पष्ट रूप से नहीं मानी गयी। अपितु ऋग्वेद से हमें पता मिलता है कि पिता के धन का दाय पुत्र ही को मिलता था, उसके रहते उसमें पुत्री को कोई अंश नहीं मिलता था।[7] कौटिल्य स्त्री-धन का उत्तराधिकार पुत्र और पुत्री को समान रूप से देता है।[8] उत्तर काल में पुत्रहीन पति की प्रथम उत्तराधिकारिणी उसकी पत्नी ही मानी गयी है। इस मत के प्रतिपादक प्रधानतः कात्यायन, विष्णु और याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ हैं। पत्नी के पश्चात् क्रमशः पुत्री, माता, मातामही के अभाव में ही मृत के पिता, भाई इत्यादि दायाद माने गये हैं। जबकि *ऋग्वेद* में सर्वस्व दाय पुत्र लेता है और उसकी बहिन उसमें भाग नहीं पाती, *मनुस्मृति* की व्यवस्था है कि अपनी बहिन के विवाहार्थ सब भाई अपने-अपने अंश का एक चतुर्थ दें और जो भाई ऐसा न करे, वह पतित है।[9] यह दायित्व भाइयों की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ दिया गया है, वरन् याज्ञवल्क्य 2.147 की टीका में मिताक्षरा ने स्पष्ट विधान कर दिया है कि सम्पत्ति का विभाजन करते समय भाइयों को एक चतुर्थ भाग बहिन के विवाह के निमित्त अलग कर देना चाहिए।

हिन्दू नारी के साम्पत्तिक एवं दाय सम्बन्धी अधिकारों की उत्तरोत्तर जिस प्रकार वृद्धि हुई है, उसे देखते हुए कह सकते हैं कि हमारे व्यवस्थापकों की दृष्टि न केवल अनुदार नहीं थी, वरन् नारी के प्रति उदार और प्रगतिशील रही है। इस औदार्य की प्रखरता इंग्लैंड के तत्सम्बन्धी विधान के उल्लेख से स्पष्ट झलकती है, जहाँ भारतीय नारी के स्त्री-धन के विषय में उसका पति किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता, अंग्रेज़ी क़ानून

में विवाहित स्त्री सम्पत्ति अधिनियम, 1882 (Married Women's Property Act, 1882) के पहले विवाह सम्बन्ध मात्र से पति को पत्नी के जीवन-पर्यन्त उस सम्पत्ति में निर्मुक्त (Free hold estate) प्राप्त हो जाता था, जो पत्नी को उत्तराधिकार में मिलता तथा आजीवन स्वत्व (Life estate) स्त्री के उस धन में मिलता, जो पत्नी को विवाह के समय अथवा वैवाहिक सम्बन्ध बने रहने के काल में प्राप्त होता एवं पत्नी की वैयक्तिक चल सम्पत्ति में पति को सब प्रकार के अधिकार प्राप्त थे।

(सरस्वती, अक्तूबर 1963)

संदर्भ :

1. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2-6-13-17-19
2. हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र वाल्य-2, भाग-1, पृष्ठ 582 : पी.वी. काणे।
3. शकुंतला नाटक, अंक 6
4. गौतम धर्मसूत्र
5. याज्ञवल्क्य स्मृति 2.147
6. याज्ञवल्क्य स्मृति 2.25
7. न जामये तान्वो रिक्थमरैक्। ऋग्वेद 3-31.2
8. अर्थशास्त्र 3.2
9. मनुस्मृति 9.118

श्री चैत्र रामनवमी

आज चैत्र शुक्ला नवमी का शुभ दिन है। आज का दिवस उतना ही महत्त्व का है, जितना भादों कृष्णाष्टमी की रजनी का। वहाँ घनावेष्टित भादों मास, यहाँ चैत की चटकीली चाँदनी; वहाँ कृष्ण पक्ष और यहाँ उजेला पाख; वहाँ यौवनगर्वा नीलवसना यमुना और यहाँ ओजस्विनी ब्रह्मचर्य-व्रता सरजू; वहाँ अर्धरात्रि, यहाँ मध्याह्न, वहाँ कारागार की परिस्थिति, यहाँ राजप्रासाद का जन्मोत्सव; वहाँ राजनैतिक युक्तियाँ और दाव-पेंच और यहाँ सीधा, सच्चा, अलभ्य और अपूर्व सत्याग्रह। दोनों में अपनी-अपनी विशेषता और दोनों पाप के संहारक हैं, दोनों हमारे श्रद्धास्पद गुरु और पूर्वज हैं, दोनों भारत माता के नेत्रों के तारे, प्राणों के प्यारे, हृदय के दुलारे, उसके अनमोल लाल हैं।

लेकिन, आज राम-जन्म का शुभ अवसर है। कहते हैं, लंका का प्रतापी राजा रावण अपने अत्याचारों से संसार को प्रपीड़ित और कम्पायमान कर रहा था। देव, द्विज, सन्त और महर्षियों को वह सदा सताता रहता था। पुलस्त मुनि का पौत्र और विश्वस्रवा का पुत्र, वह जन्म से ब्राह्मण था। गोत्र, वेद, शाखा, प्रवर और अल्लादि में कोई त्रुटि नहीं थी। लेकिन कर्म था नीचातिनीच चण्डाल का, राक्षस का, शैतान का। इसीलिए लोक उसके राज्य-शासन को राक्षसी शासन या शैतानी हुकूमत कहते थे।

अनुमान किया जाता है कि वह दया-शून्य रहा होगा, उसके विचार वाले लोग प्रजा के रक्त की कमाई से लम्बी-लम्बी तनख़्वाहें ले-ले कर चैन से कालयापन करते रहे होंगे; हिम ऋतु में मद्यपान, ग्रीष्म में शैल सेवन और वर्षा काल में नृत्यादि से अपना मनोरंजन करते रहे होंगे; देश का धन अनेक कर रूप में जोंक बन कर वे चूसते रहे होंगे। देश को उन्होंने निरस्त्र कर दिया होगा। पसीने का कमाया हुआ अन्न इधर-उधर भेज कर वे लोगों को सर्वथा निर्बल बना देते रहे होंगे। बलहीन प्रजा पर वे प्रहार भी करते रहे होंगे और रोने भी नहीं देते रहे होंगे। मुँह बन्द करने के क़ानून बनते रहे होंगे और क़ानून की अवहेलना करने वाले के लिए कठिन और सपरिश्रम कारागार, देश निकाला और एकान्तवास होता रहा होगा। कोड़े लगते रहे होंगे। कभी-कभी उन निहत्थों पर तोप के गोले भी चलते रहे होंगे। निरपराधी, स्त्री बच्चे सब पापियों के जुल्म के शिकार होते रहे होंगे। अन्त में न्याय का कौतुक दिखाने के लिए जाँच-पड़ताल भी होती रही होगी। लेकिन, वहाँ भी अपना ही पक्ष, प्रजा पर धनदण्ड, प्राणदण्ड, अप्रतिष्ठा, अपमान, अत्याचार, बेउनमानी, जुल्म, इंसाफ़ का खून और न्याय की डींग! 'जबरा मारे रोने न दे।' 'जादू वह जो रार पे चढ़ के बोले' इन्द्र का ऐरावत हरण हुआ, शेष से कन्या ली गयी, सनिश्चर देव नाबदान में बन्द हुए। रावण अहंकार में चूर रहने लगा। उसके अत्याचार का कोई ठिकाना नहीं रहा।

करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया।।
जेहि विधि होय धर्म निर्मूला। सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।।

उनके दुराचरणों से संसार व्याकुल हो गया। पृथ्वी काँप उठी। सब लोग मिलकर विष्णु भगवान की शरण में गये। वहाँ से अभय दान मिला। जिस दिन वह वचन पूर्ण हुआ था, वही शुभ अवसर आज आ गया है।

नवमी तिथि मधु मास पुनीता। शुक्ल पक्ष अभिजित हरि पीता।।
मध्य दिवस अति शीत न घामा। पावन काल लोक विश्रामा।।

दुर्भाग्य, दुराचार, अत्याचार, कादरता, फूट, कलह, देशद्रोह रूपी दनुज सेवा से हम मारे और सताये जा रहे हैं; त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। आज हमारा पाप और संताप हरने को भगवान आवेंगे और अवश्य आवेंगे। देखते-देखते रावण के इष्ट देव महादेव जी का धनुष टूटेगा, राम-स्वयंवर होगा, सौतेले भाइयों में मन्थरा द्वारा भेद उत्पन्न कराके राम को बनवास भी होगा। वन-वन भटकने ही से तो उनको आसुरी अत्याचारों का पूर्ण परिज्ञान होगा।

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया।।
जानत हहु का पूछहु स्वामी। समदर्शी तुम अन्तर्यामी।।
निशिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये।।

वन में सीता-हरण हो गया। हमारी सीता समुद्र पार फेंक दी गयीं। राम को अब अवश्य लड़ना पड़ेगा। रावण ने समझा कि राम का संगी अकेला उनका भाई लक्ष्मण है। लेकिन उसने ऐसा समझने में भूल की। राम के साथ में सत्य था। सत्य का भाई संसार मात्र, नहीं नहीं, सृष्टि मात्र है। बन्दर, भालू, गृद्ध, राक्षस, केवट, देवता और मनुष्य, सबने उनका साथ दिया। सत्य के बल से दो साधारण बन्दरों ने दम-की-दम में समुद्र पर पुल बाँध दिया। धन्य है सत्य की महिमा कि पत्थर पानी में तैरने लगे।

आज भी सत्याग्रह की वैसी ही लड़ाई ठनी है। जो निजी मामलों में एक दूसरे के खून के प्यासे थे, वे हिन्दू-मुसलमान परस्पर अभिन्न रूप से मिल गये हैं। बन्दरों की तरह चंचल विद्यार्थी भी इसमें हैं। दल में अधिकांश उन्हीं की संख्या है। भालुओं के सदृश फूले हुए सरकारी नौकर भी आ गये हैं। गृद्धों की तरह लोगों को लड़ा कर उनके मांस से तृप्त होने वाले वकील भी हैं। सुरसा पहले तो मार्ग रोकती है, लेकिन फिर हार कर, थक कर, आशीष देती है। 30 जून तक लड़ने को 1 करोड़ जन, ख़र्च के लिए 1 करोड़ धन, वस्त्र के लिए 20 लाख चरखे हो जायेंगे। सत्याग्रह की लड़ाई के लिए और चाहिए ही क्या? न हम रक्तपात करेंगे, न किसी को कष्ट पहुँचायेंगे। हमारा आत्मिक बल विपक्षी के तोप-तलवारों पर विजय प्राप्त करेगा। उनके अग्नि बाण को हम अपने वरुण बाण से शान्त कर देंगे। बिना लोहे के वे हमारा लोहा मान जायेंगे।

लेकिन, इस आत्मिक शक्ति के लिए हमको बहुत सुदृढ़ होना पड़ेगा। प्रहार करने से प्रहार सहने में अधिक बल की आवश्यकता है। हमको शीघ्र संयमी बनना पड़ेगा। कितना ही कोई बिगड़े, लेकिन हमको क्षोभ न हो। कितना ही कोई मारे, लेकिन हमको क्रोध न हो। कितना ही कोई पुचकारे, लेकिन हमको लोभ न हो। कितना ही कोई कूटनीति चले, लेकिन हममें फूट न हो। काम, क्रोध मद और लोभ पर हम विजय प्राप्त कर लेंगे,

तो हमारे लिए कठिनाई क्या रह जायेगी? परतन्त्रता की बेड़ियाँ अपने आप कट जायेंगी, टूट जायेंगी, पिस उठेंगी। संसार इसी धार्मिक मार्ग का अनुकरण करेगा।

अब समय थोड़ा है। सितम्बर के बाद ही अक्टूबर में विजयादशमी है। तब तक सब कुछ तैयार हो जाना चाहिए। हमें कमर कस कर इसी के लिए उद्यत हो जाना चाहिए। साठ वर्ष के बूढ़े, मालवान मन्त्री लार्ड रीडिंग महोदय बहुत चाहेंगे कि झगड़ा खत्म हो जाये लेकिन उनकी बात को मानने वाले कम निकलेंगे। न तो मदान्ध नौकरशाही की उनके साथ सहानुभूति होगी और न लंकाशायर और मैंचेस्टर के जुलाहे उनको दम लेने देंगे। सत्याग्रह का युद्ध होगा और आगामी विजयादशमी तक हमारी जीत होगी। जीत भी ऐसी कि संसार दांतो उँगली दबाये। संसार को आश्चर्य होगा, स्वयं भारत माता को आश्चर्य होगा।

कौशल्या पुनि-पुनि रघुवीरहि। चितवति कृपासिन्धु रणधीरहिं।।
हृदय विचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति. मारा।।
अति सुकुमार युगल मम बारे। निशिचर सुभट महाबल मारे।।

लेकिन आज तो अभी जन्म का सुअवसर है। संसार आशा भरे नेत्रों से टकटकी लगा कर देख रहा है। शीतल मन्द और सुगन्ध वायु बह रही है, वन कुसुमित हैं और सरिताएँ अमृत की धारा बहा रही हैं। गन्धर्वगण गा रहे हैं और देवता पुष्प वर्षा कर रहे हैं। प्यारे पाठक! आइये, हम भी भगवान का सुयश गान करें।

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां।
पाथेयं जन्मुमुक्षो सपदिपरिपद प्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्राम स्थानमेकं कविवर वचसां जीवनं सज्जनानां।
बीजं धर्म द्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये राम नाम।

(स्वदेश, 17 अप्रैल, 1921)

श्री कृष्णाष्टमी

पृथिवीमाता ने कितने ही राष्ट्र देखे हैं। उसने अनेकों सभ्यताओं को जन्म दिया, अनेक राज्य फले-फूले और बहुत-सी प्रबल सभ्यताएँ मानव-जगत में प्रादुर्भूत हुईं। पर इनमें से टिकी कितनीं? कालचक्र के आघात प्रत्याघात और मनुष्य की बर्बरता के झोंके से कितने राष्ट्र आत्म-रक्षा कर सके? कहाँ है असीरिया और बैबिलन की प्राचीन सभ्यताएँ, जो किसी समय संसार की शोभा थीं; कहाँ है प्राचीन यूनान की वह सभ्यता, जिसका परिचय वहाँ के अनुपम कला-कौशल और अरस्तू और अफलातून जैसे तत्त्वविद् कोविदों के दर्शनों से हमें मिलता है और कहाँ गयी मिश्र की वह सभ्यता, जिसका परिचय वहाँ के पिरामिड्स हमको आज भी दे रहे हैं?—ये सब जातियाँ और सभ्यताएँ भूमाता के गर्भ में विलीन हो गयीं। परन्तु, अगणित आक्रमणों के झंझावात और वैरि-वर्ग के वातातप आर्यभूमि के पैर न उखाड़ सके। ऋषियों की जो सभ्यता ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन काल ही में अध्यात्म-विद्या की थाह लगा चुकी थी, उसकी धारा अखण्ड रूप से अब भी प्रवाहित हो रही है। जो आर्य-जाति जगत् की शिरोमणि थी, उसकी हस्ती दुनियाँ में अब भी कायम है। नानारूपेण पददलित हो कर भी वह उठ रही है और अपना मंत्र और संदेश संसार को सुनाने के लिए उसने एक महान यज्ञ का वरण कर दिया है। हम उस दिन की ओर टक लगाये देख रहे हैं, जब भगवान मनु के साथ हम सगर्व कह सकेंगे कि—*एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।* जब हम इस बात की ओर दृष्टि डालते हैं कि जहाँ अन्य सभ्यताएँ भग्नावशेष हो गयीं, भारतीय सभ्यता का मस्तक अब भी संसार की जातियों में ऊँचा है, तब उसकी प्राण-रक्षा और जागृति के और साधनों के सिवा हमारी दृष्टि व्रत और त्यौहारों की ओर गये बिना नहीं रहती। रामनवमी, विजयदशमी, होली और दूसरे बहुत-से त्यौहार भारतीय सभ्यता के इतिहास में युगान्तर उपस्थित करने वाली तिथियाँ हैं। ये थोड़े समय के लिए हमको उस युग में ले जाती हैं, हमारे दृष्टि-पथ में वे घटनाएँ नाचने लगती हैं, जो हमारे पूर्व गौरव का हमको स्मरण दिलाती हैं। ये हममें जीवन-संचार करती हैं, आनन्द से हमको मग्न करती और एक उच्च जीवन और आदर्श मार्ग पर चलने की प्रेरणा करती हैं। व्रतों और त्यौहारों को मिटा दीजिये, तब दीख पड़ेगा कि राष्ट्रीय और धार्मिक जीवन में उनका क्या स्थान है। किसी वस्तु का वास्तविक मूल्य हमको तब मालूम होता है, जब हम उससे वंचित हो जाते हैं। ऐसे ही त्यौहारों में श्री कृष्णाष्टमी भी एक पवित्र त्यौहार है। वे हिन्दू, जिनको राम और कृष्ण प्यारे हैं, धर्म ही जिनका जीवन-धन है, आज अपने को महाभारत-काल में पाते हैं। अपने पुत्र की उत्पत्ति से उनको जो आनन्द नहीं मिलता, उसे वे लूट रहे हैं। अनेक प्रकार से अपनी आवभक्ति और आनन्दानुभूति को वे प्रकट कर रहे हैं। कारण क्या है? भाद्रपद की अष्टमी की अँधेरी रात्रि में हिन्दुओं का कन्हैया अपने भक्तों को प्रकाश पहुँचाने आया था।

हमारे इतिहास में यह एक पवित्र तिथि है। जिस समय वैदिक आचार-व्यवहार की शृंखला शिथिल हो चली थी, मर्यादा-भंग से भयभीत होने में लोग संकोच करने लगे थे, मद्यपान और द्यूत-क्रीड़ा से नैतिक जीवन की हत्या हो चली थी—उस समय, कृष्ण ने कंस के बन्दीगृह में वसुदेव देवकी की बेड़ी काटी थी। जब भरतखण्ड के राजे-महाराजे एक दूसरे से लड़ने-भिड़ने में व्यस्त थे, राजधर्म और प्रजाधर्म की अवहेलना की जा रही थी, जब जरासन्ध के समान राजे राजमद और बलमद से मतवाले हो कर अनेक साधुचरित राजाओं को भी जेल में सड़ा रहे थे; जिस समय शिशुपाल के समान पापनिष्ठ राजे अपने अत्याचारों से देश का वायुमण्डल कलुषित कर रहे थे, वह वंशीधर के वंशी-निनाद का समय था। परन्त क्षीर-सागर-शायी नारायण की निद्रा उस समय भंग हुई, भगवान का सिंहासन उस समय डगमगाया, जब कंस और चाणूरादि राक्षसों की पापात्माएँ जप, तप, होम और श्राद्ध बन्द करने लगीं, वेदों के प्राणाधार यज्ञ और स्वधा-स्वाहा पर वज्र गिराने लगे, गो-ब्राह्मण और साधु-सन्तों की नाम में दम आ गया तथा स्वयं भगवती वसुन्धरा डगमगाने और देवगण काँपने लगे थे—प्रत्येक हिन्दू जानता है कि केशि-निषूदन कृष्ण ने किन विकराल बदन राक्षसों का संहार किया, किन कुमार्गगामी राजाओं का निग्रह किया, किन-किन उपायों से अधर्माभिभूत धर्म का उद्धार किया। सम्भव है कि यह सब आप भूल जावें। पर हम उस दिव्य गीत को कभी नहीं विस्मरण कर सकते, जिसे मोहन ने उस समय गाया था, जब रणाह्वान सुन कर कुरुक्षेत्र की रणभूमि में देश-देश से आकर कौरव पाण्डवों की अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ रण-मद से चूर हो रही थीं। भगवद्गीता का वह स्वर्गीय गीत हमारे कानों में झंकार कर रहा है कि सत्य अथवा धर्म के पालन करने में आपे का ध्यान छोड़ दो। मत सोचो कि तुम आपदाओं और कष्टों से पीड़ित होकर मर जाओगे? क्या तुम मरते जीते भी हो? क्या हिन्दू-धर्म की सारी शिक्षा पर हड़ताल फेर दोगे? तब क्यों नहीं धर्म युद्ध में कूद पड़ते। जब तक तुम्हें वर्तमान स्थूल शरीर के वस्त्र धारण करने हैं, तब तक जहाँ धर्म और सत्य का गला घुटते देखो, जहाँ अधर्म की विजय होते देखो, एक कर्मयोगी की भाँति मैदान में आ जाओ और परमेश्वर और सत्य का सहारा लेकर ऐसा बर्तो कि संसार की मोहमाया से तो विलग रहो, पर धर्म की रक्षा करने में सहायक हो। अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ाइये। क्या पूर्व क्या पश्चिम, क्या भारतवर्ष क्या अन्य देश, सर्वत्र दम्भ और पाखण्ड, स्वेच्छाचारिता और अन्याय, घूसखोरी और बेइमानी का बाज़ार गर्म है। सबल दबाया चाहता है निबल को, बड़ा राज्य हड़प करना चाहता है छोटे राज्यों को, पूँजी वाले खून चूसना चाहते हैं श्रमजीवियों का, साम्राज्यवादी निगल जाया चाहते हैं प्रजा-वादियों को। कलियुग का दौरदौरा है, अधर्म अनेक क्यारियों में फूट कर निकल रहा है, बहुरूपिया की भाँति यह नाना रूप धारण कर रहा है, यहाँ तक कि हम अधर्मी को धर्मात्मा तक समझ कर धोखा खाने लगे हैं। आज की समस्या उस समस्या से सरल नहीं है, जिसको सुलझाने के लिए योगेश्वर कृष्ण ने अवतार लिया था। अतः भगवान की नर-लीला और गीता का हमारे प्रति उपदेश है—*तस्माद्युध्यस्व भारत।* हम कृष्णाष्टमी मनावेंगे भगवान का स्मरण और भक्ति करके, पर हम जानते हैं कि उनकी अनन्य भक्ति हम तभी कर सकते हैं, जब हम उस आचरण के रहस्य की कुंजी खोलें, जिसे उन्होंने अपनी मानव-लीला में मानव-जाति के सामने रखा था। किन्तु उससे भी बढ़ कर भागवत के—*ईश्वराणांवचः प्रामाणं तथैका-चरितं क्वचितः*—के अनुसार भगवान की आज्ञाओं का पालन करना ही उनकी उत्कृष्ट भक्ति करना है। अस्तु, भगवान ने 'कर्मयोग' रूपी जिस भागवत धर्म का द्वापर में उद्धार किया था और जिसका उद्धार

कलियुग में भगवान तिलकाचार्य ने हमारे सामने ही किया है, उसे दृढ़ता से गहने की प्रतिज्ञा हमें कृष्णाष्टमी की चिरस्मरणीया तिथि में करनी है। कृष्णाष्टमी मनाना तभी सार्थक है, कृष्ण भक्त होने का दावा तभी ठीक है; जब हम लोग कृष्णाष्टमी को केवल एक उपवास और आनंद मंगल का दिन न बनायें रखे, वरन् भगवान की मोहिनी मूर्ति के सम्मुख प्रतिज्ञाबद्ध होकर देशोद्धार के लिए मर मिटने को खड़े हो जावें।

(स्वदेश, 28 अगस्त, 1921)

विजया का संदेश

आज हम आनन्द का सागर उमड़ता हुआ देख रहे हैं। आज बाईस करोड़ हृदयों में आनन्द-तरंगें उमड़ रही हैं। हिन्दू जाति एक दिन के लिए गर्व और आनन्द के मारे आपे से बाहर हुआ चाहती है। गाँव-गाँव और नगर-नगर, सर्वत्र, एक ही रटन और एक ही भाषा का प्रकाश। यह क्यों? इस चहल-पहल, इस आनन्द-स्रोत का कारण क्या? बात यह है कि आज विजय दशमी आयी है और आयी है विजया, जो हमें विजय के सन्देश सुनाना चाहती है। विजये! मात विजये, तेरा स्वागत है, शत बार स्वागत है। तू आती रह, सदा आती रह और विजयोत्कण्ठित जनों के दिल बढ़ाती रह—विजयदशमी हमको एकबारगी सहस्रों वर्ष के अतीत काल में ले जाती है। बीसवीं शताब्दी में होते हुए भी हम त्रेतायुग में प्रवेश कर जाते हैं। हमारी आँखों के सामने उस समय के चित्र नाचने लगते हैं, जब वैदिक सभ्यता का भास्कर भुवन खण्डों की तमिस्रा तिरोहित कर रहा था। हमको उस शुभ घड़ी का स्मरण हो आता है, जब आर्ष सभ्यता के विजय-नाद पर आकाश मण्डल से देव-देवियों ने पुष्प-वर्षा की थी। आज ही के दिन राम और रावण के उस घोर संग्राम का अवसान हुआ था, जिसकी उपमा अब आदि कवि वाल्मीकि को न मिली, तब उनकी कोकिल वाणी से ये शब्द निकल पड़े हैं—*रामरावणयोयुद्धं रामरावणयारिव*। यों तो विजयदशमी का चक्कर हमेशा लगा करता है। विजयदशमी साल में एक बार आती है, चली जाती है। लोग वाल्मीकि और तुलसी की कूजती वाणी सुनते और सुनाते हैं। रामलीलाएँ करके भक्त जन अपनी भक्ति का प्रकाश करते, आनन्द लूटते और औरों को लुटाते हैं। पर आज की विजया दशमी कुछ और ही महत्त्व रखती है। वह ऐसे अवसर पर आयी है, जब देश एक घोर युद्ध में व्यस्त है। ऐसे कठिन समय में भी यदि हमने विजया का सन्देश न सुना, उसके उपदेश पर पैर न रखा तो हम सरीखा हतबुद्धि कौन होगा? विजयदशमी उस युद्ध का स्मारक है, जो देवों और असुरों के बीच हुआ था, जिसमें एक ओर धर्म और दूसरी ओर अधर्म लड़ रहा था। यह वह समर था, जिसमें क्षत्रिय वीरता ने अपना पूर्ण कौशल खोल कर रख दिया था। यह वह लड़ाई थी, जिसमें एक क्षत्रिय वीर ने क्षात्र धर्म पालन कर अपनी जातीयता का गौरव रखा था। यह युद्ध राम और रावण के बीच न था, वह था उन शक्तियों के संहार के लिए, जिन्होंने जप-तप, भजनभाव को उठा देने का बीड़ा उठा लिया था और जिन्होंने गो-ब्राह्मण और देवी-देवताओं का समूल नाश करना अपना नित्य-कर्म बना रखा था। यह युद्ध उस शक्ति के संहार के निमित्त लड़ा गया था, जिसने ऋषि-हड्डियों के ढेर से एक तापस वेष पितृ-वत्सल वीर क्षत्रिय की 'निशिचरहीन करौं महि' जैसी भयंकर प्रतिज्ञा को उत्तेजित किया था। इस युद्ध में भगवान राम ने धनुष और तीर का सहारा लिया था, अन्य अस्त्रों-शस्त्रों का प्रयोग

भी उनकी सेना ने किया था, पर वे विश्वामित्र की यह बात न भूले थे कि पाशविक बल से आत्म-बल कहीं बढ़ कर है। *धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्*—यह उन्हें भली-भाँति ज्ञात था। इसीलिए जब राम को विभीषण रथहीन देख कर हतोत्साह हो चला था, तब भगवान ने आत्मिक बल का उपदेश दिया था—

शौरज धीर जाहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा दया समता रजु जोरे।।
ईश भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म सन्तोष कृपाना।।
दान परशु बुधि शक्ति प्रचण्डा। धर विज्ञान कठिन कोदण्डा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके।।

आज जब हम अपनी प्राचीन विजय के लिए हर्ष प्रकट कर रहे हैं, ऐसे ही युद्ध में सन्नद्ध हैं। एक ओर भारत की नौकरशाही ब्रिटिश साम्राज्य के जल और स्थल सेनाओं के मद से मत्त, न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म के भेद मिटा कर उग्र रूप धारण कर रही है, दूसरी ओर, पाशविक बल का तिरस्कार कर असहयोगी सेना ने ब्रह्मबल अथवा आत्मबल का अवलम्बन किया है। सत्य और धर्म में कितना तेज है, उनमें कितनी प्रबल शक्तियाँ छिपी हुई हैं, इसके उदाहरण इतिहास दे रहा है। फिर भी लोगों को पशु-बल के आतंक ने इतना दबा रखा है कि उनका विश्वास आत्म-बल पर टिकता नहीं है। इसका एकमात्र कारण आत्म-दुर्बलता है। मनुष्य में ऐसी अनन्त शक्तियाँ छिपी हुई हैं, जिनका वह स्वप्न में भी ध्यान नहीं कर सकता। आवश्यकता इस बात की है कि एक बार वह कापुरुषता का परित्यागकर अपने ऊपर अपनी शक्ति में विश्वास लावे और भगवान और सत्य को आगे कर अन्याय का सामना करे। फिर वह देख लेगा कि धर्म अथवा आत्म-बल के आगे अधर्म और पशु-बल कितने तुच्छ हैं। हमारी सेना के सैकड़ों सिपाही पकड़ कर जेल भेजे जा चुके हैं। आज हमारे सेनानायकों की बारी है। एक-एक करके हमारे नेतागण पकड़े जा रहे हैं और ईश्वर जाने या भारत की नौकरशाही जाने कि उन्हें क्या-क्या यातनाएँ दी जायेंगी? हमारी सेना और हमारे सेनानायकों का अपराध यही है कि वे धर्म को मानते और अधर्म का तिरस्कार करते हैं। देश के लिए वे वही करना चाहते हैं, जो किसी देश-भक्त को करना चाहिए। वे इसलिए अपराधी ठहराये जाते हैं कि उन्होंने परमात्मा को मनुष्य और राजा से बड़ा मान रखा है, इसलिए कि वे परमात्मा की आज्ञा को नौकरशाही की आज्ञा से बढ़ कर समझते हैं। यदि बात ऐसी ही है, तो जो लोग इस देश के जलवायु से पल रहे हैं, उनका कर्त्तव्य भी स्पष्ट है। उन्हें लड़ना है और खूब लड़ना है। पर लड़ना है तलवार और बन्दूक़ से नहीं, न तो गोला बारूद से। उन्हें अधर्म का, पशु-बल का सामना सत्य और अहिंसा से करना है। हमारे सबसे बड़े हथियार हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और विदेशी बहिष्कार हैं। हमारे घरेलू और बाहरी शत्रु सदा इस प्रयत्न में लगे रहते हैं कि हम परस्पर लड़ते-झगड़ते रहें। हममें से कुछ लोग मोपला-उपद्रव जैसी कुछ दुर्घटनाओं को देख नैराश्य के शिकार हो जाते हैं। कभी वे मुसलिम स्वराज्य के आतंक से भयभीत हो जाते हैं, तो कभी उन्हें हिन्दू राज्य का भूत भय दिखाने आता है। पर जो राष्ट्र स्वाधीनता के संग्राम में डट गया है, वह इस प्रकार की दो चार घटनाओं से विचलित नहीं हो सकता। यदि किसी जाति के कुछ मूर्ख दूसरी जाति पर बलात्कार कर बैठें, तो इससे सम्पूर्ण जाति कलंकित नहीं हो सकती और सो भी ऐसी

स्थिति में जब जाति के पूज्य नेता उन मूर्खो के ऊपर कलंक की छाप लगा रहे हो। यदि बन्दरों, भालुओं और मनुष्यों में पूरी एकता हो सकती है और वे सम्मिलित शक्ति के साथ अपने बैरियों की ख़बर ले सकते हैं, तो कोई कारण नहीं है कि जो हिन्दू-मुसलमान सैकड़ों वर्षो से एक साथ बस और एक ही भारत माता के जलवायु और मिट्‌टी से पलते हैं, वे हृदय से हृदय मिला कर, धर्म और परमात्मा के लिए, देश और राष्ट्र के लिए सर्वथा एक न हो जायें? हमारे पूज्य नेता अली बन्धुओं की स्वाधीनता का अपहरण कर लिया जाये, हमारे शंकराचार्य पकड़ लिए जायें—शंकराचार्य, जो उन भगवान शंकराचार्य के गद्दीधर हैं, जिन्होंने भारतवर्ष में वैदिक धर्म की रक्षा की थी, जिन्होंने हिन्दू-जाति और हिन्दू धर्म के लिए वह किया, जो और किसी से न हो सका और देश मन मारे बैठा रहे, यह कितनी लज्जा की बात होगी। पर भारत के हिन्दू और मुसलमान, जिन्हें धर्म और भगवान प्यारे हैं, चुपचाप नहीं रह सकते। अब इस भाँति अटूट जोड़ी जोड़ेंगे कि फिर कभी विलग न होंगे, देश में चर्खे की वह तान छेड़ेंगे और स्वदेशी की ऐसी समा बाँध देंगे कि उनके ऐक्य और स्वदेशी की धूम ही का तेज इतना प्रबल होगा कि नौकरशाही के छक्के छूट जायेंगे। यही विजयदशमी का सन्देश है और यदि उस पर हम पूर्णतः ध्यान देंगे तो वह दिन दूर नहीं जब विजय विजय-माल लिए आ खड़ी होगी।

(स्वदेश, 9 अक्तूबर, 1921)

दीपावली

अभी कुछ ही दिन बीते हैं, जब हिन्दुओं की गर्व-भूता, भारतीय सभ्यता की आदर्श निदर्शिका, धर्म की विजय वैजयन्ती प्रसारिणी विजयदशमी के विजयात्मक सन्देश ने हमारे हृदयों में जीवन-संचार किया था। पर जैसे हिन्दुओं का साहित्य-भण्डार अथाह और उनका धर्मकोष नाना विधि अनमोल रत्न-मणिकादि से सर्वथा परिपूर्ण है; उसी प्रकार हिन्दू-जाति और भारतवर्ष में, प्राण-प्रवाहिनी, व्रत और तिवहारों की मन्दाकिनी भी, निरन्तर बहा करती है और आज उसी की एक पवित्र धारा दीपावली आन की आन में हमें पवित्र और ज्योतिष्मान करने को आ गयी है। दीपावली का तिवहार अपने दीप-पुंज से गम्भीर अन्धकार को अपने पेट में रख लेता है। कार्तिकी अमावस्या की वह निशा, निशा-नाथ जिसके निविड़ तमोगर्भ में विलीन से प्रतीत होते हैं और जिसमें यम-देव के कारे-कारे दूत यमलोक के वारंट लिये फेरी लगाते हैं, दीपों की मालिकाओं से, तारा-पुंजों से चमकते हुए आकाश-मण्डल की शान ढीली करती है। किसी नगर में जाकर दीपकों की सजावट देखिये या किसी देहाती ग्राम में जाकर कुलदेव और ग्रामदेव के चौरे देखिये। देखिये खेत और खलिहान, सती और काली के समय और डिषहार के समर धीर और महावीर के चौरे, और अश्वत्थादि की जड़ें और गोमाता के आवास-स्थान, जहाँ भक्ति भाव से प्रेरित होकर भावुक हिन्दू ने अपना ही, नहीं, जगत् के अन्धकार को हटाने की दृष्टि से दीपों की उजली ज्योति जगायी हो। ऐसा अन्धकार, पर ऐसा उजाला! हो न हो दीवाली किसी अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क की उपज है। आज सहस्रों वणिक पुत्र, लाखों और दूसरे हिन्दू, जिन्हें रुपये की चाह है और इस जगत् में कांचन किसे नहीं प्यारा है? रुपये की देवी की उपासना करते होंगे। आज वे लक्ष्मी के अपनी अंगुली पर नचाने वाली लक्ष्मी के दरवाज़े खटखटायेंगे, फूल पत्ती चढ़ावेंगे, मंत्र-तंत्र का ध्यान धरेंगे और चंचला लक्ष्मी की अधीश्वरी हिन्दू वर्ण और अर्थ, रस और छंद, मंगल और शिव की स्वामिनी सरस्वती का ध्यान धरेंगे। वीणा-पुस्तक धारिणी, अज्ञानान्धकार विदारिणी, मरालवाहिनी शारदा ब्रह्म विचार का सार, सारे भक्तों के लिए खोल देगी। आज ही 'भव-भव विभव पराभव कारिनी विश्वविमोहनि कन्ववश विहारिनी' अधर्म और उद्दंडता, पिशाचता और निशाचरता का संहारन करने हारी सिंहवाहिनी जगज्जननी दुर्गा अनुराग-रस-रंजित भक्तों का मन-हरण करेगी, अतएव दीपावली के अवसर पर हम आधिभौतिक उन्नति की अभिलाषा के साथ आध्यात्मिकता की चाह का, अभ्युदय के साथ निःश्रेयस का, प्रेय के साथ श्रेय का, पुष्टि और तुष्टि के साथ शान्ति का अनुपम मेल और सम्मिश्रण देख रहे हैं। हम ऐहिक उन्नति के साथ-साथ सात्विकता की ओर ले जाने वाले इस दृश्य को देख कर फूले नहीं समाते हैं; पर हृदय टूक-टूक हो जाता है, जब हम देखते हैं कि इस अवसर पर हमारे सहस्रों भाई अधर्म को धर्म समझ कर अपनी आत्मा को और धर्मदेव को धोखा देने का वृथा प्रयत्न करते हैं।

जिस जुए को वेद और शास्त्र ने निन्द्य बताया, जिसने धर्ममूर्ति युधिष्ठर को विकराल और भयंकर वनों मे मारे-मारे घुमाया, जिसने महाराज नल का सर्वनाश किया, उसी जुए के जाल में फॅस कर अपना सर्वस्व खोकर हमारे ही भाई अपने पैरों कुल्हाड़ी अपने ही हाथ मार रहे हैं। ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न कितने ही घर कौड़ी के तीन हो रहे हैं, कितने ही अनेक विधि अपमान और आपदाओं के शिकार हो चुके हैं और कितने ही जेल की हवा भी खा आये हैं। यह सब अपने ही जीवन में किसने नहीं देखा है? फिर भी इस अनार्य पापकर्म से हमारे भाई क्यों नहीं मुख मोड़ते? इस समय कांग्रेस और महात्मा गाँधी का संदेश है कि मादक-द्रव्यों का बहिष्कार करे और बहिष्कार करें उन सभी वस्तुओं और अपने आचरणों और आदतों का, जिनसे व्यक्ति और समाज का नैतिक जीवन भ्रष्ट हो रहा है और देश के ऊपर दरिद्रता का पहाड़ टूट रहा है। इतने पर भी जो जुए के जाल में फँस चुके हों और यदि वे उससे निकलना चाहें ही नहीं, तो उनसे हम साग्रह यह कहेंगे कि दॉव धरिये तो विदेशी का, हारिये तो विदेशी वस्त्र और विदेशी-भाव, यदि उनके आप शिकार हो गये हों।

(स्वदेश, 20 अक्तूबर 1921)

स्वराज बनाम सुराज्य

दुनिया में लड़ाइयाँ होती हैं जीव जीव से, मनुष्य मनुष्य से और जाति जाति से। एक देश दूसरे देश से, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अनबन ठानता है और लड़ता-झगड़ता है। सुनते और पढ़ते हैं कि बुराई और भलाई में सौतियाडाह है, दैवी और आसुरी शक्तियों में बड़ा बैर है। और, घोर देवासुरं संग्राम तो प्रसिद्ध ही है। पर हम देखते हैं कि स्वराज्य को सुराज्य से भी टक्कर लेनी है। स्वराज्य कभी सुराज्य पर और सुराज्य कभी स्वराज पर धावा बोला करता है। पर ऐसा जान पड़ता है कि इस समय देश के सभी स्वराज्यवादियों को सुराज्य की ललचाहट से अपने को लुब्ध न होने के लिए, एक सम्मिलित प्रयत्न करना होगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वराज्य और सुराज्य में अन्धकार और प्रकाश का अथवा पुण्य और पाप का-सा सहज विरोध है। स्वराज्य वैयक्तिक होता है और राष्ट्रीय भी। इस समय हम सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय स्वराज्य की ही चर्चा कर रहे हैं। जब शासन अथवा राज्य सर्वथा जनता की इच्छा या मर्जी के अनुकूल होता है, तब उस शासन को स्वराज्य नाम दे सकते हैं। जनता की इच्छा के अनुसार शासन होता है अथवा नहीं, इसकी कुछ चिन्ता न कर जब शासक वर्ग 'अपनी मर्जी के अनुरूप' शासन करता है, पर देश को सुखी और समृद्धि-शाली बनाता है, तब यह शासन सुराज्य कहलाता है। स्वराज्य में भी देश सुखमय और समृद्धिवान हो सकता है। परन्तु यदि परिस्थितियों और काल-चक्र के कारण ऐसा न भी हो सके, तो भी स्वराज्य सुराज्य की अपेक्षा लाख गुना अच्छा और वांछनीय है। कौन वस्तु अधिक अच्छी और स्पृहणीय है और कौन नहीं, इसका निर्णय अपने-अपने उद्देश्यों और दृष्टिकोण के तारतम्य पर मनुष्य किया करता है। जो दासता, 'जो तेरी राय वह मेरी राय' को ही अपने जीवन का नियामक बनाये हो, वह स्वाधीनता के आनन्द का अनुभव क्या कर सकता है? परन्तु जिसको स्वतंत्रता की लौ लग गयी है, जिसने स्वाधीनता देवी की आभा एक बार देख ली है, उसके लिए स्वराज्य के आगे संसार के याचत्पदार्थ तुच्छ हैं। हमारे घर का, हमारी सम्पत्ति का प्रबन्ध कोई अन्य करे, परन्तु हमें उसके प्रबन्ध में बोलने-चालने का तनिक भी अधिकार न हो। प्रबन्ध वह बहुत ही उमदा करे, सम्पत्ति को खूब बढ़ाये, हमें 'अर्थ खर्च लों द्रव्य' का स्वामी बना दे और दुनिया के सुख-चैन हमारे पैरों पर रख दे, पर इन सबको हम पाप समझेंगे, इससे हम लज्जा के मारे मर जायेंगे, यदि हम उसके प्रबन्ध में चूँ तक न कर सकें और उसे अपनी जगह से हटा भी न सकें। हम अपने को बनाने-बिगाड़ने की स्वतंत्रता चाहते हैं। सुवर्ण के पींजरे में बन्द होकर हम परतंत्र नहीं रहना चाहते, स्वतंत्र रह कर लोहे के चने चबाने और इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहना गुलामी के साथ दुनिया के मौज़ उड़ाने से हज़ार दर्जे अच्छा है। बहुत दिनों से दासत्व की बेड़ी में जकड़े हुए हमारे देश बन्धुओं में अभी यथेष्ट रूप से स्वतंत्रता की इच्छा प्रज्वलित नहीं हो पायी है। स्वराज्य अथवा स्वतंत्रता के लिए मर मिटना, पुत्र कलत्र

और घरबार छोड देना, जेल और देश निर्वासन की यातनाएँ सहनी तो दूर की बातें हैं, हम सुराज्य के छोटे-छोटे प्रलोभनों मे [illegible] हो अपने ध्येय को भूल जाया करते हैं। अमुक-अमुक व्यक्ति गवर्नर बना दिये जायें, अमुक विभाग और नौकरियाँ भारतीयों के हाथ में आ जायें, व्यवस्थापक समाजों में जनता के इतने प्रतिनिधि हो जावें इत्यादि बहुतेरे प्रलोभन हैं, जो हमको अपने मार्ग से विचलित करते रहते और हमारे घर को दो कैम्पों में विभाजित करते रहने हैं। सम्भव है कि किसी व्यवस्था में देश के हितानुकूल, समझ कर, हम यह सब स्वीकार करें, पर इस बात को न भूलना चाहिए कि स्वभाग्य-निर्णय अथवा स्वतंत्रता हमारा ध्येय है। राष्ट्रीय अथव राजनैतिक स्वराज्य उस स्वराज्य का प्रतिबिम्ब है, जिसको मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्ति कहते हैं। जिस प्रकार मोक्ष के आगे और सब तुच्छ है और उसकी प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग करना पड़ता है, उसी प्रकार यह स्वराज्य भी कल्पवृक्ष है और इसके लिए अनेक कठिनायों का सामना करना पड़ता है, उसी प्रकार यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। हिन्दुवां सूर्य महाराणा प्रताप ने चाहा होता, तो वे अकबर की छत्रछाया में सुराज्य की सुखनिदियाँ लेते, पर स्वराज्य के लिए उन्होंने जंगल-जंगल दौड़ना, अपने आपको, अपितु, अपने छोटे छोटे बच्चों को भी भूखों मारना ही धर्म समझा। महाराष्ट्र केसरी शिवाजी ने चाहा होता, तो वे औरंगजेब की अधीनता स्वीकार करके मज़े से दुनिया के मौज़ उड़ाते। जिस मैजिनी ने इटली-राष्ट्र का निर्माण किया, वह चाहता तो स्वराज्य का ध्येय छोड़ कर सुराज्य स्वीकार कर लेता और उसे जो अगणित कष्ट भोगने पड़े, देश-विदेश मारे-मारे फिरना पड़ा, इन सब आपदाओं से बच जाता। पर स्वाधीनता की बाढ़ बड़ी प्रबल होती है। जिस व्यक्ति अथवा राष्ट्र के हृदय से उसकी अग्नि एक बार धधक उठती है, फिर बुझाये नहीं बुझती। अभी तक पूर्ण रूप से ऐसी लहर इस कर्मभूमि में नहीं फैली है, तो भी हम उस दिव्य दिवस की ओर आशा लगाये देख रहे है, जब भारत का बच्चा-बच्चा स्वराज्य की वेदी पर अपने आप को भेंट कर देने के लिए खड़ा हो जायेगा।

(स्वदेश, 4 सितम्बर, 1921)

गोमाता पर क्रूसेड

ऐसे समय जब कि हिन्दू जाति आशा कर रही थी कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता, जहाँ देश के अन्य विकट प्रश्नों को हल कर देगी, वहाँ गोरक्षा का मार्ग भी निष्कण्ट हो जायेगा, तब कुछ स्वार्थान्ध पुरुषों ने गो के विरुद्ध जिहाद शुरू कर दी। एक ओर तो हमारे मुसलमान भाई एक-एक कर के गो-रक्षा व्रत धारण करते जा रहे हैं और दूसरी ओर मध्य-प्रदेश के रतोना नामक स्थान में गो की गर्दन काटने के लिए पैशाचिक आयोजन हो रहा है, डेबन पोर्ट एण्ड को. की सी. पी. ट्रेनिंग और ट्रेडिंग कम्पनी इसलिए बनी है कि बाईस करोड़ हिन्दुओं की गोमाता के ख़ून की नदियाँ ऋषियों की भारत भूमि में बहें। मर्म-वेदना इसलिए और असह्य हो जाती है कि मध्य प्रदेश की गवर्नमेंट ने कम्पनी को इस राक्षसी कृत्य में प्रजा के रुपये से प्रोत्साहन और सहायता देने का बीड़ा उठाया है।

हिन्दू गौ की रक्षा केवल इसलिए नहीं चाहता कि वह अत्यन्त उपयोगी जीव है और भारतीयों के जीवन, बल और बुद्धि विकास के लिए गोरक्षा अत्यन्त आवश्यक है, वरन् इसलिए भी कि हिन्दू गो को पूज्य दृष्टि से देखता है और उसे माता कह कर पुकारता है। हिन्दुओं के बहुत बड़े समुदाय का अटल विश्वास है कि गो वैतरणी पार कराकर स्वर्ग पहुँचाती है, गो की रक्षा के लिए अब से पूर्व सहस्रों हिन्दुओं ने अनेक आपदाएँ झेली हैं और सैकड़ों ने गो की गर्दन बचाने के लिए अपनी गर्दनें कटा डाली हैं। यह सब जानते हुए भी एक ऐसे कसाई-ख़ाना की स्थापना होने वाली है, जिसमें प्रति दिन लगभग 1500 गौओं की गर्दन कटेंगी और साल भर में लाखों का वध होकर सचमुच ख़ून की नदियाँ बहेंगी। क्या उस समय भारतभूमि पुण्यभूमि ही बनी रहेगी? क्या उस समय वह नर्कभूमि के नाम से कलंकित न होगी? क्या अपनी जाति और मातृभूमि को इस कलंक और दुष्पाप से बचाने के लिए हिन्दू जाति उद्यत न होगी? मेरा ख़्याल है कि अब भी हिन्दुओं का धर्म में अटल विश्वास है। अब भी हिन्दू धर्म की वेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर सकते हैं। अब भी उनमें जान है और वे ऋषियों की सन्तान होने का गर्व कर सकते हैं। अब भी व्याख्यानों और लेखों द्वारा तथा मध्यप्रदेश की व्यवस्थापक सभा एवं बड़ी कौंसिल में जो आन्दोलन हो चुका है, वह नगण्य है; और उससे कोई अधिक लाभ भी नहीं हुआ है। क्या यह आशा करना व्यर्थ है कि हिन्दू लोग एक ऐसा तीव्र आन्दोलन खड़ा करेंगे, जिसके आगे स्वेच्छाचार को मस्तक झुकाना पड़े और रतोना में कसाईख़ाना खोलने का विचार एकदम त्याग दिया जाये और भविष्य के लिए भी चेतावनी मिल जाये।

इस समय मुसलमान भाइयों का भी एक कर्त्तव्य है कि इस आन्दोलन में उन्हें हिन्दुओं का दिल से साथ देना चाहिए, इसलिए नहीं कि ख़िलाफ़त में हिन्दू उनका साथ दे रहे हैं, वरन इसलिए कि उनके बाईस करोड़ हिन्दू भाइयों के धर्म पर कुठार चलाया जा रहा है। प्रतिदिन एक ही स्थान में सैकड़ों गौओं की गर्दन पर छुरी चलाना, मानों हिन्दुओं की गर्दन पर तलवार चलाना है। ऐसी दशा में मुसलमान भाई अपने हिन्दू भाइयों को उनके धर्म-युद्ध में अकेला नहीं छोड़ सकते। किन्तु इसके सिवा, जैसा लाला लाजपत राय के *वंदे मातरम्* ने कहा है, उपर्युक्त ज़िबहख़ाना की स्थापना इस्लाम धर्म के भी विरुद्ध है। सरकार ने यह कारण बतलाया है कि वर्तमान कसाईख़ानों में वध का जो नियम बना दिया जाता है, वह निर्दयतापूर्ण और स्वास्थ्य के लिए अहितकर है। यदि गवर्नमेंट की यह धारणा है, तो वह या तो सी.पी. के वर्तमान कसाईख़ानों को बंद कर देगी या उन्हें नवीन झटके का तरीक़ा स्वीकार करने के लिए बाध्य करेगी। दोनों दशाओं का फल यह होगा कि कसाइयों में असंतोष फैलने के सिवा मुसलमानों का क्रोध उमड़ेगा। उन्हें हलाल किया हुआ गोश्त न मिल सकेगा और हमेशा यह ख़्याल तंग करता रहेगा कि कहीं इस नये ढंग के ज़िबहख़ाना का गोश्त उनके दस्तरखान में न पहुँच जाये, जिसका खाना उनके धर्म के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यदि किसी पशु का वध करते हुए बिस्मिल्ला और तीन बार अल्ला-हो-अकबर का उच्चारण नहीं किया जाता, तो उस गोश्त का खाना उनके लिए हराम हो जाता है। यह बात भी मुसलमान भाइयों को अपनी गाँठ में गठिया लेनी चाहिए।

(स्वदेश, 12 सितम्बर 1920)

लोकमान्य तिलक का स्मृति-दिवस

सन् 1920 को पहिली अगस्त भारतवर्ष के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण तिथि होगी। राष्ट्रीय युद्ध में अपनी दुर्दमनीय शक्ति का परिचय देकर एक महारथी ने उसी दिन अपना चोला बदला था और उसी दिन एक दूसरे महारथी ने वर्तमान युद्ध की भेरी बजायी थी। तब से आज पूरा एक वर्ष बीत चुका, हमारे बीच से लोकमान्य तिलक को चल बसे एक-एक करके बारह महीने हो गये, पर हिमालय से कन्या कुमारिन तक जो हाहाकार उस समय मचा था, अभी भी वह मिटने नहीं पाया है। शहर और ग्राम, सभा-सोसाइटियों और कांग्रेस के मंच पर सर्वत्र लोकमान्य की मूर्ति का स्मरण हो आता है। पहिली अगस्त, 1920 की बात ही दूसरी है, अब भी यह विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि कल ही जो हमारी राष्ट्र-नौका का कर्णधार था, वह हमारे बीच न रहा। हम अब लोकमान्य तिलक की सौम्य मूर्ति नहीं देख रहे हैं; हमारे बीच अब वह मूर्ति नहीं है, जो भारतीयता और मराठापन का आदर्श थी, इसी से हम तिलक को मृत समझने लगे हैं। हम समझते थे कि पंचतत्त्व-निर्मित शरीर पर भी हमारा अधिकार था, हममें उसके लिए प्रबल ममता थी, इसलिए उसे न देख कर हम विह्वल हो गये हैं, आख़िर हम मनुष्य ही तो ठहरे। पर वास्तव में तिलक, भारत के भाल के तिलक, मरे नहीं, जीर्ण वस्त्र को उतार कर उन्होंने रख दिया और दुर्लभ अमर पदवी को प्राप्त कर लिया है। जब तक भारतवर्ष अपने को भूलकर आत्मघात न कर लेगा, जब तक उसमें राष्ट्रीयता का कुछ भी स्रोत बहता रहेगा, जब तक भारतवर्ष महान आत्माओं का आदर करना न भूलेगा, लोकमान्य की यशःपताका फहरायेगी और उनका नाम अमिट रहेगा।

तिलक करोड़ों भारतवासियों के पूज्य क्यों कर हो गये हैं, इनके लिए इतनी बेचैनी और विकलता देश को क्यों है, इसका कारण उनकी जीवन-चर्या का प्रत्येक कार्य बतला रहा है। जिस महापुरुष की गुण-गाथा श्री मालवीय जी और स्वयं महात्मा गाँधी गावें, उसका यशःस्तवन हमारे-जैसे नगण्य व्यक्तियों के लिए सूर्य को दीपक दिखाना नहीं तो क्या है? पर, हम उनका स्मरण करेंगे, उनकी पूजा करेंगे, उनके यश गावेंगे; क्योंकि भारतवर्ष को अभी बहुत कुछ करना है, अभी वह लड़ाई ठनी ही हुई है, जिसे इहलीला समाप्त करते समय तक तिलक लड़ते ही रहे। हमारे पथ में काँटे हैं, और न जाने क्या-क्या आपदाएँ हमें मार्ग-च्युत करने के लिए उपस्थित हों। अतएव, पग-पग पर हमें तिलक के उपदेशामृत की आवश्यकता पड़ेगी, क्षण भर भी हम उस मार्ग को भूल जाना न चाहेंगे, जिस पर हमारा वीर महाराष्ट्र केसरी चलता था। अनुभवप्राप्त विद्वानों का कथन है कि काल महान् आत्माओं को जन्म देता है तथा महान् आत्माएँ काल को पैदा करती हैं। भगवान से यह सहा नहीं जाता कि धर्म अधर्म का दास बन जाये, अधर्म धर्म पर विजय लाभ कर ले, सत्य और सत्यवादी

असत्य और असत्यवादियों से पराभूत हो जावें। फलतः जब-जब अप्राकृतिक बातें कहीं पर होने लगती है, तब-तब धर्म के रक्षार्थ एक शक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है, जो दुष्टों को ठीक रास्ते पर लाती और धर्म के सेतु को रसातल जाने से बचा लेती है। जिस समय वीर शिवाजी की पवित्र भूमि महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक अवतीर्ण हुए थे, उस समय ऋषियों की भारत भूमि दासता की कड़ी बेड़ी पहन चुकी थी और उससे छूटने की कोई आशा नहीं दीखती थी। भारतीयों ही की मर्जी से हो, अथवा कुटिल कूटनीति का कुचक्र रहा हो, किसी-न-किसी प्रकार हम परतंत्रता की कीच में फँस चुके थे। जिस समय पाश्चात्य शिक्षा से चकाचौंध भारतवासी, भारतीय भेष-भूषा को हेय समझने और छोड़ने लगे थे, जिस समय पाश्चात्य सभ्यता प्राचीन आर्य-सभ्यता को उसके घर से निकाल डालने में लगी हुई थी, जब भारतवासी अपने को भारतवासी कहने में अपमान समझने लगे थे, ऐसे समय में भगवान तिलक ने भारत की बेड़ी काटने के लिए जन्म लिया था। धन्य थी वह घड़ी, जब उन्होंने शिशु-क्रन्दन किया और धन्य थी वह रत्नागिरि की भूमि, जहाँ पर यह रत्न पैदा हुआ। जिस बलवंत राव तिलक ने अपने शिक्षा-काल ही में अपनी कुशाग्र बुद्धि, सत्यनिष्ठा और निर्भीकता से, अपने पूज्य पिता और अध्यापकों को आश्चर्य में डाल दिया था, वह साधारण मनुष्य नहीं था। श्रेय और प्रेय मार्गो मे उसे उसने श्रेय को ही चुन लिया। संसार के आमोद-प्रमोद की ओर उसका चित्त न चला। धन कमा कर लक्ष्मी-पात्र बनने अथवा सांसारिक मान-प्रतिष्ठा के बोझ से अपने को लादने की अभिलाषा तिलक को न हुई। उनको यदि कोई इच्छा थी, तो यह कि किस उपाय से इस अधःपतित भारतवर्ष को उठावें, कैसे भारतमाता का मस्तक ऊँचा करें और हम अपने ही देश में परतंत्र होकर अपनी एड़ियाँ न रगड़ें। तिलक से पहले भी भारत की भलाई चाहने वाले हुए थे, उनके समय में भी बहुत-से थे, जिन्होंने अनेक कष्ट उठाये थे, पर तिलक के लिए देशभक्ति धर्म थी, राजनीति के क्षेत्र में वे राजनीतिक नेता की भाँति नहीं उतरे थे, वरन् उनके लिए राजनीति धर्म ही का रूपांतर था। पार्थिव शरीर छोड़ने के समय, चालीस वर्षों तक, तिलक ने अथक परिश्रम के साथ देश की सेवा की; जिस नौकरशाही के विरुद्ध इन्हें लड़ना था, वह भी समय-बेसमय विकराल रूप में इन पर धावा मारती रही; इनके मार्ग में रोड़े डाले गये, अनेक प्रलोभन दिये गये, कारावास भेज-भेज कर भारत का यह भक्त अग्निकुण्ड में वैसे ही तपाया गया, जैसे भगवान का भक्त प्रह्लाद तपाया गया था। परन्तु कष्ट का बढ़ना और इनके साहस का बढ़ना, नौकरशाही के कोष का बढ़ना और इनकी लोकप्रियता का बढ़ना, मानो इन द्वंद्वों में कोई कार्य कारण सम्बन्ध था। एक ओर नौकरशाही इन्हें अपना सबसे बड़ा शत्रु समझने लगी, तो दूसरी ओर भारतीय जनता ने इनको 'लोकमान्य' की पदवी से विभूषित करके इनमें अपनी अटल श्रद्धा का परिचय दिया। केवल शिक्षित समुदाय इन पर लट्टू रहा, सो बात नहीं, महात्मा गाँधी को छोड़कर और कोई भारतीय नेता साधारण जनता पर तिलक के समान आधिपत्य न जमा सका। संसार ने और भारतवर्ष ने अनेकों महापुरुषों को देखा है, जिनमें किसी गुण विशेष का बाहुल्य पाया गया है। कोई अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता है, तो उसमें अन्य गुण नहीं हैं; कोई उद्‌भट विद्वान है, तो वह किसी अन्य असाधारण गुण से विभूषित नहीं है; कोई धर्मात्मा है, तो कोई बड़ा राजनीति-कुशल; किसी का आत्म-बल और प्रबल इच्छा-शक्ति बढ़ी है, तो किसी का शारीरिक बल संसार को आश्चर्य में डालता है। सारांश यह कि सब गुणों का सम्मिश्रण एकत्र नहीं दिखता। कोई भी मनुष्य ऐसा जादू नहीं कर सकता कि वह समस्त गुणों से सम्पन्न हो जावे। पर तिलक में अवश्य अनेक अलौकिक गुण थे, जो संसारके किसी

नेता में एकत्र नहीं मिलते। भारतीय राष्ट्रनिर्माण में कितने ही हाथ लगे; किसी ने गाराचूना दिया, तो किसी ने अन्य प्रकार से उसकी इमारत बनाने में सहायता पहुँचायी। परन्तु जिस महापुरुष ने नल-नील का काम किया, जिन्होंने इस विशाल भवन के निर्माण में विश्वकर्मा का काम किया, वे थे हमारे पूज्य और अद्वितीय नेता लोकमान्य तिलक। भारतीय राष्ट्रीयता के जन्मदाता तिलक, वर्तमान भारत के निर्माता बतलाये जाते हैं। यह तिलक का काम था कि उन्होंने एक प्रबल और स्वतंत्र राष्ट्रीय दल को जन्म दिया। कहने वाले जो कुछ कहें, पर इस पर तथ्य पर परदा नहीं डाला जा सकता कि छोटे-बड़े जो कुछ सुधार भारतवर्ष के शासन में अब तक हुए हैं, वे प्रायः इसी दल की उग्रता के कारण हुए हैं। कारण इसका यह है कि ब्रिटिश जाति अनुनय-विनय की कायल नहीं है, वह गोस्वामी तुलसीदास के 'बिनु भय होय न प्रीति' की उपासक है। यह तिलक का काम था कि उन्होंने अंगरेज़ों से भीख माँगने की भारत की नीति पर चोट मारी। तिलक ने हमें अपने पैरों पर खड़ा होने की दीक्षा दी, स्वावलम्बन का हमें उन्होंने सबक़ पढ़ाया और ऐसे समय जब कांग्रेस और हमारे नेतागण छोटे-छोटे सुधारों के लिए गवर्नमेंट का मुख ताक रहे थे, उस समय तिलक ने स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य की चतुःसूत्री हमारे दिलों पर जमा दी। ओस के चाटे प्यास किसकी बुझी है, एक टुकड़ा खाने को मिल जाये, फिर दूसरे के लिए क्यों प्रतीक्षा की जाये, भला भूख जाने का यह भी कोई उपाय है। यह काम तिलक का था कि उन्होंने हमें सिखलाया—'एकहिं साधे सब सधे'—सब रोगों की एकमात्र रामबाण महौषधि स्वराज्य है। अपनी शक्तियाँ इधर-उधर न बँट न जाने दो; जो सरकार भेद-नीति के बल पर अपनी निरंकुशता को चिरकाल व्यापिनी बनाना चाहती है, छोटी-छोटी बातों के लिए पारस्परिक लड़ाई-भिड़ाई करके उसे इस कार्य में सहायता मत पहुँचाओ; एक जाति दब जाये, दूसरी को कुछ अधिकार-विशेष प्राप्त हो जायें, हो जाने दो, पर राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय एकता को धक्का न पहुँचाओ। अपने ध्येय—स्वराज्य-प्राप्ति—पर अटल रहो। ध्येय पर एकाग्रता से अटल रहो। यह शिक्षा तिलक ने हमें दी। जिस तिलक ने यह न जाना कि स्वार्थ क्या कहलाता है, जिसने परार्थ में स्वार्थ की आहुति कर दी, भारतवर्ष ही को अपना परिवार समझा और आत्म-त्याग का अनूठा उदाहरण उपस्थित कर दिया; वे, हमारे पथ-प्रदर्शक उस समय तक रहेंगे, जब तक हम स्वराज्य ले न लें और उनको हम तब भी गुरु मानते रहेंगे, जब हम स्वराज्य के स्वतंत्र वायुमण्डल में विचरेंगे। तिलक, पूजनीय तिलक! आपको हम सशरीर देख नहीं रहे हैं; पर आपने जो जीवन दान किया है, जो भारतीय राष्ट्र का पौधा लगाया है, वह हमारे सामने है; जो राजनीतिक दर्शन (पोलिटिकल फिलासफी) आपने निर्मित किया, उसके हम भक्त हैं। हम नहीं भूल सकते कि परमेश्वर पर विश्वास रखकर और अपने पैर पर खड़े होकर अनवरत आन्दोलन द्वारा ही हम अपने ध्येय तक पहुँच सकते हैं। जिसने हमको यह सिखलाया है कि राजनीति में उदारता नहीं है, औदार्य से प्रेरित होकर हमें कोई स्वराज्य का मेवा देगा, यह असम्भव है; जिसने हमको यह बतलाया है कि—'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर रहूँगा' उसे भला भारतवासी कभी भूल सकते हैं। जिस तिलक ने ओरायन (Orion) और उत्तर ध्रुव में आर्यों का आदिम निवास (Aretic Home in the Vedas) लिख कर पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज करके भारत और यूरोप के विद्वानों को आश्चर्य से चकित कर दिया, जिस वेदपारंगत तिलक ने समस्त आर्य साहित्य और प्रस्थान-त्रय *(उपनिषद, ब्रह्मसूत्र* और *गीता)* के गहरे पानी में पैठ कर एक नवीन जीवन-मार्ग दिखलाया और—*यद्यदा चरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। सयत्प्रमाणं कुरुते*

लोकस्तदनु वर्तते।।—का विचार कर स्वयं अत्यन्त पवित्र जीवन व्यतीत करके आचार-प्रभव धर्म की मर्यादा स्थापित की, वह महात्मा हमारा आचार्य श्रीशंकराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य आदि आचार्यों की श्रेणी में परिगणित हो चुका है। जिस तिलक ने भारतीयों की मोहनिद्रा भंग करके उन्हें अपने स्वरूप में स्थिर रहने की शिक्षा दी, जिसने परतंत्रता रूपी अधर्म को छिन्न-भिन्न करके स्वातंत्र्य-धर्म की ओर आर्य-भूमि को अग्रसर किया, जिसने डेढ़ सहस्र वर्ष से भूले हुए 'कर्म योग' धर्म की, अपनी जीवन-चर्या और माण्डले की तपःभूमि में प्रणीत *गीता-रहस्य* द्वारा पुनः स्थापना की, जिसने उस नारायणीय अथवा भागवत धर्म रूपी कर्मयोग की प्रतिष्ठा की, जिसके रक्षार्थ भगवान कृष्ण ने अवतार लिया था और जिसका गीत भगवान ने धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में गाया था; वह तिलक केवल एक अतुल राजनीतिक नेता, निर्भीक और आत्मत्याग की मूर्ति देशभक्त ही न थे, न वे केवल बड़े उद्भट विद्वान और आचार्य थे, वरन् कलियुग में कर्मयोग के पुरस्कर्ता तिलक स्वयं भगवान कृष्ण के अवतार थे। बस, अब हमें जीवन-यात्रा की कहानी कह कर धृष्टता करने का अधिकार नहीं है। हमारी प्रार्थना यही है कि भगवान तिलकाचार्य आशीर्वाद और वर दें कि हम उनके पथ पर चलने में अपने को समर्थ पायें।

(स्वदेश, 31 जुलाई, 1921)

महामना मालवीयजी और पंजाब

बस्ती (उत्तर प्रदेश) की एक महती सभा मे 1926 में भाषण देते हुए पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने यह सर्वथा सत्य विचार प्रकट किया था कि महामना पंडित मदनमोहन मालवीय-जैसे महान् पुरुष किसी देश में सैकड़ों वर्षों में ही उत्पन्न होते हैं। मालवीयजी का समस्त दीर्घ जीवन त्याग, तपस्या, निर्हेतुक देशभक्ति ओर लोकसेवा का परमोच्च कोटि का उदाहरण है, जिसकी तुलना बहुत कठिन है। भारतीय राष्ट्र के निर्माण में उनका जो योगदान है, वह इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में अमिट रहेगा और यह देश उनका सदैव ऋणी रहेगा।

यों तो महामना मालवीय जी को सारा देश सदैव कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करेगा, किन्तु विशेषतया पजाब उन्हें भूल नहीं सकता। प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ था, जिसमें धन और जन से भारत ने ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की थी और हमारे नेताओं ने बड़ी आशा की थी कि कृतज्ञतास्वरूप ब्रिटिश सरकार भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए कोई बड़ा क़दम उठायेगी। भारत मंत्री मिस्टर मांटेग्यू का भारत-भ्रमण भी हुआ, जिसने इस आशा को बहुत कुछ बल प्रदान किया। परन्तु फलस्वरूप जो मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार योजना प्रकाशित हुई, उसने इन आशाओं पर पानी फेर दिया। उदार दल के नेताओं ने इन सुधारों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया। दिसम्बर 1918 में कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण मे मालवीय जी ने उन्हें 'असंतोषजनक' तथा 'निराशापूर्ण' घोषित किया। एक ओर नये सुधारों के नाम पर सरकार भारतवासियों को सब्ज बाग़ दिखा रही थी और दूसरी ओर राष्ट्र-भावना के दमन के लिए कुचक्र भी रच रही थी, जिसने प्रकारान्तर से स्वातत्र्य युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार की।

जनवरी 1919 में भारत सरकार ने रौलट कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसका देश के कोने-कोने मे घोर विरोध हुआ। किन्तु लोकमत की अवहेलना करके इस रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने शीघ्रतापूर्वक भारतीय व्यवस्थापिका सभा में रौलट एक्ट बिल, जिसे देश ने एक स्वर से काला क़ानून कहकर धिक्कारा, एक उपचार की पूर्ति के लिए उपस्थित कर दिया। यों तो यह क़ानून सारे देश पर लागू था, किन्तु इसका प्रधान लक्ष्य पजाव था। व्यवस्थापिका सभा में महामना मालवीयजी ने लगातार साढे चार घण्टे का भाषण करके प्रस्तावित कानून के प्रत्येक अंश के अनौचित्य को खोल कर रख दिया। परन्तु सरकार तुली हुई थी ओर रोलट विल कानून रूप में आ ही गया।

इसका परिणाम शीघ्र ही देश के सामने आया। 13 अप्रैल, 1919 को अमृतसर में जलियाँवाला बाग़ का वह हत्याकाण्ड हुआ, जिसमें जनरल डायर की आज्ञा से सैकड़ों निरीह ओर निहत्थे बाल और वृद्ध, स्त्री और

पुरुषों की निर्मम हत्या हुई और हिन्दू, सिख और मुसलमानों के सम्मिलित रक्त ने उस नरपिशाच की हिंसावृत्ति को तृप्त करके सारे देश को एक छोर से दूसरे छोर तक हिला दिया और असंतोष, क्षोभ और घृणा की भावनाएँ सर्वत्र व्याप्त हो गयीं। सारे पंजाब में मार्शल लॉ जारी किया गया, कितने ही भद्र पुरुषों को बेंतों से पीटा गया और कितनों को कीड़ों की तरह पेट के बल रेंगना पड़ा। उस वीर-प्रसू-भूमि के समस्त नेता जेलों में बन्द कर दिये गये और पाशविक अत्याचारों की कोई सीमा न रही गयी।

देश भर में जलियाँवाला बाग़ तथा नृशंस अत्याचारों की निष्पक्ष जॉच के लिए एक स्वर से मॉग हुई, जिसकी प्रतिध्वनि इंग्लैंड में भी हुई और अंत में, एतदर्थ हंटर कमेटी की नियुक्ति हुई। किन्तु कांग्रेस के नेताओं को इस कमेटी की निष्पक्षता में विश्वास नहीं हुआ। देश में जहाँ कहीं जनता पीड़ित हो, वहाँ पहुँच कर उसके दुख दर्द दूर करने का मालवीयजी का मानों स्वधर्म था और वह पंजाब में पहुँच गये। दीनबंधु ऐण्डूज भी वहीं थे, और दोनों पृथक्-पृथक् रूप से महात्मा गाँधी को वहाँ जाने के लिए बुला रहे थे। महात्माजी के पंजाब प्रवेश पर निषेध था, परन्तु वाइसराय से अनुमति मिलने पर वह सम्भवतः 17 अक्टूबर को लाहौर पहुँच गये।

उस समय गाँधीजी के ही शब्दों "पंजाबी नेताओं के जेल में होने के कारण पण्डित मालवीयजी, पण्डित मोतीलालजी और स्वर्गीय श्रद्धानन्दजी ने मुख्य नेताओं का स्थान ग्रहण कर लिया था।" इन नेताओं और महात्माजी ने एकमत होकर हंटर कमेटी के सामने गवाही न देने का निश्चय किया और जनता की ओर से अर्थात् कांग्रेस की ओर से, अलग जाँच कमेटी नियुक्त करने का गम्भीर निर्णय लिया। तदनुसार महामना मालवीयजी ने महात्मा गाँधी, त्याग-मूर्ति पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबंधु चितरंजन दास, श्री अब्बास तैय्यबजी और बैरिस्टर एम.आर. जयकर की एक स्वतंत्र जाँच कमेटी नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष स्वयं गाँधी जी थे। यह उल्लेखनीय है कि जैसा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है "ज्यों-ज्यों मैं लोगों पर हुए जुल्मों की जाँच अधिकाधिक गहराई से करने लगा, त्यों-त्यों मेरे अनुमान से परे सरकारी अराजकता, हाकिमों की नादिरशाही और उनकी मनमानी-अन्धाधुन्धी की बातें सुन-सुन कर आश्चर्य और दुःख हुआ करता।"

सितम्बर, 1919 में वाइसराय ने पंजाब के उपद्रवों की जाँच करने के लिए हंटर कमेटी की नियुक्ति की घोषणा की थी और साथ ही 18 सितम्बर को अधिकारियों को अपने दण्डनीय बातों से दण्ड-मुक्त करने का इंडेम्निटी बिल भी व्यवस्थापिका सभा में पेश हो गया। रौलट बिल के विरोध में मालवीयजी का साढ़े चार घण्टे का धाराप्रवाह भाषण असाधारण था ही, इस बिल के विरोध में उन्होंने अविच्छिन्न रूप से पाँच घण्टे भाषण दिया और मार्शल लॉ के अंतर्गत अमृतसर, लाहौर तथा अन्य स्थानों में जो असम्मानपूर्ण एवं क्रूर अत्याचार हुए थे, उनकी विस्तृत और तीव्र आलोचना की, जो व्यवस्थापिका सभाओं के स्वतंत्र विचार के सदस्यों के लिए सर्वदा पथ-प्रदर्शन करेगी।

जब ये घटनाएँ हो रही थीं, लेखक इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का एक छात्र था। परन्तु वहाँ से एम.ए. की उपाधि प्राप्त करने के कुछ ही महीनों बाद उसे महामना मालवीयजी का वैयक्तिक मंत्री होकर उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों को समीप से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। असहयोग आन्दोलन के उपक्रम में स्थापित तिलक विद्यालय, गोरखपुर और वहीं से प्रकाशित साप्ताहिक *स्वदेश* में वह कुछ दिनों से क्रमशः अध्यापन तथा

सहकारी सम्पादन का कार्य कर रहा था। 2 फरवरी, 1922 को अपने स्वसुर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का तार पाकर कि 'मालवीयजी आपको बुला रहे हैं' उनकी सेवा में प्रयाग पहुँचा, जहाँ वह काशी से बम्बई जाने के लिए जा चुके थे। उन दिनों लॉर्ड रीडिंग से मालवीयजी राष्ट्रीय आन्दोलन के विषय में मध्यस्थ के रूप में बातचीत कर रहे थे। उन्होंने भारत में औपनिवेशिक ढंग के स्वराज्य की स्थापना पर विचार करने के लिए एक गोलमेज़ कान्फ्रेंस करने पर उन्हें बहुत कुछ सहमत भी कर लिया था। परन्तु घटनाचक्र इस वेग से परिवर्तित होता गया कि शीघ्र ही वार्ता का अन्त हो गया। मालवीयजी के बम्बई प्रस्थान करने के पूर्व स्वर्गीय देवदास गाँधी ने उनसे मिलकर सूचना दी कि महात्माजी ने वाइसराय को पत्र लिख कर एक सप्ताह का समय दिया है, जिसे सुनकर मालवीयजी ने सखेद कहा था कि पत्र लिखते समय वह उपस्थित होते, तो उस पत्र की भाषा 'अलटीमेटम' समझी जाये, ऐसा न होता। उन्हें विश्वास था कि उनके सुझाव को मानकर गाँधीजी अपने पत्र को दूसरा रूप दे सकते थे।

इधर गोरखपुर में चौरीचौरा सब किया-कराया मिट्टी में मिलाने जा रहा था। 4 अथवा 5 फरवरी को मालवीयजी ने बम्बई के लिए प्रस्थान किया और दूसरे दिन नरसिंहपुर स्टेशन पर उतर कर हाथ में *पायोनियर* पत्र लिये लेखक के डिब्बे के सामने क्षुब्ध दिखते हुए पूछने लगे, 'कुछ जानते हो?' मैं दंग रह गया और मैंने उत्तर दिया कि जब तक गोरखपुर में था, इस दुर्घटना का कोई आभास नहीं था। महात्मा गाँधी असहयोग आन्दोलन के आरम्भ से ही शान्ति और अहिंसा पर बराबर बल देते आ रहे थे, परन्तु इस उपदेश की जड़ जनता के हृदय पर जम नहीं पायी थी। चौरीचौरा के आसपास पुलिस ने बड़ा अन्धेर मचा रखा था और कांग्रेस के दो वालंटियर मार भी डाले गये थे। 4 फरवरी, 1922 को जनता के एक बड़े जुलूस ने उत्तेजित होकर रेलवे स्टेशन के समीप अवस्थित पुलिस थाने में थानेदार और 21 सिपाहियों को बन्द कर के आग लगा दी, जिससे सब-के-सब जल मरे। सरकार बौखला गयी और लंदन भी डगमगा गया। इस दुर्घटना की प्रतिक्रिया मालवीयजी पर और सबसे बढ़ कर महात्मा गाँधी पर पड़ी।

12 फरवरी को बारडोली में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक होने वाली थी, क्योंकि वहीं से महात्माजी अहिंसात्मक सत्याग्रह का आरम्भ करने वाले थे।

इस बीच बम्बई के बिरला भवन में, जहाँ पूज्य मालवीय जी का आवास था, नित्य ही सुनने को मिलता कि बम्बई का गवर्नर गाँधीजी को गिरफ्तार करने जा रहा है। बारडोली में कार्य-समिति के कुछ सदस्यों के इस मत के विपरीत कि किसी देशव्यापी आन्दोलन में छुट-पुट हिंसा का हो जाना अनिवार्य है और एक चौरीचौरा के कारण आन्दोलन को स्थगित करना भूल होगी, गाँधी जी ने, जिनके लिए अहिंसा आन्दोलन का प्राण तथा अनिवार्य अंग था, चौरीचौरा का दायित्व अपने कन्धों पर लिया और सत्याग्रह को स्थगित कर दिया। मालवीयजी ने उनका पूरा समर्थन किया, जिसकी उस समय यह चर्चा थी कि गाँधीजी मालवीयजी के कहने में आ गये, यद्यपि यह बात वे ही कह सकते थे, जो गाँधी के सत्य और अहिंसा व्रत से भली-भाँति परिचित न थे।

24-25 फरवरी को कांग्रेस महासमिति ने दिल्ली की बैठक में, जिसमें मालवीयजी उपस्थित थे, बारडोलीवाले प्रस्ताव को, जिसके द्वारा सत्याग्रह स्थगित हुआ था, स्वीकार किया और 13 मार्च को सरकार ने गाँधीजी को

गिरफ़्तार कर लिया। यों तो सरकार का दमनचक्र पहले ही से चल रहा था, जिसके फलस्वरूप उत्तर प्रदेश (युक्त प्रदेश) की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के समस्त 55 सदस्य (जिनमें पण्डित जवाहरलाल भी थे) प्रयाग में एक साथ ही पकड़े जा चुके थे, परतु गाँधीजी की गिरफ़्तारी के बाद दमन ने बड़ा उग्र रूप धारण किया। समाचारपत्रों के कलेवर कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारियों के समाचारों से रँगे होते। अनेक जेलों में देशभक्त बन्दियों के दिल तोड़ने के लिए उन पर पाशविक अत्याचार किये जाने लगे, तथा उच्च कोटि के प्रायः सभी नेता जेलों में बन्द कर दिये गये। ऐसा लग रहा था कि सरकार राष्ट्रीय भावना को कुचल देगी। जनता त्रस्त थी और जो कार्यकर्ता बच रहे थे, उनमें निराशा छा रही थी।

इस नैराश्य की अवस्था में अनेक प्रदेशों के लोगों की दृष्टि महामना मालवीयजी पर गयी, जो देश के सभी गाढ़े अवसरों पर काम आते थे। पंजाब, असम, कलकत्ता तथा दूसरे स्थानों से उनके पास निमंत्रणों के ताँते लगने लगे। सबसे पहला उन्होंने पंजाब-भ्रमण का निश्चय किया और दिल्ली से प्रयाग लौटने के दो-चार दिन बाद ही मार्च के अन्तिम दिनों में लाहौर के लिए चल पड़े। वह भारत सरकार की दमन-नीति का एक नंगा चित्र ब्रिटिश जनता के सामने रखना चाहते थे; उनका विश्वास था कि जेलों के भीतर एवं बाहर कांग्रेस कार्यकताओं पर सरकारी कर्मचारी जो पशुतापूर्ण अत्याचार कर रहे थे, उसका प्रामाणिक विवरण पाकर ब्रिटिश पार्लमेंट भारत सरकार की दमन-नीति को पलटने के लिए उसे बाध्य करेगी। एतदर्थ वह स्मृति-पत्र तैयार कर रहे थे, जिसके लिए पंजाब जाने के एक दिन पहले *लीडर* के सम्पादक से उस पत्र की एक बड़ी फाइल उन्होंने इस लेखक के द्वारा मँगवा ली और इस संग्रह का कार्य पंजाब के समस्त भ्रमण में जारी रखा।

महामना मालवीय जी के आगमन से सारे पंजाब में आशा और उत्साह की एक लहर दौड़ गयी। लाहौर स्टेशन पर उनका शानदार स्वागत हुआ और लाला लाजपतराय की सर्वेंट्स ऑव पीपुल्स सोसाइटी का भवन उनका मुख्य कार्य-स्थल बनाया गया। उस समय स्वयं पंजाब केसरी लाहौर के सेंट्रल जेल में बन्द थे, जहाँ उनसे मालवीयजी ने शीघ्र ही भेंट की। लाहौर ही से समस्त पंजाब का मालवीय जी का तूफ़ानी दौरा आरम्भ हुआ, जिसके प्रबन्धकर्ता पंजाब कांग्रेस के मंत्री डाक्टर परशुराम और अमृतसर के नेता सरदार मेहतावसिंह सर्वत्र उनके साथ रहे।

इस राजनीतिक यात्रा में मालवीय जी पंजाब के प्रायः सभी प्रमुख स्थानों और सुदूर पेशावर तक गये। उस समय उनकी अवस्था इकसठ-बासठ साल की थी, पर उन्होंने विश्राम का नाम नहीं लिया। वस्तुतः उनके लिए आराम हराम था। एक ही धुन थी और एक ही लगन, अनुत्साह की जगह उत्साह भरना, गिरती हुई आत्मा को उठाना, देशभक्ति की भावना को जाग्रत रखना और नौकरशाही के अत्याचारों का तथ्यपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना। वह जहाँ कहीं जाते, सार्वजनिक सभाओं में अपनी मधुर और आकर्षक वक्तृता से लोगों को कांग्रेस का मंतव्य समझाते और देशभक्ति के मार्ग पर दृढ़ रहने का उपेदश करते एवं कांग्रेस कार्यकर्ताओं की निजी बैठकों में उन्हें शान्तिपूर्वक कांग्रेस के कामों को करते रहने के लिए प्रेरित करते। लाहौर से, जो मालवीयजी का केन्द्र स्थान था, उन्होंने मोगा, कसूर, भिवानी, हिसार, जालन्धर, रावलपिंडी, लुधियाना, अमृतसर, सियालकोट, अम्बाला, खरर, रूपर, बटाला, और पेशावर आदि नगरों के दौरे करके लोगों में एक स्फूर्ति पैदा कर दी। इस भ्रमण के

मध्य में बटाला में प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन हुआ, जिसके अध्यक्ष थे माननीय विट्ठलभाई पटेल, जिन्होंने व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष पद को सुशोभित करते हुए निर्भीकता, निष्पक्षता और दक्षता का वह महान् आदर्श स्थापित किया, जो किसी भी अध्यक्ष के लिए सर्वदा के लिए एक स्पृहणीय तथा अनुकरणीय उदाहरण रहेगा। इस सम्मेलन में भी मालवीय जी ने भाग लिया और लोगों को अपने भाषण से प्रभावित किया।

जालन्धर में रायजादा हंसराज के भवन में मालवीय जी के ठहरने का प्रबन्ध था, रायजादा हंसराज उस समय जेल में थे। यहाँ पर देखने में आया कि पंजाब की महिलाएँ कितनी आगे बढ़ी हुई थीं। एक महती सभा हुई, जिसके अध्यक्ष थे हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द। महिलाओं की ख़ासी बड़ी उपस्थिति थी, जिसमें जालन्धर कन्या महाविद्यालय की छात्राओं का विशिष्ट स्थान था। जिस श्रद्धा और उत्साह के साथ उन्होंने मालवीय जी की आरती उतारी और देशभक्ति का प्रदर्शन किया, वह स्पष्टतया प्रकट कर रहा था कि वे भारतीय संस्कृति की मर्यादा की रक्षा करेंगी।

कई शहरों में महात्मा मालवीय जी के आगमन पर सार्वजनिक सभाओं पर भारतीय दण्ड विधान की धारा 144 के द्वारा निषेध लगा दिया गया था। अम्बाला स्टेशन पर गाड़ी से उतरते ही उनके हाथ में किसी उच्च पुलिस कर्मचारी ने उर्दू में नोटिस रखी, जिसमें उनके नाम के आगे मालवीय के स्थान में 'मौलवी' शब्द लिखा था, जिस पर हँसी हुई। मालवीय जी चाहते, तो इस आज्ञा को न मानते, परन्तु क़ानून तोड़ कर जेल जाने का उनका उद्देश्य उस समय न था और अम्बाला में किसी सार्वजनिक सभा का आयोजन नहीं हुआ। किन्तु पंजाब के नेता लाला दुनीचंद के स्थान पर प्रमुख कार्यकर्ताओं की एक ख़ासी अच्छी बैठक में मालवीय जी ने राजनीतिक स्थिति तथा आवश्यक कार्यक्रम के विषय पर कई घण्टे विचार-विमर्श करके जो करना था, उसे पूरा कर लिया। अम्बाले से ही मालवीयजी रूपर और खरर भी गये, जहाँ नौकरशाही ने बहुत अत्याचार किया था। अप्रैल समाप्त होते-होते मालवीय जी पेशावर पहुँचे, जहाँ अम्बाला की तरह उनके सार्वजनिक भाषण पर दफा 144 की निषेधाज्ञा लागू की गयी थी। पेशावर निकट आने पर रेल से आप साँप की चाल चलती हुई काबुल नदी को देख सकते हैं, जिसका उल्लेख वेद में आता है। यहाँ राधाकृष्णन संस्कृत पाठशाला में उनके ठहरने की व्यवस्था की गयी थी और उसी में उन्होंने स्थानीय तथा बाहर से आये हुए कार्यकर्ताओं से स्थिति का परिचय प्राप्त किया और उनको तत्कालीन कर्त्तव्यों का निर्देशन किया। पेशावर छोड़ने के पहले मालवीय जी ने इस्लामिया कालेज का निरीक्षण भी किया।

राधाकृष्ण पाठशाला में शुचि-व्रत मालवीय जी के व्यक्तिगत शुद्धता-सम्बन्धी जीवन की दृढ़ता को देखने का एक विशेष अवसर उपस्थित हुआ। यों तो वह साधारणतः बड़े प्रातः साधारण तौर पर स्नान कर के संध्या-वन्दन करते ही थे। बाद को जल से स्नान करने के पूर्व सारे शरीर में देर तक चमेली के तेल की मालिश करते थे, जिसे तेल-स्नान कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी। इससे उनका शारीरिक व्यायाम हो जाता था। पेशावर में चमेली की बोतल रिक्त देख कर इस लेखक और मालवीयजी के रसोइये ने बाज़ार से नयी बोतल मँगा ली। उनकी दृष्टि ख़ाली बोतल पर पहले पड़ चुकी होगी, नयी बोतल मँगाने की बात सुनकर उसे तेल सहित उन्होंने अपने सामने फिंकवा दिया, क्योंकि सम्भवतः उस बोतल में कभी शराब रखी गयी हो। यह था उनका मद्य-विषयक विचार और खाद्य और अपेय वस्तुओं के परित्याग से शुद्धता का रक्षण।

अप्रैल-मई की पजाब की भीषण गर्मी और उसमे लगभग दो महीने का निरन्तर भ्रमण। इसके कारण पूज्य मालवीयजी का शरीर अत्यन्त शिथिल हो गया और मरी शैल पर कुछ दिन विश्राम कर लेना अत्यावश्यक हो गया। अतएव पेशावर से वह 4 मई को मरी के शीतल स्फूर्तिदायक शिखर पर जा पहुँचे। पेशावर से इधर कुछ ही दूरी पर तक्षशिला के ध्वंसाशेष देख लेना उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ—वह तक्षशिला, जहॉ के विश्वविद्यालय मे प्राचीन काल में चाणक्य कौटिल्य ने विद्याध्यन किया था। यद्यपि मरी में मालवीय जी का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और काग्रेस-सम्बन्धी पत्र व्यवहार जारी था और दीवान चिम्मन लाल तथा अन्य उनसे मिलने आया करते थे, तथापि उन्हें टहलने और विश्राम करने के लिए पर्याप्त समय मिल गया और दस ही दिनों में उनके शरीर में यथेष्ट स्फूर्ति आ गयी।

सिख गुरुओं की भक्ति

महामना मालवीय जी की जिह्वा पर मानों सरस्वती का वास था, जिसने उन्हे वह माधुर्यपूर्ण ओजस्विनी वाग्मिता दी थी कि सभाओं में धाराप्रवाह बोलते हुए जब चाहते, श्रोताओं को हँसा अथवा रुला सकते थे। ऐसा एक भाषण उन्होंने मरी के सिख गुरुद्वारा में किया और देश की गिरी दशा का वर्णन कर जब सिख गुरुओं के नाम ले-लेकर उनका आह्वान करते हुए उनसे उन्होंने देशोत्थान के लिए श्रोताओं को प्रेरणा देने की मॉग की तो स्वयं उनकी ऑंखों से अश्रु बह चले और उस बड़ी सभा में कदाचित ही कोई ऐसा रहा, जिसने ऑसू न बहा दिये। उस समय 'सिर जाये तो जाय प्रभु मेरो धरम न जाय' तथा गुरुओं के इस प्रकार के दूसरे वचन सुनाते-समझाते वह किसी सिख धर्मोपदेष्टा के प्रतीक-से लग रहे थे। यही कारण है कि उनके प्रति सिखों की श्रद्धा असीम थी।

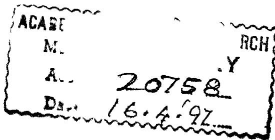
15 मई को मालवीय जी मरी से रावलपिंडी उतर आये, जहाँ सायंकाल एक विशाल सभा में उनका लम्बा भाषण हुआ, जो जहाँ तक स्मरण है, इस भ्रमण में उनका अन्तिम सार्वजनिक भाषण था। इस यात्रा के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि मार्ग के सभी स्टेशनों पर पूज्य पण्डितजी के दर्शनार्थ लोगों की भीड़ लग जाती थी और उनके प्रति पंजाबियों की अटूट श्रद्धा का आभास मिलता था। मार्शल लॉ एवं जलियॉवाला बाग के नरसंहार से संतप्त पंजाबवासियों की मालवीयजी ने जो अमूल्य सेवाएँ की थी, उनसे उन्होंने उनके हृदय जीत लिये थे। सिखों का उत्साह सर्वोपरि लक्षित होता था और उनके सत्श्री अकाल के आकाशव्यापी नारे उनके अदम्य उत्साह की अभिव्यक्ति करते-से लगते थे।

लोकमान्य की सराहना

पंजाब का आवश्यक काम समाप्त हो चुका था। असम की यात्रा करने की तीव्रता थी और युक्त प्रदेश कांग्रेस कमेटी तथा प्रांतीय खिलाफ़त कमेटी की बैठक आनन्द भवन में 20 या 21 मई को होने जा रही थी। उनमें सम्मिलित होने के लिए महामना मालवीयजी ने, जहाँ तक स्मरण है, 18 मई को लाहौर से प्रस्थान किया। उनकी विदाई में भाई परमानन्द की अध्यक्षता में सर्वेंट्स ऑव पीपुल्स सोसायटी के शिक्षणार्थियों ने एक साधारण जलपान का आयोजन किया था, जिसमें एक सामान्य पर महत्त्वपूर्ण बात हुई, जिसका उल्लेख मालवीयजी के

महान् हृदय का परिचय देने के लिए आवश्यक है। आयोजन एक पारिवारिक गोष्ठी के रूप में था, जिसमें राजनीति पर वार्तालाप के बीच ब्रिटिश कूटनीति की चर्चा चल पड़ी। महामना मालवीयजी ने इस प्रसंग में यह कह कर कि अंगरेज़ों की चाल को जैसा लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने परख पाया था, वैसा स्वयं उन्होंने अथवा गाँधीजी ने पहले नहीं समझा था, तिलकजी की विलक्षण बुद्धि की सराहना की।

(सरस्वती, दिसम्बर, 1961)



उपनिषद् रहस्य : संक्षिप्त परिचय

जैसा कि नाम से ही प्रकट है, *उपनिषद् रहस्य* उपनिषदों का रहस्य प्रकाश करने वाला ग्रन्थ है। यह रहस्य क्या है, और इसको यह किस प्रकार प्रकाशित करता है, इसे हम आगे चल कर बतायेंगे। अभी वक्तव्य है कि यह दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग की टंकित पाण्डुलिपि 1961 पृष्ठों में तथा दूसरी की भी लगभग इतने ही पृष्ठों में सम्पूर्ण होती है, जिससे कह सकते हैं कि आकार की दृष्टि से यह एक बड़ा ग्रन्थ है। *उपनिषद् रहस्य* किसी एक प्राचीन अथवा उत्तरकालीन उपनिषद् के रहस्योद्घाटन का प्रयास नहीं है, अपितु *मुक्तिकोपनिषद्* में गिनायी गयी *ईशावास्योपनिषद्* से लकर *मुक्तिकोपनिषद्* तक समस्त 108 उपनिषदों की कुछ-न-कुछ अत्यावश्यक बातें और उनका रहस्य बताना इसका उद्देश्य है। इसके सिवा, यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए नहीं, साधारण पढ़े-लिखे लोगों को दृष्टि में रख कर लिखा गया है। फलतः उपनिषद्-जैसे गूढ़ और रहस्य भरे विषय को मन्द बुद्धि वालों की समझ के योग्य रचने में प्रासंगिक दृष्टान्त आदि से ग्रन्थ को समलकृत करने में भी इसका कलेवर सहज ही बढ़ गया है।

15-16 वर्ष की आयु में आज से लगभग सत्तर साल पहले जब हम वैदिक संस्कृत की कौन कहे, सामान्य संस्कृत से भी सर्वथा अनभिज्ञ थे, एक मनस्वी पुरुष ने हमारे हाथ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के वेद व्याख्याता पं. भीमसेन शर्मा कृत *कठ उपनिषद्* की टीका देकर हमें उसे एक सनातन धर्म सभा के सदस्यों को प्रति रविवार सुनाने का आदेश उस समय दिया, जब हमने उपनिषद् का नाम भी नहीं सुना था। तथापि इस संयोग से हमारे हृदय में उपनिषदों में श्रद्धा का आवेश हुआ, जो अमिट सिद्ध हुआ और इसी प्रकार आगे चलकर पूज्य गुरुवर महामहोपाध्याय पं. गंगानाथ झा के अन्तेवासी के रूप में एवं पूज्यपाद महामना मालवीयजी के सान्निध्य में रहकर किस प्रकार वह श्रद्धा अंकुरित हो, उपनिषदों पर कुछ लिखने की आकांक्षा में परिणत हुई, इसे *उपनिषद् रहस्य, भाग 1* की प्रस्तावना में सविस्तार दिखाया गया है।

किन्तु यहाँ हम इस ग्रन्थ के विषय में एक अत्यन्त संक्षिप्त विवरण ही चार छह इने-गिने मेधावी पुरुषों को उनका साधु प्रसाद पाने के लिए सुनाना चाहते हैं, जिनके पास लम्बी कथा सुनने का समयाभाव है, तथापि जिनमें सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धि से थोड़े में ही सारे सार को खींच लेने की शक्ति है।

अस्तु, *उपनिषद् रहस्य भाग 1* चार अध्यायों का है, जिनमें चौथा अध्याय जो दोनों भागों में सबसे बड़ा है, लगभग छह सौ पृष्ठों का है और सम्पूर्ण *कठ उपनिषद्* का सामान्य अर्थ के सिवा पूरा भाष्य है, जो स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में भी प्रकाशित किया जा सकता है। इसी में कठ उपनिषद् के मंत्र—*यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे*

भक्त ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्थावेद यत्र सः (1-2-25) में निहित 'ब्रह्मबल' के दृष्टान्त में वाल्मीकीय रामायण में वर्णित विश्वामित्र वशिष्ठ की लड़ाई और घोर तप करके विश्वामित्र द्वारा ब्रह्मत्व पद प्राप्त करने की कथा का विवरण मिलेगा और प्रसंगत उस कथा का रहस्य बताकर इस भ्रम को दूर करने का प्रयास किया गया है कि इस दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि इसी जन्म में ब्रह्मज्ञान के बिना जाति परिवर्तन शास्त्रानुमोदित है।

इसी अध्याय में ***कठ उपनिषद्*** के अध्याय 2 की वल्ली 3 के संसार वृक्ष के वर्णन को *गीता* अध्याय 15 के संसार वृक्ष की तुलना में प्रोफ़ेसर रानाडे ने ए **कान्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव दि उपनिषदक फिलॉसाफी** में परस्पर विरोधी सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु हमने दिखाया है कि शांकर भाष्य के देखने से यह आक्षेप निर्मूल सिद्ध होता है। दोनों वर्णन at logger-heaDs$ नहीं, एक ही सनातन मूल तत्त्व के द्योतक हैं। अध्याय 1 में वेदों, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों से उपनिषद् का सम्बन्ध उनकी नामावली और कालादि का निर्णय तथा उन्हें श्रुति क्यों कहते हैं, इत्यादि विषयों के निरूपण के सिवा प्रसंगवश कालिदास के 'मंत्रकृतां ऋषीणाम्' से उत्पन्न समस्या का कि ऋषि मंत्रों के द्रष्टा व अथवा कर्ता, समाधान तो किया ही गया है; इस अध्याय की जो विशेषता है, वह उपनिषद् की व्याख्या है—एक 'उपनिषद्' शब्द ही इतना सार्थक है कि 'उपनिषदों' के मर्म को व्यक्त करने में अकेले सक्षम है।

परन्तु मैक्समूलर और डायसन जैसे प्रसिद्ध लेखकों तथा कतिपय भारतीय लेखकों ने यहाँ की परम्परा से परिचित आद्य शंकराचार्य जैसे उपनिषद्वेत्ताओं की परिभाषा से हटकर 'उपनिषद्' शब्द की सार्थकता को ठेस पहुँचायी है। भाग 1 के प्रथम अध्याय में उन ग्रन्थकारों की, विशेषतः प्रोफ़ेसर डायसन की व्याख्या की, जो उपनिषद् वाक्यों में यद्यपि समलंकृत हैं, तथापि अयथार्थ हैं—समीक्षा करके हमने दिखाया है कि किस प्रकार अनेक उपनिषदों में शंकराचार्य ने उपनिषद् की जो व्याख्या की है, वही उपनिषदों में यत्र-तत्र उपलब्ध मंत्रों से भी समर्थित है। इससे ग्रन्थ का विस्तार होता तो है, परन्तु वह ग्रन्थ ही किस काम का, जो अज्ञान को मिटाने में सहायक न हो। 'उपनिषद्' शब्द को जिसने समझ लिया, उसके लिए उपनिषदों का सार ग्रहण करना सुगम हो जाता है।

मुक्तिकोपनिषद् की सूची के अनुसार प्रामाणिक उपनिषदें 108 ही हैं, जिनका उपदिष्ट ज्ञान सनातन है तथा जो ऋगादि मंत्रों की तरह श्रुति हैं। परन्तु उनकी शब्दराशि विभिन्न समयों पर कही अथवा सुनायी गयी। इन समयों का निर्धारण अटकल के सिवा ठीक-ठीक आज तक कोई नहीं कर सका है। अटकल-पच्चु काल निश्चय के स्थान में इस ग्रन्थ में सप्रमाण बताया गया है कि यह 108 उपनिषद् आदि शंकराचार्य के समय विक्रम सं. 845-877 में अस्तित्व में थे। अतएव इनसे कम पुराने नहीं हो सकते। उपनिषदें श्रुति हैं तथा ब्रह्म विद्या अथवा आत्म विद्या, जो उनका प्रधान विषय है, वे संहिताओं में मूल रूप से वर्तमान हैं और उपनिषदों में वह विशदीकृत हैं, यह सब विस्तार पूर्वक दिखाया गया है।

जैसा शंकराचार्य कहते है : 'द्वैत उपदेशाई नहीं है', उपदेश अद्वैत का ही होता है। कौन मनुष्य है जो

नहीं जानता कि वह एक नही, अनेक में है, यानी उसके सिवा असंख्य नर-नारी हैं, जगत है और ईश्वर और देवी देवता भी हैं। इतना ही नहीं, सभी जानते हैं कि मनुष्य जन्म लेता, यौवन और वृद्धत्व को प्राप्त होता, सुखी और दुखी होता और काल के गाल में पड़ता है। यह सब कैसे और किस प्रकार होता है और इसमें हेर-फेर करने के क्या उपाय हैं, इसे बताने वाले सैकड़ों शास्त्र सृष्टि के आदि काल से आधुनिक काल तक रखे गये हैं, जो सब-के-सब द्वैत बोधक अपरा विद्या के ही विषय हैं तथा जो न्यूनाधिक मात्रा में सबकी बुद्धि में आसानी से आ सकते हैं।

किन्तु जो नितान्त अन्तिम सत्य और सनातन तत्व हैं, परन्तु जिसे सुनकर कुछ लोग असत्य और मिथ्या मानते हैं, तो जिसे सुनकर कुछ श्रद्धालु पुरुष केवल आश्चर्यचकित तो होते हैं, परन्तु उसे पाने की बात दूर, उसे जानने का भी प्रयास नहीं करते, वही 'एकमेवाद्वितीयं सत्' उपनिषदों का अपना विषय है। इसे ही ब्रह्म विद्या अथवा आत्म विद्या वा उपनिषद्विद्या या पराविद्या अथवा वेदान्त आदि नामों से उपनिषदों ने प्रख्यात किया है। वेदान्त का अर्थ वेदों का अन्त अर्थात अन्तिम भाग नहीं है, अपितु सभी वेदों का जो अन्तिम सिद्धान्त है, उसको मुंडक, श्वेताश्वेतर और कैवल्यादि उपनिषदों में वेदान्त नाम दिया गया है। वेदान्त और उपनिषद् समानार्थक हैं; इसके विपरीत कहने वाले न वेदान्त को समझते हैं, न उपनिषदों को। आत्मतत्व में द्वैत-अद्वैत, शुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि भेद उपनिषदों में कहीं नहीं मिलते। जबतक एक द्वितीय सत् का मनुष्य को साक्षात ज्ञान नहीं होता, तभी तक द्वैत भी रहता है। यह सच है कि सभी शिष्य नचिकेता या सत्यकाम जाबाल की तरह मेधावी नहीं होते और इसलिए मनुष्यों की बुद्धि के क्रमिक विकास और उनकी रुचि को दृष्टि में रखकर उपासनार्थ साधन भेद उपनिषदों में देखे जाते हैं, परन्तु इससे साधन को साध्य मान कर किसी शास्त्र के पूर्वापर सन्दर्भ को दृष्टि से ओझल करके उसके वाक्यों में से मनोनुकूल अर्थ दुहने का अधिकार किसी को नहीं मिल जाता। तो उपनिषदों का—किसी एक प्राचीनतम और प्रधान उपनिषद् का नहीं, बल्कि समस्त 108 उपनिषदों का, उन उपनिषदों का भी, जिनमें पातंजल योग शास्त्र का पूर्ववर्ती रूप योग का विशेष विवरण है और उन उपनिषदों का भी, जिनमें भक्ति का प्राधान्य दिखायी देता है—सार सिद्धान्त उस मनुष्य को, जो अपने को मर्त्य-धर्मा, सुखी-दुखी आदि संसारी अल्पज्ञ जीव मानता है, यह सुनिश्चित संदेश है, तू तब था, जब न सत् था और न असत् था, न आकाश था और न स्वर्ग था, यह सारा विश्व-प्रपंच भी न था। अरे! जाग! किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से परिप्रश्न करके अपने सच्चे-स्वरूप को समझ ले कि तू कौन है? तब तुम्हारी जो बुद्धि तुम्हें मर्त्यधर्मा निर्दिष्ट करती थी, वह निवृत्त हो जायेगी और तू अनुभव करेगा कि तू वह ब्रह्म है जो 'सर्व' है और जहाँ से यह सारा विश्व-प्रपंच निकलता है, जिसके कारण स्थिर रहता और जिसमें काल पाकर विलीन हो जाता है। उस समय तू ऐसे आनन्द से परिपूर्ण हो जायेगा, जो न सुख है, न दुख है, परन्तु जिसके वर्णन के लिए आनन्द से अधिक उपयुक्त शब्द मानवकृत कोश में है भी नहीं। यह आनन्द ही 'भूमा' है, यही सच्चा तथा 'अनिर्देस्य' सुख है और यही अमृत आत्मा और यही ब्रह्म है (छा. 8-14-1।) अपने आत्म स्वरूप के अज्ञान के मिट जाने और विस्तृत स्वरूप की पुनः स्मृति हो जाने पर तुमको जो अभय पद मिलेगा, वह तुम्हें इस शरीर के रहते तुम्हें अशरीरी, अविनाशी विरज और ब्रह्म बना देगा।

यह है सारे उपनिषदों का रहस्य।

कुछ लोग कहेंगे गप, भारी गप। किन्तु बड़े सौम्य और शान्त भाव, से पूर्णतया निर्विकार रूप से उपनिषद् कहती है अरे! यह गप नहीं और न आश्चर्य मात्र है, बल्कि ध्रुव सत्य है। तू अपने को पहचान कि तू कौन है। तू अपने स्वरूप को भूल गया है; तू अपने को जान लेगा, तब तू समझ जायेगा कि तेरे सिवा अन्य ईश्वर या ब्रह्म नहीं है, तू जन्म-जन्मान्तर की वासनाओं तथा वर्तमान जन्म में कर्म और परिस्थितियों में पड़ कर इन हाथ, पैर, नाक, कान, रक्त और अस्थि पंजरमय देहेन्द्रिय संघात को 'मैं' अर्थात् आत्मा समझ बैठा है और नहीं जानता कि तू इनसे भिन्न वह आत्मा है, जो स्वयं सर्व प्रमाणनपेक्ष ब्रह्म है। मृत्यु देव स्पष्ट शब्दों में कट्टर से कट्टर चार्वाकों और मार्क्सवादियों की जुबान को भी बन्द करने के लिए उद्घोष करते हैं :

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।
अस्तोत्युपलब्धव्यस्तत्व भावेन कोभयोः।
अस्तीत्युपलब्ध-स्यतत्वभावः प्रसीदति।।

जो कहता है कि आत्मा है अथवा उसके अस्तित्व को नकारता है, वह स्वयं आत्मा अर्थात् ब्रह्म है। प्रत्यक्ष से लेकर 'शब्द प्रमाण' तक सभी प्रमाणों को अविश्वसनीय मानने वाला भी अपने अस्तित्व का निराकरण नहीं कर सकता। *येहि निराकर्ता से एव सः। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि* (ईश. 15), *अयमात्मा ब्रह्म* (मा. 2), *तत्वमसि* (छा. 6, 8, 9), *अहं ब्रह्मास्मि* (बृ. 1-4-10) इत्यादि महावाक्य यही बताते हैं। तत्वमसि के अभिप्राय को कैवल्य और मण्डल ब्राह्मणोपनिषदों में 'तत्वमसि' तत् त्वं असि, त्वम् एवतत् कै. 1.16 वाक्यों द्वारा विस्पष्ट करके उसके अर्थ के विषय में विवाद के लिए स्थान नहीं रहने दिया है। तथा इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने *एषः आत्मा सर्वान्तरः* (बृ. 4/4/1)—यह सर्वान्तर आत्मा तेरी आत्मा है, कह कर अशेष सन्देह भी दूर कर दिया है। यही ब्रह्मात्मैक्य है, जिसके तत्त्व ज्ञान के बिना परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। उपनिषदों के उपदेश का जो मुख्य प्रयोजन है, उस पर जैसा और जितना प्रबल बल और आग्रह देना चाहिए, हमें समस्त हिन्दी साहित्य में उसका अभाव मिलता है। *उपनिषद् रहस्य* में उपनिषदों में उपलब्ध प्रायः सभी पहलुओं पर कुछ-न-कुछ कहा गया है। परन्तु—*उपक्रमोप संहारौ अभ्यासो अपूर्वता फलम्*—के अनुसार 'अभ्यास' नियम का पालन पँदे-पदे किया गया है और इसे समझने के लिए साहित्यिक पांडित्यपूर्ण भाषा से दूर रह कर ऐसी भाषा से काम लिया गया है, जिससे साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी इस गूढ़ विषय को सुगमतापूर्वक समझ जाये। हमें विश्वास है कि यह शैली भी इस प्रयास की एक विशेषता है।

आजकल प्राचीन उपनिषदों की भाषा दुरूह लगती है, किन्तु जिन विभिन्न कालों में उनका प्रणयन अथवा प्रवचन हुआ होगा, उस समय उसके समझने की समस्या नहीं हो रही होगी। आज भी संस्कृत ज्ञान को मनोयोगयुक्त करने से कोई भी उनके सन्देश को समझ सकता है। एक भ्रम जो लोगों में प्रचलित है, वह यह है कि उपनिषदों का समझना इस युग के लोगों के लिए सम्भव नहीं है। यह भ्रम मात्र है। उपनिषदें, गीता और ब्रह्म सूत्र की मूल हैं। बुद्ध की शिक्षाएँ भी उपनिषदिक ज्ञान से अप्रभावित नहीं हैं और इस ग्रन्थ से पता लगा कि *श्रीमद्भागवत्* तथा *रामचरितमानस* जैसे ग्रन्थ तो पदे-पदे उनके सिद्धान्तों से ओत-प्रोत हैं।

<u>अध्याय 2 में</u> उपनिषदों की सार्वभौमिकता का विवेचन है, जिसके मत विवादास्पद हो सकते हैं। इसमें

सम्भवतः किसी को आपत्ति नहीं कि उपनिषदें जिस ब्रह्म विद्या का उपदेश करती हैं, वह सनातन है। परन्तु वह श्रुति तथा सार्वभौम हैं—यानी सभी देश और जातियों के मनुष्य उसका श्रवण और मनन कर सकते हैं, यह विषय विवादास्पद हो सकता है कि वेद संहिताओं के अध्ययन में शूद्रों को अधिकार है अथवा नहीं। यह प्रश्न वैदिक युग में विवाद का प्रश्न न भी रहा हो, किन्तु बाद को विवादास्पद था ही। ब्रह्म सूत्रों का 'अपशूद्राधिकारण' इसका प्रबल प्रमाण है। वैदिक संहिताओं के सम्बन्ध में जो भी नियम रहे हों, उपनिषदों के विषय में हमने इस अध्याय में उनके अन्तः साक्ष्य से विस्तारपूर्वक दिखाने का भरपूर प्रयास किया है कि ब्रह्मविद्या प्राप्ति में शूद्रों तथा मनुष्य मात्र को समान अधिकार है। गार्गी और मैत्रेयी आदि के कारण किसी को यह कहने का साहस नहीं होता कि ब्रह्मविद्या में नारी जाति का अधिकार नहीं है, किन्तु *छान्दोग्य उपनिषद्* में उपलब्ध सत्यकाम जाबाल और राजा जानश्रुति आदि की कथाओं को लेकर इस विषय में जो विवाद उठे हैं, उनकी समीक्षा इस अध्याय में करके इस मत को दृढ़ किया गया है कि ब्रह्मविद्या में शूद्रों का भी अधिकार है। इसी प्रसंग में हमने जो यह दिखाया है कि 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में तीन अर्थों में हुआ है, वह अपूर्व माना जा सकता है। हमने दिखाया है कि :

1. जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो वह अर्थात् जो जन्म से ब्राह्मण हो, वह ब्राह्मण है।
2. चाहे जिस देश व जाति में उत्पन्न हो, किन्तु जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म का साक्षात कर लेता है, वह भी ब्राह्मण है, तथा
3. जो इस प्रकार का ब्राह्मण होना चाहता है, वह भी उपनिषदों में ब्राह्मण कहा गया है।

मुंडक उपनिषद् में मंत्र परीक्ष्य लोकानकर्म चिन्तान्ब्राह्मणो (1.2.12) में निर्दिष्ट 'ब्राह्मण' जन्मजात ब्राह्मण नहीं हैं। वह संसार से मुक्त होकर ब्रह्मज्ञ ब्रह्मभूत ब्राह्मण बनने की तैयारी करने वाला कोई भी मुमुक्षु है। जन्मजात ब्राह्मण ऋषि अंगिरा इस मंत्र का उपदेश सीमित करना चाहते होते, तो उद्दालक समेत सुकेशा आदि ब्राह्मणों को केकय नरेश अश्वपति वैश्वानर विद्या का उपदेश कैसे करते और वेदज्ञ गार्ग्य बालाकि को काश्य अजाशत्रु आत्म ज्ञान कैसे कराते अथवा व्यास द्वारा प्रेषित शुक को क्षत्रिय जनक कैसे ब्रह्मोपदेश करते? ब्राह्मण शब्द की उपर्युक्त परिभाषा किये बिना इन प्रसंगों का समाधानकारक उत्तर नहीं दिया जा सकता। उपनिषदें बड़ी कठोरता के साथ सत्य का अन्वेषण करती हैं। इसके लिए सभी पूर्वाग्रहों का त्याग अनिवार्य है।

तीसरे अध्याय में ब्रह्मनिरूपण है, जिसमें ब्रह्म की सत्ता के प्रमाण में *कठोपनिषद* के उपर्युक्त मंत्र को देकर उसे स्वयं सिद्ध तथा सर्वप्रमाणानपेक्ष कहा गया है। इसी अध्याय में *तैत्तिरीय उपनिषद्* की ब्रह्मानन्द वल्ली और भृगुवल्ली का सविशेष विवेचन है। ब्रह्मानन्द वल्ली का जो अहम सत् चित्, और अनंत है, वही कैसे भृगुवल्ली में आनन्द रूप हो जाता है, उसका निरूपण उसमें विस्तारपूर्वक मिलेगा। इस उपनिषद् में वर्णित पंचकोशों को अच्छी तरह समझाया गया है और इसके जो भ्रामक अर्थ थियोसोफीवालों ने प्रचारित किये हैं, उनकी भूल बता दी गयी है। जिस आनन्द को ब्रह्म का प्रधान लक्षण बताया जाता है, उसका स्वरूप निरूपण इसी अध्याय में तैत्तिरीय, कठ, मुंडक, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कैवल्य और मैत्रेयी इत्यादि के विचारों सहित उपबृंहित किया गया है। साथ ही आनन्द अर्थात सुख के तात्पर्य के विषय में उपनिषदिक भावधारा के अनुसार तिलक और टैगोर

के विचार भी उद्धृत करके इस विषय को अधिक सुबोध करने का प्रयत्न किया गया है।

उल्लेखनीय है कि अपने ग्रन्थ *ए कॅन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ़ दि उपनिषदिक फिलासफी* में प्रोफ़ेसर रानाडे ने पंचकोशों के निरूपण के प्रसंग में शंकराचार्य पर यह आक्षेप किया है कि उन्होंने *तैत्तिरीयोपनिषद्* के भाष्य एवं अपनी स्वतंत्र रचना *स्वात्मनिरूपणम्* में पंचकोशों का क्या अभिप्राय है, इसे ठीक-ठीक बताया है और ठीक ही कहा है कि ब्रह्म आनन्दमय कोष अर्थात् Beatific consciousness से परे है, किन्तु तैत्तिरीय 3/6—*आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्*—के भाष्य में वे अपने इस मत से फिसल गये हैं। इसी प्रकार *दि प्रिंसिपल उपनिषद्स* के तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुवाद की टीका में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी तादृश शब्दों पर यह आरोप लगाया है कि वे तै. 3/6 के भाष्य में जो मत व्यक्त करते हैं, उससे उसके ब्रह्मसूत्र के भाष्य में वे फिसल गये हैं। हमने आचार्य शंकर के तैत्तिरीयोपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के शारीरिक भाष्य और स्वात्म निरूपणाय के मूल वचन को भलीभाँति परखा है और पाया है कि तैत्तिरीय 3/6 के भाष्य में इन दोनों मनीषियों ने शंकर के भाव को पकड़ने में चूक की है, जिससे उन्होंने वहाँ विसंगति ढूँढ़ी, जहाँ पूर्ण सुसंगति है। यह आलोचना की आलोचना साहसिक हो सकती है, फिर भी विचार-योग्य है।

उपनिषद् रहस्य भाग 2 में छोटे-बड़े लगभग पन्द्रह-सोलह अध्याय हैं, उनमें प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, ऐतरेय और कैवल्यादि कई उपनिषदों के सम्पूर्ण भाष्य हैं, जिनमें ब्रह्मात्मैक्य अर्थात् इस संसारी मनुष्य की आत्मा ब्रह्म है, का निरूपण है। चूँकि हम जानते हैं कि समस्त उपनिषदों की सारी शिक्षा का रहस्य मनुष्य को यही बताना है कि वह अपनी पहली भूल को सुधार ले कि वह मर्त्यधर्मा है और आत्मस्वरूप को पहचान कर अज, अमृत ब्रह्म हो जाये पर शंकराचार्य के सिवा अन्य टीकाकारों ने इस पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है। दूसरी उपनिषदों के आधार पर भी इस विषय का विवेचन हमने दूसरे अध्यायों में भी किया है।

साधना खण्ड

साधना खण्ड में उपनिषदों में निरूपित ध्यान योग, प्राणयोनादि योग, श्रद्धा, भक्ति आदि का विचार तो है ही, वह उपनिषद के मंत्र—*नाविरतो दुराचरितात्* 1-2-24—के अनुसार नीतिधर्म अथवा नैतिक आचरण को मोक्ष की प्रथम निसेनी मानकर उपनिषदों में जहाँ-जहाँ चरित्र सम्बन्धी विचार किये गये हैं, उनका एकत्र विवेचन किया गया है।

जहाँ तक उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान का प्रश्न है, हमने उनके अध्ययन से निष्कर्ष निकाला है कि अपने भाष्यों में शंकर ने उनकी सच्ची व्याख्या की है और इसलिए हमने उपनिषदों की जो व्याख्या प्रस्तुत करने का साहस किया है, वह प्रायः वैसा ही है। परन्तु भाग 1 के दूसरे अध्याय में शूद्रों के ब्रह्म विद्याधिकार के विषय में हमने उनसे स्पष्ट मतभेद प्रकट किया है और इस प्रकार आगे चल कर भाग 2—में पूर्ण ज्ञानी को सिद्धावस्था में यज्ञादिनियत कर्मो का स्वरूपतः त्याग कर देना चाहिए—आचार्य के इस मत के विपरीत *गीता* के कर्मयोग को वरीयता दी है। इस विषय में उपनिषदों के भाष्य में आचार्य ने अनेक मन्त्रों के संन्यासपरक अर्थ करके जहाँ यह निष्कर्ष निकाले हैं कि बिना स्वरूपतः कर्म त्याग किये मोक्ष नहीं मिलता, वहाँ लोकमान्य तिलक की

परिपाटी में हमने दिखाया है कि उपनिषदों में दोनों मार्ग निर्देशित हैं। *ईशावास्योपनिषद्* का मंत्र 2 तो अत्यन्त निर्णायक है, किन्तु कदाचित् कलियुग में कर्म संन्यास की पुनः स्थापना की धुन में आचार्य ने इसे कर्मयोगपरक नहीं माना है।

अन्त में निवेदन है कि *उपनिषद् रहस्य* लिखने से हमारी चिर-संभृत अभिलाषा की पूर्ति ही नहीं हुई है, हिन्दी साहित्य में वह एक ऐसे ग्रन्थ के अभाव की पूर्ति करता है, जिसमें सब उपनिषदों के मुख्य विषय का परिचय एकत्र मिल जाये और जिसमें मनुष्य जीवन के लक्ष्य तथा विश्व प्रपंच में उसके महत्तम स्थान के परिचय के साथ-साथ उस परम पद को प्राप्ति के साधनों का प्रामाणिक वर्णन भी सरल-सुबोध भाषा में जनता को सुलभ हो।

इस ग्रन्थ में, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, हमें मैक्समूलर और डायसन की आलोचना करनी पड़ी है और इसी तरह प्रोफ़ेसर रानाडे और डॉ. राधाकृष्णन के विचारों की भी हमने दो-तीन स्थानों पर दृढ़ता पूर्वक आलोचना की है। परन्तु हमने उनके विचारों से लाभ भी उठाया है। जहाँ तक उपनिषदिक तत्त्व ज्ञान का प्रश्न है, आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में तथा ईशादि ग्यारह उपनिषदों के भाष्यों में जो अर्थ तथा जो मत व्यक्त किये हैं, उनका हमने *उपनिषद् रहस्य* में उपयोग किया है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमने आँख मूँदकर उनका अनुसरण किया है। उपनिषदिक ज्ञानसम्पन्न ज्ञानी पुरुष को सिद्धावस्था में पहुँचने पर नियत कर्मों का स्वरूपतः त्याग कर देना चाहिए, आचार्य के इस तात्पर्य से असहमत होकर हमने उपनिषदों में निर्दिष्ट दोनों मार्गों का विवेचन किया है यानी दिखाया है कि उनमें, सिद्धावस्था में शास्त्रोक्त कर्मों को करें अथवा न करें, ये दोनों मत पाये जाते हैं और अन्ततः, गीता में उपदिष्ट फलाशा न रखकर आसक्ति रहित जिस कर्मयोग की विशेषता पर ज़ोर दिया गया है, उसे श्रेष्ठतर दिखाया है।*

(अप्रकाशित)

* त्रिपाठीजी ने *उपनिषद् रहस्य* का यह परिचय उस समय लिखा था जब इस ग्रन्थ को दो खण्डों में प्रकाशित करने का विचार था। बाद में सुविधा के लिए इसे तीन खण्डों में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

—सम्पादक

व्यक्तित्व

शब्दप्रसूनाञ्जलिः

रामनारायण त्रिपाठी

बस्त्याह्वे द्विजमण्डिते जनपदे रम्ये प्रकृत्याऽभितो
मूले पङ्क्तिकुलस्य पूज्यसरयूपारीणवंशे वरे।
शाण्डिल्यस्य गृहेऽग्नितेजनतया पूते शुभैः कर्मभिर्
जातश्'चन्द्रबली' त्रिपाठिमहितो गुण्यः सुशीलो महान्।। 1।।

तीर्थानामधिपे प्रयागनगरे जह्नवर्कजासंगमे
विद्वन्मण्डलमण्डिते श्रुतकले श्री विश्वविद्यालये।
गङ्गानाथगुरोः प्रसिद्धविदुषो लोकेषु सम्मानितात्
शास्त्रं सम्यगधीत्य दर्शनमलं लेभे परां वैदुषीम्।। 2।।

ग्रन्थग्रन्थिविमोचनेन नितरां छात्रान् सदा तोषयन्
वाग्मित्वेन सभाजयन् बुधसभां न्यायालयं युक्तिभिः।
सद्वृत्त्या प्रतिवेशिनश्च सुहृदो बन्धून् श्रयन् स्वात्मजनान्
शिष्टाचार विचारचारुचरितैः ख्यातिं परां प्राप्तवान्।। 3।।

गार्हस्थ्यं भजतापि येन मनसा स्वार्थं विना सेविताः
लोकानां सुखहेतवे बहुविधाः संस्था महान्तो जनाः।
राजन्ते विविधे पदेऽस्य तनया विद्यार्जवालङ्कृताः
कीर्त्या शोभनया दिशो धवलिता यैं शासने भ्राजितैः।। 4।।

व्याख्यानं समयानुसारममलं नूत्नाविरुद्धं च यः
श्रोतानां वचसां व्यधाच्च निपुणं गायत्रमर्थं नवम्।
अन्यानेककृतीश्च लोकसुखदाः शब्दप्रसूनाञ्जलि
तस्मैदत्त इमंबुधाय विनतोऽयं रामनारायणः।। 5।।

पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी

चन्द्रमौलि मणि

ऋषिकल्प पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी का जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती जनपद की खलीलाबाद तहसील के अन्तर्गत सेखुई उर्फ़ कोटिया ग्राम में एक साधारण, किन्तु सम्भ्रान्त ब्राह्मण परिवार में 21 नवम्बर, 1893 ई. (भौमवार, कार्तिक शुक्ल 13, सम्वत् 1950 वि.) को हुआ। यह ग्राम अब सिद्धार्थनगर जनपद की बॉसी तहसील के अन्तर्गत है। त्रिपाठीजी के पूर्वजों का मूल स्थान देवरिया जनपद का धतुरा ग्राम था। उनका कुल सरयूपारीण ब्राह्मणों में श्रीमुख शाण्डिल्य गोत्रीय त्रिपाठी वर्ग की मणि शाखा का है। कई पीढ़ियों से इस कुल में पढ़ने-लिखने की परम्परा नहीं थी। कृषि और पशु-पालन ही उनकी जीविका थी। विरले ही पढ़े-लिखे रहे होंगे। पूरे गॉव की यही दशा थी, बल्कि सारे निकटवर्ती क्षेत्र में निरक्षरता का साम्राज्य था। त्रिपाठीजी के पिता पण्डित कन्हैया मणि तिवारी निरक्षर थे। माता श्रीमती हरनामी देवी कैथी लिखना-पढ़ना जानती थीं। उनके पाँच पितृव्यों में एक पण्डित गोकुला तिवारी कुछ कैथी लिख-पढ़ लेते थे। गॉव के और दो-तीन पुरुष भी केवल कैथी लिखना-पढ़ना जानते थे।

आश्चर्य नहीं कि ऐसे वातावरण में त्रिपाठीजी 10 वर्ष की अवस्था तक निरक्षर रहे। त्रिपाठीजी का ननिहाल मगहर कस्बे में था। उनके मामा पण्डित गुदरी ओझा संस्कृत के अच्छे विद्वान थे एवं समृद्ध तथा सुसंस्कृत कायस्थों के सम्मानित पुरोहित थे। यहीं से उनकी माता कैथी का ज्ञान लेकर कोटिया गॉव में आयीं। चन्द्रबली त्रिपाठीजी के बड़े भाई भगवती, राजमणि और राजबली थे। एक अनुज थे शेषमणि और सबसे छोटे भदेसमणि, जो अल्पायु में ही चेचक के शिकार हो गये। अग्रज राजमणि का जन्म कोटिया में हुआ था, लेकिन दो वर्ष से लेकर सोलह वर्ष की अवस्था तक वे ननिहाल में पले और शिक्षित किये गये। मगहर के प्राइमरी स्कूल में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा पायी तथा गोरखपुर जनपद के मिनवा मिडिल स्कूल से हिन्दी तथा उर्दू में मिडिल परीक्षा पास की और बस्ती जिले के विस्कोहर के स्कूल में अध्यापक नियुक्त हो गये। किन्तु उनका पारिवारिक हित-चिन्तन इस प्रकार का था कि अपना कार्यभार सँभालते ही उन्होंने कोटिया से निकटस्थ प्राइमरी स्कूल बेलहर के प्रधान-अध्यापक मुंशी बृजलाल को पत्र लिखा कि त्रिपाठीजी तथा उनके अनुज शेषमणि को बुलाकर पढ़ायें। उन्होंने ऐसा न किया होता, तो त्रिपाठीजी जिस प्रकार दस वर्ष तक निरक्षर रहे, आजीवन खेत-खलिहान देखते रह जाते।

शिक्षा

त्रिपाठीजी ने प्राइमरी शिक्षा उत्तीर्ण करके 1908 ई. में वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल, खलीलाबाद में नाम लिखाया और मामा के यहाँ मगहर में रहने लगे। वहाँ से खलीलाबाद चार मील नित्य आना-जाना पैदल ही होता था। इस बीच उनके अग्रज ने अध्यापकी छोड़ कर गोरखपुर में कलक्टरी कचहरी में सरकारी नौकरी कर ली। वहाँ सारा काम उर्दू में करना पड़ता था। इस भाषा से उन्हें कोई चिढ़ तो नहीं थी, लेकिन वे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के सदस्य बन चुके थे और उनका हिन्दी प्रेम प्रगाढ़ था। खलीलाबाद से त्रिपाठीजी ने जो पहला पत्र भाई को लिखा, वह उर्दू में था। इस सन्दर्भ में त्रिपाठीजी *उपनिषद्-रहस्य* की प्रस्तावना में लिखते हैं, "जैसे आजकल भी अनेक भारतीय अंग्रेज़ी में ही पत्रादि लिखना शान समझते हैं, उन दिनों उर्दू में पत्र-व्यवहार शान की बात थी। उर्दू न हमारा पाठ्य-विषय था और न हमने उसे पढ़ा था। साधारण उर्दू में लिखना अनायास कैसे सीख लिया, इसे बता भी नहीं सकते। उत्तर में आदेश मिला—'पत्र हिन्दी में लिखा करो'। हिन्दी-प्रेम हमने इस आदेश से ही सीखा।"

जुलाई 1910 ई. से अप्रैल 1917 तक अर्थात् एफ.ए. तक उनकी शिक्षा गोरखपुर में हुई। यह वह समय था, जब आर्यसमाज और सनातन धर्म के उल्लासपूर्ण वार्षिक अधिवेशन हुआ करते थे। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों के विद्वान प्रचारक वेदों, उपनिषदों और शास्त्रों के उद्धरण देकर अपने-अपने मतों का मण्डन बड़े उत्साह से करते थे। इन व्याख्यानों ने त्रिपाठीजी में अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रति उत्कट अनुराग प्रदीप्त किया। यहीं पर उन्होंने 1915 ई. में गवर्नमेण्ट जुबिली हाई स्कूल से मैट्रिकुलेशन और 1917 ई. में सेण्ट एण्ड्रूज़ कॉलेज से एफ.ए. की परीक्षा पास की। 1917 ई. के जुलाई मास में बी.ए. की डिग्री के लिए उन्होंने म्योर सेंट्रल कॉलेज, प्रयाग में प्रवेश लिया तथा महामना मदन मोहन मालवीय द्वारा संस्थापित मेकडॉनेल यूनिवर्सिटी-हिन्दू वोर्डिंग हाउस में रहने लगे। वहीं म्योर कॉलेज में संस्कृत विभागाध्यक्ष महामहोपाध्याय डॉ. गंगानाथ झा से उन्हें संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिनके दार्शनिक ज्ञान एवं अगाध पाण्डित्य की ख्याति यूरोप तक फैली थी। उनके सानिध्य से त्रिपाठीजी की भारतीय दर्शन में अभिरुचि का विशेष विकास हुआ। 1919 ई. में बी.ए. पास होने पर दर्शन-शास्त्र लेकर एम.ए. करने का उन्होंने निश्चय इस विचार से किया कि पाश्चात्य दर्शन के साथ-साथ भारतीय दर्शन भी जान लेंगे। इस निश्चय के साथ समकाल में ही एल.एल.बी. करने का विचार जुड़ा था। किन्तु म्योर कॉलेज में भारतीय दर्शन के साथ एल.एल.बी. लेने की अनुज्ञा नहीं थी। स्थानीय ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज में निषेध तो नहीं था, किन्तु वहाँ कठिनाई यह थी कि पाश्चात्य दर्शन पढ़ाने के लिए जहाँ प्रो. मैनरी तथा लॉजिक के लिए प्रो. घोष-जैसे सुयोग्य अध्यापक थे, भारतीय दर्शन में मार्ग-दर्शन की कोई व्यवस्था नहीं थी। शिष्यों के हितकर्ता डॉ. झा ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे व्यक्तिगत तौर पर उनकी सहायता करते रहेंगे, परन्तु इसी समय क्वींस संस्कृत कॉलेज, काशी (आधुनिक डॉ. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) के प्रिंसिपल डॉ. थीबो के अवकाश ग्रहण करने से पण्डितजी प्रिन्सिपल नियुक्त होकर काशी चले गये। फिर भी वे वचन देते गये कि समय-समय पर काशी जाकर त्रिपाठीजी उनका पथ प्रदर्शन प्राप्त कर सकेंगे। एक बार त्रिपाठीजी उनके समीप पहुँचे, तो वे अपने पुराने रोग दमा से कष्ट में थे। उनके अनुरोध पर महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ

कविराज ने एक सप्ताह तक त्रिपाठीजी को *भामती* के कुछ अंश पढ़ाये, परन्तु मलेरिया से बीमार हो जाने के कारण बीच में ही त्रिपाठीजी को इलाहाबाद लौट आना पड़ा। म्योर कॉलेज में पण्डितजी के रिक्त स्थान पर संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक पं. ठाकुर प्रसाद द्विवेदी अस्थायी रूप से नियुक्त हो गये थे। उन्होंने त्रिपाठीजी की ब्रह्मसूत्रों पर शारीरिक भाष्य समझने में बहुत सहायता की। त्रिपाठीजी ने दर्शन शास्त्र से 1921 ई. में एम. ए. और एल.एल.बी. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। बाद में उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज से सन् 1923 में एल.टी. किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की विशारद परीक्षा भी पास की।

प्रयाग में त्रिपाठीजी मैकडॉनेल यूनिवर्सिटी हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहते थे। तब वहाँ के छात्र देश-सेवा एवं राष्ट्र-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हुआ करते थे। वहाँ के अनेक छात्रों ने बाद में राजनैतिक, प्रशासनिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में विशिष्ट ख्याति प्राप्त की। इसके संस्थापक मालवीयजी बहुधा यहाँ के छात्रों के बीच उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए आया करते थे। महामना के त्याग एवं सादगी से पूर्ण जीवन का त्रिपाठीजी-जैसे छात्रों पर विशेष प्रभाव पड़ा था।

कर्मक्षेत्र में प्रवेश

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा पास करते ही उन्हें उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गवर्नर के सलाहकार मि. फ्रीमैंटिल, आई.सी.एस. द्वारा आयकर अधिकारी के पद पर नामित किया गया। उन दिनों मेधावी छात्रों को सरकार की सेवा में सीधे नामित करने की परिपाटी थी। लेकिन इसी बीच महात्मा गाँधी का अहसयोग आन्दोलन छिड़ गया और त्रिपाठीजी ने देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत होकर इस पद को स्वीकार नहीं किया और आन्दोलन से जुड़ गये। कुछ दिनों तक गोरखपुर में तिलक राष्ट्रीय विद्यालय में अध्यापन करने के बाद उन्होंने गोरखपुर में ही स्व. दशरथ प्रसाद द्विवेदी के साथ (जो स्वतंत्रता के बाद एम.पी. हुए थे) *स्वदेश* नामक राष्ट्रीय पाक्षिक का सम्पादन किया। तभी उन्हें महामना मालवीयजी का बुलावा आया कि उनके वैयक्तिक सचिव का कार्यभार सँभालें। फरवरी 1922 ई. से लगभग एक वर्ष तक वह महामना के साथ रहे और उनके वैयक्तिक एवं सार्वजनिक कार्यों में उनको निकट से सहयोग देते रहे। मालवीयजी के तूफ़ानी देशव्यापी दौरे में वे सदैव उनके साथ रहे। इस सामीप्य का त्रिपाठीजी पर अमिट प्रभाव पड़ा। मालवीयजी के सात्विक आहार-विहार, सादगी, विद्वता, सरलता, धार्मिकता, देश-प्रेम, शिक्षा-प्रेम आदि का उन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। अपने जीवन में उन्होंने इन्हीं आदर्शों का सफलतापूर्वक पालन किया।

तदनन्तर मालवीयजी के ही आदेश से त्रिपाठीजी ने 1923 ई. में कुछ समय तक आवागढ़, ज़िला एटा के एक विद्यालय में हेडमास्टर का कार्य किया और फिर उन्हीं के आदेश से 1924 ई. में बस्ती में आकर वकालत आरम्भ की। मालवीयजी का विचार था कि इसमें सार्वजनिक एवं राजनैतिक सेवा का पूरा अवसर मिलता रहेगा। ज्ञातव्य है कि स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में आन्दोलनों में वकील वर्ग की प्रमुख भूमिका हुआ करती थी। उनमें देश-प्रेम था और क़ानून के ज्ञान से देशसेवियों की कचहरी में सहायता करने का भी सुयोग था।

त्रिपाठीजी बस्ती में 1924 ई. से 1959 ई. तक वकालत करते रहे। इस अवधि में स्वतंत्रता-प्राप्ति काल तक उनका अधिकांश समय राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक एव धार्मिक गतिविधियों में बीता। बाद में अवस्था अधिक हो जाने से और निरन्तर अस्वस्थता के कारण उनका लगभग सारा ध्यान मनन, चिन्तन, स्वाध्याय एवं लेखन में सीमित रह गया। वह लगभग 45 वर्ष की अवस्था से ही बवासीर से पीड़ित थे, जिसके कारण उनका स्वास्थ्य भी गिरा रहता था। काफ़ी बाद में, 1964 में जब ऑपरेशन के अलावा कोई चारा नहीं रह गया था, तब उन्होंने 71 वर्ष की अवस्था में ऑपरेशन कराया और इस रोग से मुक्त हुए। उसके बाद से उनका स्वास्थ्य अपेक्षाकृत सुधर गया और उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति, *उपनिषद् रहस्य* भी इसके बाद की ही है।

1959 के अन्त में त्रिपाठीजी ने वकालत तथा राजनीति से पूर्ण संन्यास ले लिया। इस बीच *धर्मराज युधिष्ठिर, मैत्रेयी, बुद्ध और बौद्ध धर्म, महामना पं. मदनमोहन मालवीय (संस्मरण)* इत्यादि उनके ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गये और उनके प्रायः सभी लड़के स्वावलम्बी भी हो गये, जिससे उपनिषदों पर ग्रन्थ लिखने का काल आ गया; परन्तु यह सोचकर कि सम्पूर्ण मनोयोग के बिना इस कठिन कार्य में लगना उचित न होगा, वह *भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास* नामक समयोपयोगी ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हो गये। यह ग्रन्थ 1967 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक की रचना के बीच में हिन्दी विश्वकोष में *महाभारत* और डॉ. गंगानाथ झा पर लेखों के अलावा प्रश्न, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वेतर उपनिषदों पर भी उनके लघु लेख प्रकाशित हुए। इनके बाद एक विद्वतापूर्ण लेख 'उपनिषदों का दार्शनिक स्वरूप' भी डॉ. आदित्यनाथ झा अभिनन्दन ग्रंथ *संस्कृति* में प्रकाशित हुआ।

पारिवारिक जीवन

त्रिपाठीजी का विवाह 1915 में हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बड़ी कन्या दुर्गावतीजी से हुआ। दुर्गावतीजी एक विलक्षण महिला थीं। औपचारिक शिक्षा तो उनकी नाम मात्र की थी, लेकिन स्वाध्याय से उन्होंने भाषा, साहित्य, इतिहास आदि का इतना ज्ञान अर्जित कर लिया था कि उस विषय के अधिकारी विद्वान् भी चकित रह जाते थे। उन्होंने अपने पति की ही तरह आजीवन खादी धारण किया और अत्यन्त सादगी का जीवन जिया। देश-सेवा, समाज-सेवा की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी। उनका जीवन समाज के लिए अर्पित था। उन्हें बौद्ध धर्म, इतिहास एवं तत्सम्बन्धी पुरातत्त्व का विलक्षण ज्ञान था। उन्होंने बस्ती ज़िले भर में घूम-घूम कर डीहों आदि से प्राचीन मूर्तियों, सिक्कों आदि का संग्रह किया, जिसमें से कुछ लखनऊ राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय में भी उनके नाम से संग्रहीत हैं। उनके लिए छुआ-छूत, ऊँच-नीच का कोई अर्थ नहीं था। आज से पचास वर्ष पहले, जब बस्ती-जैसी छोटी जगह में स्त्रियाँ परदे में रहती थीं, तब उन्होंने अनेक सामाजिक कार्य किये। भूकम्प, बाढ़ आदि के लिए राहत कार्य किया। उनमें सर्वधर्म समभाव एवं मनुष्यता इस सीमा तक थी कि एक बूढ़े भंगी और एक बूढ़े पठान की, जो रोगग्रस्त थे, अपने हाथों से सारी सेवा की। आज भले ही यह विशिष्ट बात न लगती हो, लेकिन उस समय करने को कौन कहे, ऐसी सोच भी दुर्लभ थी। दुर्गावतीजी के सानिध्य का त्रिपाठीजी के ऊपर अवश्य ही विशिष्ट प्रभाव पड़ा। त्रिपाठीजी के खादी प्रेम, राजनैतिक सेवा, सादगी आदि का दुर्गावतीजी पर भी प्रभाव पड़ा। इनके तपोनिष्ठ जीवन का सारे परिवार पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

त्रिपाठीजी ने वकालत आरम्भ तो की, लेकिन उनका मन इस पेशे में नहीं रमा। वह कोई झूठा मुक़दमा हाथ में नहीं लेते थे और न झूठी गवाही पेश करते थे। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में इस पेशे में कितनी आर्थिक सफलता मिल सकती है। त्रिपाठीजी थोड़ी-सी आमदनी से संतुष्ट रहने वाले व्यक्ति थे। सिद्धान्त पालन को उन्होंने सर्वोपरि रखा। उन्होंने केवल अपने बच्चों को ही परिवार नहीं माना। भाइयों के लड़कों को अपने पास रखकर बस्ती में पढ़ाया। जो आगे विश्वविद्यालय स्तर तक जा सकते थे, उसमें उन्होंने पूरी सहायता की। भाइयों की लड़कियों के विवाह में अपनी सामर्थ्य से अधिक अर्थात् ऋण लेकर भी सहायता की। उन्होंने यह नहीं सोचा कि बाद में अपने लड़कों की उच्च शिक्षा आदि का प्रबन्ध कैसे होगा। यह उनके महान् विचार और आशीर्वाद का ही प्रभाव है कि उनके चारों पुत्र पढ़ने में तेज़ रहे और उन्हें ऊँची पढ़ाई के लिए पर्याप्त छात्रवृत्तियाँ आदि मिलती रहीं। त्रिपाठीजी के द्वारा धन संग्रह न किये जाने से उनके बच्चों की पढ़ाई में व्यवधान नहीं पड़ने पाया।

त्रिपाठीजी बस्ती में 1959 तक रहे। वकालत में उनकी रुचि धीरे-धीरे समाप्त होती गयी थी और उत्तरोत्तर उनका कार्यकलाप राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक होता गया था। आने वाले कुछ वर्षों में उनके सभी लड़के अच्छे पदों पर नियुक्त हो गये थे। अब उन्हें धनार्जन की बाध्यता भी नहीं रह गयी थी। तब से मृत्युपर्यन्त वे लड़कों के पास रहे और कभी-कभी मित्रों से मिलने बस्ती चले जाया करते थे। उनके लड़के देश के विभिन्न भागों में सेवारत थे और स्थानान्तरित होते रहते थे। इसलिए त्रिपाठीजी को एक बार फिर से सम्पूर्ण देश-दर्शन का सुयोग मिला।

सामाजिक कार्यकलाप

त्रिपाठीजी ने वकालत के साथ-साथ राजनीति में प्रमुख रूप से भाग लिया। उस समय कांग्रेस का कार्य एवं देश-सेवा पर्याय माने जाते थे और जनता ऐसे लोगों के प्रति बहुत आदर रखती थी। यह लोग अपने स्वार्थ की हानि करके अंग्रेज़ सरकार का खुला विरोध करने का साहस करते थे। ऐसा साहस आज दुर्लभ है। लेकिन त्रिपाठीजी में पद-लोलुपता लेशमात्र भी नहीं थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उन्होंने अपनी देश-सेवा को भुनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। कभी एम.पी., एम.एल.ए. आदि के लिए भाग-दौड़ नहीं की। जैसा कि सर्वविदित है, स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नेताओं का चरित्र काफ़ी बदल गया था। जिन्होंने पहले त्याग किया था, वह उसका पुरस्कार पाने के लिए लालायित रहने लगे। त्रिपाठीजी इस माहौल से बड़े दुःखी रहते थे। उन्हें बिना प्रयास जो कार्य पार्टी द्वारा दिया जाता था, वह करते थे और इसी शृंखला में बस्ती में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की शिक्षा समिति की अध्यक्षता आदि उन्होंने स्वीकार की थी। 1959 आते-आते उनका मन राजनीति से एकदम उचट गया था।

स्वतंत्रता के पूर्व त्रिपाठीजी न केवल राजनीति में सक्रिय रहे थे, बल्कि अनेक सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं से भी वह जुड़े थे। हिन्दू महासभा की बस्ती इकाई के वह प्रमुख थे और उसके कार्यों को आगे बढ़ाने में उनका विशेष योगदान रहा। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि साम्प्रदायिकता का जो अर्थ आज लगाया जा रहा है, ऐसा उस समय नहीं था। मालवीयजी कांग्रेस के मूर्धन्य नेता होते हुए भी हिन्दू महासभा के स्तम्भ

थे। उस समय कांग्रेस देश को स्वतंत्र कराने में लगी हुई प्रमुख संस्था थी और उससे जुड़ना देशभक्ति का द्योतक था। साथ-ही-साथ यदि कोई व्यक्ति समाज के अंग विशेष के उत्थान में सक्रिय रहता था, तो उसके ऊपर साम्प्रदायिकता का आरोप नहीं लगता था, जैसा आज है।

धार्मिक सहिष्णुता

सनातन धर्म एवं आर्य संस्कृति के उत्थान के कार्यो में योगदान के साथ-साथ उनकी सब धर्मो और सम्प्रदायों के प्रति असीम सहिष्णुता थी। परिवार में बौद्ध धर्म का पूरा आदर था। बौद्ध उत्सवों आदि में भी उनकी और विशेषकर उनकी धर्मपत्नी की सक्रिय भागीदारी रहती थी। त्रिपाठीजी के अनेक अभिन्न मित्र मुसलमान थे और सभी एक दूसरे की धार्मिक भावनाओं का पूरा आदर करते थे। उन दिनों का आदर्श था सर्वधर्मनिष्ठा, सर्वधर्म समभाव एवं देश-सेवा। त्रिपाठीजी में धार्मिकता का पूरा समावेश था। वह नियम से सन्ध्या-वन्दन, पूजा-पाठ करते थे। विभिन्न व्रतोपवास करते थे। गीता उन्हें मूल में कंठस्थ थी।

साहित्यिक कार्य

त्रिपाठीजी की साहित्यिक रुचि का परिचय उनके विद्यार्थीकाल में ही मिलने लगा था। उसी समय से वह विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक लेख लिखा करते थे। एम.ए. में अध्ययन करते समय ही 1920 ईस्वी में उन्होंने *देशभक्त पार्नेल* नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें आयरलैंड के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का विवेचन किया गया है (प्रकाशन 1922 ईस्वी)। फिर काफ़ी बाद में सक्रिय राजनीति आदि से समय निकालते हुए उन्होंने एक महान् कृति *धर्मराज युधिष्ठिर* के नाम से लिखी। यह कृति पाँचवें दशक के उत्तरार्ध में ही लिखी जा चुकी थी, लेकिन मुख्यतः अर्थाभाव के कारण 1952 ईस्वी में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक को तत्कालीन विन्ध्य प्रदेश सरकार और फिर उत्तर प्रदश सरकार ने पुरस्कृत किया और कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भी सम्मिलित की गयी। इसकी भूमिका डॉ. अमरनाथ झा सदृश मनीषी ने लिखी है और इसका अनेक विद्वानों ने, जिनमें पुरुषोत्तम दास टण्डन, आचार्य नरेन्द्र देव, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी आदि प्रमुख हैं, अपनी सम्मतियों में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

त्रिपाठीजी ने फिर कुछ वर्षो तक तीन छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना की—*बुद्ध और बौद्ध धर्म, मैत्रेयी, महामना पंडित मदनमोहन मालवीय (संस्मरण)*। साथ-साथ एक अन्य महान ग्रन्थ की रचना की तैयारी होती रही। वह थी—*भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास,* जो 1967 ईस्वी में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक भी उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत की गयी और कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित की गयी। इसकी भूमिका आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखी है। अनेक विद्वानों ने अपनी सम्मतियों में इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता रेखांकित की है।

त्रिपाठीजी की महानतम एवं कालजयी कृति *उपनिषद् रहस्य* है, जो लगभग चालीस वर्षों के स्वाध्याय,

मनन, चिन्तन एवं परिश्रम का फल है। उन्होंने मूल में गीता, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और उनके भाष्यादि एवं अन्य सारी उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करके इस ग्रन्थ की रचना तीन वृहदाकार खण्डों में 1980 ईस्वी में पूरी की। बड़े खेद का विषय है कि इसका प्रकाशन उनके जीवन-काल में नहीं हो पाया (5 जनवरी, 1985 ईस्वी तक)। अवश्य ही प्रथम खण्ड की प्रूफ़ कापी वह देख सके थे। द्वितीय एवं तृतीय खण्ड, जो अब तक प्रकाशनाधीन थे, इसी वर्ष प्रकाशित होने जा रहे हैं। त्रिपाठीजी का यह ग्रन्थरत्न अद्वितीय है। किसी विदेशी या देशी भाषा में सम्पूर्ण उपनिषदों पर यह अकेला ही विवेचनात्मक ग्रन्थ है। प्रथम खण्ड को ही पढ़ कर ***उपनिषद् रहस्य*** की रचना के बाद त्रिपाठीजी ने लेखन-कार्य से विश्राम लेने का मन बना लिया, क्योंकि उनकी अवस्था 87 वर्ष के लगभग हो चुकी थी और तब तक उन्हें इतना ब्रह्मज्ञान हो गया था और उनके जीवन पर उपनिषदिक विचारधारा का इतना गहन प्रभाव पड़ चुका था कि उनकी रुचि केवल स्वाध्याय एवं मनन-चिन्तन में रह गयी थी। फिर भी विशेष आग्रह पर 90 वर्ष की अवस्था में उन्होंने ***गायत्री उद्बोधिका*** पुस्तिका की रचना की। गायत्री की इतनी सटीक व्याख्या दुर्लभ है।

त्रिपाठीजी की कृतियों की सूची इस प्रकार है–

पुस्तक का नाम	प्रकाशन काल
1. देश भक्त पार्नेल	1919 ई.
2. धर्मराज युधिष्ठिर	1952 ई.
3. मैत्रेयी	1955 ई.
4. बुद्ध और बौद्ध धर्म	1956 ई.
5. महामना पंडित मदनमोहन मालवीय (संस्मरण)	1956 ई.
6. भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास	1967 ई.
7. गायत्री उद्बोधिका	1984 ई.
8. उपनिषद् रहस्य (भाग 1)	1986 ई.
9. उपनिषद् रहस्य (भाग 2 एवं 3)	(मुद्रणाधीन)

पत्रकारिता

त्रिपाठीजी का पत्रकारिता के क्षेत्र में भी योगदान रहा। जैसा ऊपर बताया गया है, उन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन के समय गोरखपुर से प्रकाशित पाक्षिक ***स्वदेश*** का सम्पादन स्व. दशरथ प्रसाद द्विवेदी जी के साथ किया था। स्वातन्त्र्योत्तर काल में बस्ती से प्रकाशित साप्ताहिक ***पंचमुख*** का काफ़ी समय तक उन्होंने सम्पादन किया। ***अमृत बाजार पत्रिका*** एवं ***आज*** आदि दैनिकों के वह बस्ती के विशेष प्रतिनिधि और संवाददाता रहे। आकाशवाणी से उनकी वार्ताएँ बहुधा प्रसारित होती थीं।

स्वर्गवास

त्रिपाठीजी का स्वर्गवास 5 जनवरी, 1985 ईस्वी को (तदनुसार शनिवार पौष, शुक्ल चतुर्दशी, 2041 विक्रमी) को नयी दिल्ली में अपने सबसे छोटे पुत्र के यहाँ प्रवास के समय 91 वर्ष की अवस्था में हुआ। कर्मठता, सादगी, उच्च विचार और आध्यात्मिकता के प्रतिरूप त्रिपाठीजी के अवसान से एक युग-पुरुष की इहलीला समाप्त हुई।

त्रिपाठीजी ने भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति को महत्त्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत किया है। अपने सुदीर्घ एवं गम्भीर चिन्तन, स्वाध्याय एवं प्रखर मेधा के द्वारा उन्होंने भारतीय चिन्तन-पद्धति को नये आयाम दिये। उनका व्यक्तित्व एवं लेखन बहुआयामी हैं। उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाओं से भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को प्रकाशित किया है। अपनी अन्तिम कालजयी रचना ***उपनिषद् रहस्य*** से उन्होंने भारतीय दर्शन के सबसे जाज्वल्यमान अंग का सटीक एवं विशद् आधिकारिक विवेचन करके एक ऐसी कमी पूरी की है, जिसके लिए भारतीय समाज और विशेषतः हिन्दी जगत् उनका चिरऋणी रहेगा।

सौजन्य-मूर्ति : पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी

सीताराम चतुर्वेदी

जिन अनेक स्मरणीय उदात्त-चरित महापुरुषों से मेरा सम्पर्क रहा है, उनमें पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठीजी विशेष उल्लेखनीय हैं। सर्वभूतहिते रत और अनसूय पुरुष के जो लक्षण सद्ग्रन्थों में गिनाये गये हैं, उन सबकी सशरीर मूर्ति पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठीजी थे।

सन् 1926 में अचानक महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी महाराज के आवास पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उनसे मेरी प्रथम भेंट हुई और उस पहली ही भेंट में मैं उनके सौजन्य और शील से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि मेरा उनका सम्बन्ध निरन्तर बढ़ता चला गया। यह सम्बन्ध इसलिए भी विशेष वर्द्धमान होता चला गया कि वे महामना मालवीयजी के निजी सचिव भी रह चुके थे। वैसे भी महामना मालवीयजी के साथ कोई ऐसा व्यक्ति रह ही नहीं सकता था, जो दैवी गुणों से सम्पन्न न हो, क्योंकि वे स्वयं महर्षिकल्प और देवता थे।

शास्त्रों में सन्त के लक्षण बताते हुए कहा गया है–

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूषपूर्णास्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।

(सदा पुण्य के अमृत से भरे हुए मन, वचन और कर्म वाले ऐसे कितने सन्त हैं, जो निरन्तर तीनों लोकों के प्राणियों का उपकार करते हुए आनन्दित होते रहते हैं और दूसरे के छोटे से गुण पर विमुग्ध होकर उसे राई से पहाड़ बनाकर अपने हृदय में खिले पड़ते हैं।)

त्रिपाठीजी ऐसे ही असाधारण सन्त थे। प्रथम भेंट में ही लगभग दो घण्टे तक जो उनसे मेरी बातचीत चलती रही, उसी से मुझे ऐसा जान पड़ा कि वे ज्ञान की खान हैं और जीवन के विभिन्न पक्षों का उन्हें कितना सूक्ष्म अनुभव है। विचित्र बात यह हुई कि जब मैंने उनसे कहा कि इतना ज्ञान आप कहाँ से बटोर लिये चले आये, तो उन्होंने बड़े ही शीलपूर्ण भाव से कहा, "यह सब मालवीयजी महाराज का वरदान है।" अपनी उपलब्धि का भी सम्पूर्ण श्रेय उन्होंने मालवीयजी महाराज को ही दे डाला।

सन् 1932 में जब मालवीयजी महाराज ने *सनातन धर्म* साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया और उसके सम्पादन का भार मुझे सौंप दिया और पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठीजी से मैंने आग्रह किया कि आप

इस पत्र के लिए बराबर लिखते रहा कीजिए, तब उनका छोटा-सा पत्र आया कि उस पत्र में लेख भेजकर मैं अपना बहुत बड़ा सौभाग्य और प्राक्तन जन्म का पुण्य समझूँगा, और वे बराबर यथावसर लेख भेजते रहे।

सन् 1935 में जब महामना मालवीयजी के 75वें जन्मदिवस पर उनका विशाल जीवन-चरित प्रकाशित करने की योजना बनी और उसके निमित्त संगठित समिति ने जीवनी लिखने और ग्रन्थ सम्पादन का भार भी मुझ पर सौंप दिया, तब त्रिपाठीजी ही मेरे ऐसे प्रबल सहायक सिद्ध हुए कि उन्होंने कई तो दुर्लभ चित्र लाकर दिये और वे अनेक महत्त्वपूर्ण संस्मरण लिख-लिखकर भेजते रहे, जिनका समुचित उपयोग उस विशाल महाग्रन्थ में किया जा सका। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि जितनी ठोस संस्मरण सामग्री उन्होंने प्रदान की, उतनी अन्य स्रोतों से नहीं मिल पायी; इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी बताया कि महामना मालवीयजी के विषय में अधिक विवरण किस-किस व्यक्ति से मिल सकता है और उन सबका पता-ठिकाना भी लिख भेजा।

त्रिपाठीजी जब-जब काशी आते रहे, तब-तब मुझसे अवश्य मिल लेने की कृपा करते रहे। वर्ष तो मुझे स्मरण नहीं है, किन्तु यह स्मरण है कि घनघोर वर्षा हो रही थी, श्रावणी का दिन था। वे गंगा-स्नान करके लगभग 10 बजे भीगते-भागते चले आये। पूछने पर उन्होंने कहा, "मैं अभी इसी गाड़ी से लौट जाने वाला हूँ, इसलिए मैं मिलने चला आया।" मैं तो उनकी इस सज्जनता से पराभूत हो गया। मैं कौन ऐसा बड़ा व्यक्ति था, जिससे मिलने वे ऐसे दुर्दिन में भीगते हुए चले आये।

ऐसे सौजन्य-मूर्ति चिरस्मरणीय पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठीजी थे। मुझे यह जानकर हार्दिक आह्लाद हुआ कि उनके सुयोग्य आत्मजों ने उनका स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित करने का संकल्प किया है और मुझे भी उसमें कुछ संस्मरण लिखने का अवसर प्रदान किया है। मैं हृदय से त्रिपाठीजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

एक सम्पूर्ण जीवन की खोज

चन्द्रचूड़ मणि

जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ

परम्परा के बीज

दूरदर्शन पर प्रायोजित एक सीरियल 'दि ग्रेट मास्टर्स' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रोल में मेरी प्रमुख भूमिका थी। यह रोल निष्ठा के कारण मैंने लिया था, क्योंकि मेरी माँ दुर्गावती शुक्ल जी की लड़की थीं। माँ का बचपन बनारस और मिर्जापुर में बीता था, यद्यपि वह अपने पिता की जन्मभूमि सरयू के माझे में स्थित अगौना के ग्राम-जीवन से अच्छी तरह परिचित थीं। उनके ऊपर बनारस और मिर्जापुर के साहित्यिक वातावरण की छाप थी और विन्ध्य की हरिदाभ पहाड़ियों के जंगलों, नदी-नालों, झरनों और गेरु की पाण्डु वर्ण की धूसरित भूमि पर वीर बहूटियों का संचरण उन्हें आकर्षित करता था। यह सब उनके पिता को भी अपनी ओर खींचता था और जब कभी बनारस में वर्षा के बादल आकाश में घुमड़ते दिखायी देते, तो वह अपने सारे काम छोड़कर पहाड़ की ओर जाने का मन बनाने लगते। प्रकृति के साहचर्य के लिए उनकी ललक जीवन-पर्यन्त बनी रही। इस भावना की झलक उनकी कई कविताओं और लेखों में मिलती है, जैसे उनके एक गीत का यह अंश–

ए हो वन बंजर, कछार, हरे-भरे खेत,
विटप विहंग सुनो, अपनी सुनावें हम।
तुम तो छूटे, चाह चित्त से न छूटी यह
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।।

शुक्ल जी के प्रकृति और ग्राम-प्रेम को दिखलाने के लिए उनकी यह काव्य-पंक्ति ही पर्याप्त है–

तुम भी ग्राम खुले सपने हो

ऐसी कोमल भावना के होते चेक लेखक ओदोलेन स्मेकल ने पता नहीं, जहाँ एक ओर अपने चेक गाँव की प्रशंसा की है, किस तरह ऐसा वक्तव्य दे दिया कि "हिन्दी के आधुनिक कवि प्रकृति की नैसर्गिकता से दूर हैं।"

शुक्ल जी के बनारस आ जाने पर उनका प्रकृति का साहचर्य कुछ छूट-सा गया और वह साहित्य जगत् और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वातावरण में प्रतिष्ठित हो गये। उनका घर साहित्यिकों के मिलने का विशेष स्थल बन गया। इससे माँ अनेक साहित्यिकों के सम्पर्क में आयीं। भारतेन्दु युग के यशस्वी लेखकों में प्रेमघन और जगन्नाथ दास रत्नाकर से लेकर श्यामसुन्दर दास, जगन्मोहन वर्मा, रामचन्द्र वर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं रायकृष्ण दास, मैथिलीशरण गुप्त, शाह साहब (चन्द्रबली पाण्डेय), जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि को उन्होंने निकट से जाना, जिनका शुक्ल जी के यहाँ आना-जाना था।

बनारस आने से पूर्व शुक्ल जी मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर थे। अतः माँ की प्रारम्भिक शिक्षा ईसाई मिशन स्कूल में हुई, जहाँ उन्हें प्राथमिक कक्षा में एक गुड़िया इनाम में मिली थी, जिसका ज़िक्र वह किया करती थीं। उनकी स्कूल की शिक्षा बनारस आकर रुक गयी, यद्यपि उन्होंने स्वाध्याय से उच्चकोटि की योग्यता प्राप्त की और देवी सरस्वती ने उन पर अपना वरद-हस्त रखा, जिससे उन्होंने बाल-कथाएँ लिखीं और पुरातत्व के क्षेत्र में कुछ नये शोध किये। काशी में ही उन्होंने बाङ्ला भाषा सीखी, जिसे वह सरलता से पढ़-बोल सकती थीं। *वायुमती* और *युगान्तर*—जैसी पत्रिकाएँ वह बड़े उत्साह से पढ़ा करती थीं। उन्होंने बाङ्ला की अनेक कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया है। असमिया से भी उनके कुछ अनुवाद हैं।

यहाँ मैं बतला दूँ कि मेरे माता-पिता एक प्रकार से दो भिन्न संस्कारों की उपज थे, तथापि जीवन की यात्रा में उनका केवल एक लक्ष्य था—लोकमंगल, देश के दीन-दुःखियों की सहायता और लोगों में ज्ञान का प्रचार करना।

यद्यपि शुक्ल जी मूलतः सरवार के थे, साहित्यिक होने से काशी के शहरी जीवन से जुड़ गये थे, जो उन्हें पसन्द न था, किन्तु हमारे पैतृक वातावरण की तो बात ही कुछ और है। उसे जानने के लिए नेपाल की तराई में लुम्बिनी से सत्तर किलोमीटर दक्षिण तक छोटे ठेठ गाँव कोटिया की कल्पना करनी होगी, जहाँ समय कब से ठहरा हुआ है और जहाँ के लोग दिन और तारीख़ भी आवश्यकतानुसार ही याद रखते हैं। साठ-पैंसठ साल पहले वहाँ के लोग कितने सहज थे, इसका अनुमान इसी से कर सकते हैं कि 1930 के आस-पास जब हम लोग वहाँ श्री घनश्यामदास बिड़ला के चुनाव में कार लेकर गये, तो वहाँ की ग्राम-वधुएँ और लोगों के साथ, जिनमें से किसी ने कभी मोटर नहीं देखी थी, उसे दुर्गामाता का रथ समझ कर दूध बताशा लेकर देवी को धार देने दौड़ीं। उन बेचारियों ने हमें देख लिया तो लजाकर रह गयीं और विस्मय से चिल्ला उठीं—"अरे यह तो चाची हैं।" उस घटना के बाद से माँ का गाँव के लोगों के साथ एक भावात्मक या 'रोमैण्टिक' लगाव हो गया। उनके दुःख-दर्द में वह बराबर काम आयीं।

पिता जी का जन्म कोटिया में भौमवार, कार्तिक शुक्ल 13 वि. 1950 (21 नवम्बर, 1893) को हुआ। वहीं मेरा जन्म 23 मई, 1923 को हुआ। अपने बाबा के बारे में यह सुना भर है, क्योंकि उन्हें कभी देखा नहीं, कि वह आमी (अनोमा नदी) के किनारे बेलहर के जंगल में कुटिया बनाकर केवल गाएँ लेकर रहते थे और शरीर से बलवान् एवं साधु के स्वभाव के थे। पिताजी को 9 वर्ष की अवस्था में छोड़कर जब उन्होंने संसार की यात्रा सम्पन्न की, तो दादी हरनामी देवी को लोगों ने उनके गाँव की भूमि का वास्तविक हक़ दिलाया।

दादी मगहर की थीं, जो कबीरपंथियों का गढ़ रहा है और जहाँ तरह-तरह के साधुओं और सूफ़ी दरवेशों के चक्कर लगते रहते थे। पिताजी की बचपन की शिक्षा मगहर में सम्पन्न हुई। वहीं उनके मन पर वेदान्त का ऐसा संस्कार पड़ा, जो उनका जीवन सार्थक कर गया। मेरी दादी 'कयथी' लिखना जानती थीं, जो उस समय एक विशेष देन समझी जाती थी। अपने बचपन का कुछ उल्लेख पिताजी ने अपने *उपनिषद् रहस्य* ग्रन्थ की प्रस्तावना में किया है। पिताजी जब विश्वविद्यालय में पढ़ रहे थे, उसी समय उनका विवाह हो गया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से दर्शन शास्त्र में एम.ए. की उपाधि लेकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उन्होंने शिक्षा-शास्त्र में ट्रेनिंग ली। दोनों विद्या केन्द्रों में उन्हें कई मनस्वी विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हुआ, जिनमें म.म. गंगानाथ झा, प्रो. रैण्डल, महामना मदनमोहन मालवीय, म.म. गोपीनाथ कविराज, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रो. थिवो (Thebaut) और कुछ थियोसोफिस्ट विचारक थे—एनी बेसेण्ट के अनुयायी—इन सबसे इन्हें साहित्य-सृजन और सामाजिक कार्य करने की प्रेरणाएँ मिलीं।

1922-23 में मालवीयजी के व्यक्तिगत सहायक के रूप में उन्होंने पंजाब और असम का दौरा किया। पंजाब में जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के ध्वंस और ब्रिटिश सत्ताधारियों के जुल्म ने उनका दिल दहला दिया और यद्यपि जीविकोपार्जन का आरम्भ पत्रकारिता और आगरा के एक विद्यालय एवं गोरखपुर के तिलक राष्ट्रीय विद्यालय में अध्यापन से किया था, गौहाटी कांग्रेस के अधिवेशन से लौटकर बस्ती में 1924 में वकालत प्रारम्भ कर दी। तॉलस्तॉय, तिलक, गाँधी और महामना के आदर्श उनके समक्ष थे। फिर तो वकालत, पत्रकारिता, राजनीति का (जिसे सामाजिक कार्य कहना अधिक उपयुक्त होगा) ऐसा दौर शुरू हुआ, जिसका क्रम कई दशक तक चला। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि माँ का सहयोग पिताजी के लिए एक वरदान था। मेरे बाल्यकाल की स्मृतियाँ कुछ धुँधली पड़ने लग गयी हैं, परन्तु मुझे यह अच्छी तरह याद है कि माँ को मैं दुर्गा और पिता को परमेश्वर समझता था। मेरी यह धारणा और भी पुष्ट हुई, जब माँ से इसका पता चला कि उनका राशि का नाम भी 'सती' है। बचपन की अवस्था के उस सम्मोहन ने मेरे जीवन के हर मोड़ को आलोकित किया है और मुझे सही रास्ता दिखलाया है।

उस समय हम बस्ती मिशन स्कूल में किराये पर रहते थे। स्कूल बन्द करके मिशनरी जा चुके थे, किन्तु उनकी यादें बाकी थीं—वहीं, माँ कहती थीं, कि उनके दद्दा (शुक्ल जी के पिता पण्डित चन्द्रबली शुक्ल) अपने अनन्य मित्र मरवटिया के ठा. नागेश्वर सिंह के साथ पढ़ चुके थे। उसी मकान में मेरे दो भाइयों—चन्द्रमौलि और चन्द्रभाल तथा एक बहिन मनु (सावित्री) का जन्म हुआ। हम लोगों के बस्ती आने से पहले मेरी बड़ी बहिन अण्टी की जीवनलीला देवरिया में समाप्त हो चुकी थी। मिशन स्कूल वाले घर में मनु भी जाती रही, जिससे कुटुम्ब पर आफत-सी आ गयी। निराशा पर विजय पा लेना बड़ा दुष्कर है। परन्तु मेरे माता-पिता ने उसे लोकोपकार में लगकर आसान कर दिया। मालवीयजी के आदेश से अनेक अनाथ बालक, बालिकाओं और असहाय महिलाओं के पुनर्वास की व्यवस्था की गयी। इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख मैं आवश्यक समझता हूँ—माँ के विशेष प्रयास से एक शराबी पुलिस इंस्पेक्टर के दुर्व्यवहार से त्रस्त उसकी योग्य पत्नी कश्मीरा दत्ता को पंजाब में एक विद्यालय में अध्यापिका की जीविका दिलाकर उसके जीवन की रक्षा हुई। माँ प्रायः कश्मीरा की बात करते-करते भावुक हो जाया करती थीं। वह उन्हें दुबारा कभी नहीं मिलीं।

उन दिनों की दो घटनाएँ मुझे सदैव स्मरण रहेंगी। एक मेरा विद्यारम्भ, जो मेरे पाँचवे वर्ष में पिताजी ने बड़े विधि-विधान से मधु में स्वर्ण की शलाका चुभा कर जिह्वा पर *ओऽम्* लिखकर और एक काली लकड़ी की तख्ती पर सरस्वती पूजन के साथ *श्री गणेशाय नमः* मंत्र लिखवा कर किया था। उनका विचार मुझे वेद पढ़ाने का था, जो माँ की असहमति से उस समय सम्भव न हुआ। परन्तु मेरी उँगली पकड़ कर सायंकाल गवर्नमेंट स्कूल के कम्पाउण्ड में घुमाने के लिए ले जाकर वह मुझे मंत्र रटाते रहते थे। उस समय के याद किये गये मंत्र—*यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र रुद्र मरुतः*—आदि मुझे कंठस्थ हैं। एक बार हमारे शहर में महामना एक जन-सभा को सम्बोधित करने के लिए आये। उक्त अवसर पर मैंने उन्हें फूलों की एक माला पहनायी और एकाएक उनसे मिर्जापुरी में—जो हम घर में बोलते थे—पूछ बैठा—"कहो मालवी (मालवीय) जी, तुहीं न यं ब्रह्म कहथ्य?" उन्होंने बड़े प्यार से मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा—"हाँ मैं ही कहता हूँ।" फिर जब भाषण का आरम्भ उन्होंने इस मंत्र से किया, तो मैं आनन्दविभोर हो गया।

जनचेतना के विचार से एक बार मालवीयजी ने *गीता* के एक अध्याय की प्रतियों के साथ कुछ कृपाण तरुणों में वितरित करने के लिए भेजे। उनमें से दो कृपाण मैंने अपने लिए छाँटे, जिनकी म्यानें लाल और बैगनी रंग की थीं। उन कृपाणों को बहुत दिन तक बिस्तर में लेकर मैं सोया करता था।

मुझे याद है कि गाँधीजी की दाण्डी यात्रा के समय नमक सत्याग्रह के अवसर पर मेरे यहाँ कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने आकर रेह-मिट्टी से नमक बनाकर ब्रिटिश कानून की अवज्ञा की थी। पास-पड़ोस के बालकों की टोली में सम्मिलित होकर विलायती माल के बहिष्कार के लिए शाम को मैं निकल जाया करता था और कभी-कभी पिताजी के साथ भी विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के लिए दुकानों पर धरना देने या 'पिकेटिंग' के लिए जाता था। नानी से सीखा यह गाना मुझे पसन्द था—

तकली पियुनी से बन्दर भगाये जायेंगे।

सरदार भगतसिंह के बलिदान से बालकों तक में सरकार के प्रति काफी रोष फैल चुका था।

उस समय सारे देश का वातावरण गरम था। शहर में *स्वराज्य* और क्रांतिकारियों की चर्चा लोगों की जुबान पर थी और आये-दिन राजनीतिक नेताओं के उत्तेजनापूर्ण भाषण सुनने को मिलते। गाँधीजी से लेकर नेहरू जी, सरदार पटेल, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य जे.बी. कृपलानी, देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद, श्री जयप्रकाश नारायण और आचार्य विनोबा भावे हर किसी के भाषण हमने सुने। प्रायः ऐसे अवसरों पर उन्हें मानपत्र से सम्मानित करने का दायित्व पिताजी का होता था। जन-सभाओं में वह स्वयं व्याख्यान देते थे।

जन-सभा की तरह हम साहित्यिक और सांस्कृतिक आयोजनों में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। उस समय की साहित्य सभाओं में तुलसी जयन्ती और कवि सम्मेलन या मुशायरे की धूम मचती थी। सामाजिक उत्सवों में दीपावली पर काफ़ी रोशनी की जाती और वसन्तोत्सव पर हरिजनों के साथ मिलकर होली का रंगारंग कार्यक्रम सम्पन्न होता था। रामलीला और कृष्ण जन्माष्टमी के उत्सव काफ़ी रंगीन और मनोरंजक होते थे। हिन्दुओं की तरह मुस्लिम भी अपने त्यौहार बड़े उत्साह से मनाते थे। परन्तु यदि कभी जन्माष्टमी पर दधिकानन्दन

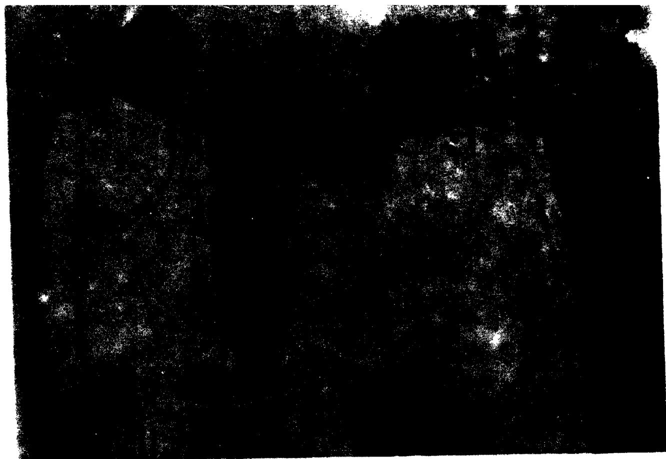
के जुलूस को पुरानी बस्ती की बड़ी मस्जिद के आगे से घण्टा-घड़ियाल बजाकर ले जाने में मुस्लिम रहनुमा आपत्ति करते, तो पिताजी अपनी विशेष युक्ति से समस्या का समाधान कर देते थे। इसलिए कांग्रेस के अगुवा होते हुए भी वह हिन्दुओं के मान्य नेता थे, जिन्हें हरिजनों और मुसलमानों का विश्वास प्राप्त था।

जब हम 1934 में अपने घर आये, उस समय से हमारे घर ने एक सार्वजनिक रूप ले लिया। उस वर्ष बिहार में भीषण भूकम्प आया था, जिसमें धन और जन की अपार क्षति हुई थी। उसके निमित्त पण्डित नेहरू और राजेन्द्र बाबू के संयोजकत्व में बिहार रिलीफ कमेटी पटना में गठित की गयी थी। माँ ने स्वयं घर-घर जाकर चन्दा इकट्ठा किया और उसे पटना भेजा। वह ऐसा समय था, जब तराई के पिछड़े इलाके में, जहाँ बाढ़, महामारी-मलेरिया, कालाजार, ताऊन (प्लेग) आदि बीमारियों का विस्तार था—सरकार की ओर से कम ही सहायता या राहत कार्य होता था, सब व्यक्तियों और स्वयंसेवी संस्थाओं के द्वारा होता था। माँ ने जीविकाहीनों को जीविका दिलाकर, रोगियों के लिए ज़िला बोर्ड या अस्पताल समिति की ओर से चिकित्सा व्यवस्था करके तथा छात्राओं की पढ़ाई की व्यवस्था में सहयोग करके ज़िले के प्रबन्ध में अपना सारा समय लगाया। अकाल पीड़ितों की उन्होंने वस्त्र, धन और दवा से सहायता की। देश की सीमा पर तैनात जवानों के लिए स्वयं मोजे और स्वेटर बुनकर भेजा।

उन दिनों घर में चरखे पर सूत काता जाता था और माँ और पिताजी नियमित रूप से खादी पहनते थे। हम लोग भी कभी-कभी खादी पहनते थे। 1937 में इसी घर में मेरे छोटे भाई चन्द्रधर का जन्म हुआ। इसके दो साल बाद 1939 में पिताजी का नाम कांग्रेस के सत्याग्रह के लिए प्रस्तावित था, परन्तु आकस्मिक रूप से अधिक रुग्ण होने से सत्याग्रह द्वारा जेल जाने का विचार उन्हें छोड़ना पड़ा। यों प्रायः 1960 तक वे दोनों सक्रिय राजनीति, चुनाव और विभिन्न समितियों की सदस्यता आदि से जुड़े रहे। स्थानीय निकायों और समितियों के अतिरिक्त माँ प्रदेश कांग्रेस कमिटी की सदस्या और कस्तूरबा ट्रस्ट की ज़िला प्रतिनिधि थी। पिताजी ने *पंचमुख* नामक एक स्थानीय पत्र भी प्रकाशित किया। उनके मार्गदर्शन से कुछ व्यक्ति लोकसभा और विधानसभा के सदस्य एवं मंत्री तक बने।

लगभग एक शती के राजनीतिक उथल-पुथल और देश की विषम परिस्थितियों में कितना कुछ बदला, परन्तु हमारे घर की एक विशेषता बराबर यह रही कि केवल व्यक्ति और घटनाओं की निरन्तर चर्चा न होती रहकर साहित्य, समाज, धर्म और दर्शन के विविध पक्षों पर विचार-विनिमय होते रहते थे। 1944 से माँ का और हमारा विशेष सम्पर्क सारनाथ की महाबोधि सोसायटी से हो गया, जिससे वहाँ की पुस्तकें लेकर हम बस्ती में बौद्ध धर्म का प्रचार करने लगे। माँ महाबोधि सोसायटी की मेम्बर थी। पहले जहाँ कभी बुद्ध-जयन्ती नहीं मनायी गयी, वहाँ हमने बुद्ध-पूर्णिमा की जयन्ती मनायी। इसके अतिरिक्त पुरातत्व में उनकी विशेष रुचि थी।

उन सब बातों को सोचता हूँ तो मन को आज अच्छा तो लगता है, परन्तु एक बार उदास भी हो जाता हूँ। सब कुछ कैसे इतना बदल जाया करता है। अगर कोई चीज़ नहीं बदली तो वह यादें हैं कि परिवार से घिरी हुई माँ, बच्चों को किस तरह स्नेह के साथ कहानियाँ सुनाती रहतीं, उनके साथ मित्रवत् व्यवहार करती, हँसी-मज़ाक भी और हमारे साथ ताश या लूडो खेलतीं। हम भी उन्हें अत्यधिक प्यार करते। बिल्लियों का उन्हें

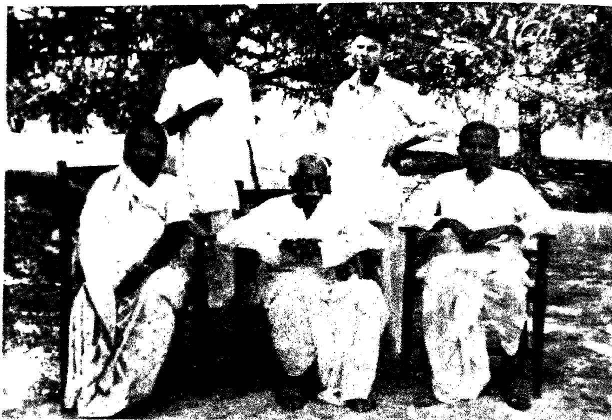


बड़े भाई पण्डित भगवती तिवारी (बीच में) और सरस्वती पण्डित के साथ



पं. हरिश्चन्द्र शुक्ल (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के छोटे भाई), पण्डितजी, दुर्गावती जी (1964 के लगभग)

(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)



प्रिन्सिपल विजयनाथ चक्रवर्ती (कुर्सी पर), उनके पुत्र आलोकनाथ (खड़े दायें) और
गोकुलचंद्र शुक्ल (आचार्य शुक्ल के कनिष्ठ पुत्र) के साथ (बस्ती, 1955)



61 वर्ष की वय में

(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)



चारों पुत्रों (बायें से चन्द्रभाल, चन्द्रधर, चन्द्रमौलि, चन्द्रचूड़) के साथ



बड़े पुत्र (चन्द्रचूड़ मणि) के परिवार के साथ

(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)



गौतमधारा प्रपात के निकट (राँची, 1957)



मझले पुत्रों (चन्द्रमौलि मणि और चन्द्रभाल त्रिपाठी) के परिवार के साथ दुर्गावती जी
(पिंजौर गार्डेन, 1964)

(छायाचित्र . चन्द्रधर त्रिपाठी)



पौत्र-पौत्रियों के साथ



कनिष्ठ पुत्र चन्द्रधर के साथ (छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)

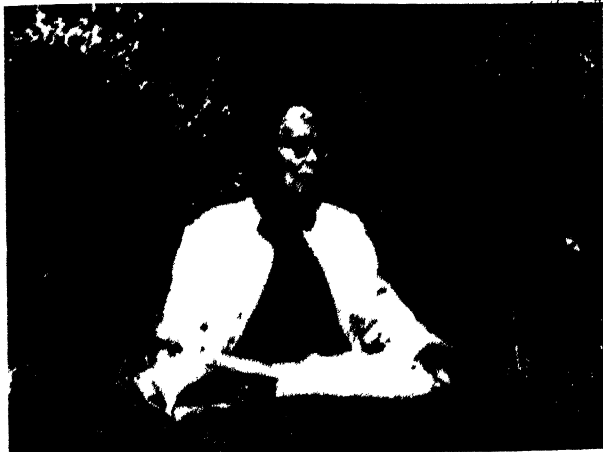


सुबन्सिरी नदी के किनारे (असम, 1966)



शिवसागर (असम) में शिवदोल के परिसर मे

(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)



सुबन्सिरी के तट पर (असम, 1966)



कनिष्ठ पुत्रवधू अरुणा त्रिपाठी के साथ

(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)



सबसे छोटे पौत्र जयन्त के साथ



सन् 1976 में

(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)

शौक था और उन्होंने कई बिल्लियाँ पाल रखी थीं। उन्हें लोकगीतों का भी चाव था और वह लोकगीत लोगों से सुनतीं और जब कभी अपने पुरातत्व की खोज में निकलतीं तो प्राचीन मूर्तियों या सिक्कों आदि की खोज के साथ मनोरंजन के बहाने भी ढूँढ़ लिया करती थीं। पिताजी का अनुशासन कुछ कड़ा था, जिससे हमारे बीच आतंक का भाव बना रहता था, जो माँ के शब्दों में एक 'तानाशाही' थी।

संस्मरण लेखक की विवशता

जीवन चरित्र या संस्मरण लिखने वाले की एक विवशता यह है, जिसकी ओर एक अंग्रेज़ लेखक बेन्सन (A.C. Benson) के इस विचार ने मेरा ध्यान आकर्षित किया है कि नायक के स्वभाव की विशेषताओं में से उसकी तेजस्विता और गम्भीरता से हम इतना अभिभूत होते हैं कि उसकी किसी भी त्रुटि या अनवधानता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। और फिर एक यह बात भी है कि "The roseate light of romance begins to shed its glow over their admiring memories." इस परिदृश्य में मैं पिताजी के जीवन की एक विशेष घटना की चर्चा करना चाहता हूँ, जिसने उन्हें जीवन भर के लिए सतर्क कर दिया।

मालवीयजी के साथ पंजाब के दौरे में पिताजी को यों तो प्रत्येक क्षण सतर्क रहना पड़ता था, परन्तु एक बार रावलपिंडी स्टेशन पर थोड़ी असावधानी के कारण कुली वह पेटी लेकर चम्पत हो गया, जिसमें मालवीयजी के माता-पिता की एक साथ की फ़ोटो थी। उस फ़ोटो के गुम हो जाने का काफ़ी सदमा उन्हें पहुँचा। परन्तु पिताजी को भी उस घटना की याद कभी नहीं भूली। वह स्वयं तो सतर्क हुए ही, सभी को सतर्क करते रहते थे। मुझे लिखे गये हर पत्र में उन्होंने मुझे सतर्क किया है। अपनी बातों के जाल में उन्हें कोई फँसा नहीं सकता था और उसके साथ जिरह करके सच को स्वीकार करवा लेने की उनकी आश्चर्यजनक क्षमता थी। वकील जो ठहरे।

यों पिताजी में गुणों की मात्रा अधिक थी। किसी कार्य के करने में उनका ध्यान 'सम्पूर्णता' पर होता था। वह 'थारोनेस' (throughness) के क़ायल थे, जो केवल अच्छी तैयारी और श्रद्धायुक्त लगन से सम्भव है। किसी तथ्य की तह में जाना, उसके सम्बन्ध में सब कुछ जानने के लिए आवश्यक है। मुझे यह सोचकर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि उनका किसी से विरोध क्यों नहीं हुआ। उनकी शालीनता के सामने उनका अपकार सोचने वाले भी नतमस्तक हो जाया करते थे। इसका एक कारण उनके व्यक्तित्व की गरिमा थी। अपनी सच्चाई और ईमानदारी के कारण उन्होंने कभी झूठे मुक़दमे की पैरवी नहीं की, जिससे दूसरे वकीलों की तरह अधिक धन तो नहीं कमा सके, परन्तु उन्हें उनके आत्मविश्वास से कोई डिगा नहीं सका। अपने सीमित साधन से उन्होंने कुल, परिवार के सभी दायित्व पूरे किये और विशेष अवसरों पर लोगों की सहायता की। इन कार्यों में माँ ने आजीवन 1970 तक उनका साथ दिया।

1958 में जब मैं काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी विश्वकोश' के सम्पादन के सिलसिले में काशी आया, उस समय से हम प्रायः काशी या सारनाथ में रहने लगे। सारनाथ में ऐसा मन रमा कि हम यहीं के हो गये। फिर तो माँ और पिताजी समय-समय पर हमारे पास आकर रह जाया करते। यहाँ उनका भी मन लगता था, क्योंकि इस भूमि पर बुद्ध के चरण पड़े थे और यहाँ से काशी और गंगा का पावन तट भी पास है।

सारनाथ से हमारे पुराने और मधुर सम्बन्ध हैं। माँ जब आठ वर्ष की थीं, उस समय वह अपने पिताजी के साथ यहाँ आया करती थीं। शुक्लजी के मित्र चन्द्रमणि महास्थविर अरकान (बरमा) से आकर कुशीनगर और सारनाथ के पुनरुद्धार में लगे हुए थे। उनके सुझाव पर मेरे नाना ने एडविन आर्नल्ड (Edwin Arnold) की *लाइट ऑव एशिया* के आधार पर अपना *बुद्धचरित* महाकाव्य लिखा। माँ कहती थीं कि 1910 में बरमी बौद्ध विहार के बनते समय वह उसके मिट्टी के ढूहों पर खेलती थीं और उनके पिता अपने मित्र वर्माजी (जगन्मोहन वर्मा) के साथ महास्थविर (चन्दा बाबा) से बात करने में लगे रहते थे। उसी साल यहाँ पर जॉन मार्शल (Sir John Marshall) के तत्त्वावधान में सारनाथ का पुरातत्त्व संग्रहालय बना, जिसमें बुद्ध और बोधिसत्वों में आर्यावलोकितेश्वर, मंजुश्री, अमिताभ आदि के साथ आर्या तारा, शिव, पार्वती, गणेश, कार्तिकेय, मारीचि, नवग्रह आदि एवं धर्मचक्र प्रवर्तन-व्यञ्जक सिंहशीर्ष और अनेक श्रद्धाभिव्यञ्जक स्तूप और अलंकरण (motifs) क्रमशः संग्रहीत किये गये। 'धम्मेख' और 'धर्मराजिक' स्तूपों की प्रदक्षिणा के लिए नाना देशों से लोग आने लगे।

1931 में महाबोधि सोसायटी के संस्थापक अनागारिक धर्मपाल द्वारा आयोजित मूलगंधकुटी विहार मन्दिर एवं पुस्तकालय के स्थापना समारोह में मैं भी अपने माता-पिता तथा नाना-नानी के साथ उपस्थित हुआ था। मेरे नाना समारोह में विशेष रूप से आमंत्रित थे। याद है, उस अवसर पर युवाहृदय पण्डित जवाहरलाल नेहरू धर्मपाल जी के साथ अभ्यागतों का स्वागत कर रहे थे। वहाँ पहली बार हमने सारनाथ का पुरातत्त्व संग्रहालय देखा।

ऊपर जिस बरमी बौद्ध विहार की बात आयी है, उसमें हम चौदह वर्ष रहे हैं। इसी तरह बारह बरस से बुद्धकुटी में रह आये। भूमि होते हुए भी अभी हमारा स्थायी आवास यहाँ नहीं बन सका। इस बीच माँ और पिताजी कितनी बार यहाँ आये। यहीं रहते मैंने 'हिन्दी विश्वकोश' का सम्पादन किया और प्रायः दो दशक तक तिब्बती विश्वविद्यालय में इतिहास पढ़ाया। उसके 'बोर्ड ऑफ गवर्नर्स' का सदस्य भी रहा। मेरे पुत्र बुद्धरश्मि की पी-एच.डी. तक की पढ़ाई भी यहीं हुई और उनका विवाह तथा मेरे पौत्र, पौत्री—ईशान और एक्सा का जन्म भी इसी सारनाथ के निवास-काल में हुआ है। बुद्धरश्मि को माँ ने पुरातत्त्व की प्रेरणा दी और उन्हें ही संलक्ष्य कर शिक्षाप्रद कहानियाँ लिखीं। पिताजी से उन्होंनें *कठोपनिषद्* समझा और थीसिस लिखते समय कुछ आवश्यक निर्देश लिये।

यहाँ पिताजी की कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ परिसम्पन्न हुईं। *भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास* का अधिकांश यहाँ लिखा गया है और छपा है। *गायत्री उद्बोधिका* लिखने का मन में विचार भी यहीं उठा और इसकी रचना हुई। अपने महान् ग्रन्थ *उपनिषद् रहस्य* का समापन भी उन्होंने इसी ऋषिपत्तन (ऋषियों की भूमि) में करके सदा के लिए लेखनी से विश्राम लिया। ग्रन्थ ब्रह्मवेत्ता ऋषियों को समर्पित है (*नमः परम ऋषिभ्यः*)

वेदान्त के इस महान् ग्रन्थ को 1984 में सम्पूर्ण करके पिताजी दिल्ली गये। मुझे इस बात की अत्यन्त प्रसन्नता है कि हम लोगों को सारनाथ में इस युग की महान् विभूति दलाई लामा का निकट से दर्शन प्राप्त हुआ है। 1984 में दिल्ली में ईशान और एक्सा का विद्यारम्भ करके पिताजी त्रि-ऋण से उऋण हो गये।

जगत्बोध और आत्मबोध

जगत्बोध और आत्मबोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी है। जगत् को अपने से असम्पृक्त मानकर निःश्रेयस् की सिद्धि सूत्रकारों ने कल्पित की है। परन्तु धर्म का इस आधार पर विवेचन, आंशिक अथवा सापेक्ष्य, सत्य का ही उद्घाटन करता है।

वर्तमान संशयवाद के अवबोधों में, जहाँ एक ओर मनुष्य के भौतिक विज्ञान के आधार पर प्रकृति पर विजय पाने के संकेत मिलते हैं, वहीं मनुष्यों के बीच तरह-तरह के विप्लव, हिंसा, शोषण, मानवाधिकार का हनन, सम्प्रदायों के आपसी झगड़े आदि से यह सिद्ध है कि मनुष्यों के चित्त की धारा अस्थिर और तन्द्रालस भोगवादी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ती जा रही है। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ कोई नयी नहीं हैं। जिस तरह प्राकृतिक शक्तियों के उद्दाम संचालन—भूस्खलन और ज्वालामुखी के क्रेटर से उद्गीर्ण भूकम्प-जैसे विध्वंस रोके नहीं जा सकते, उसी प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह से यह सम्भव है कि पुराने युगों के वहशी समाज को बदलकर उसके स्थान में आदर्शोन्मुखी समाज की स्थापना में हम सफल हो जायें, परन्तु उसके लिए भी असाधारण प्रयत्न अपेक्षित है।

प्राणि-जगत् में धीरे-धीरे क्रमागत ढंग से किस तरह विकास सम्भव हुआ है और किस रहस्यात्मक ढंग से सभी वनस्पतियों, अण्डजों और स्तनपायी जीवों का संयोग भौतिक जगत् की घटनाओं से हुआ है तथा उनके भीतर चल रही प्रतिक्रियाओं के संचालन में कहाँ स्थिरता आयी, कहाँ गति का वितरण हुआ, कहाँ इच्छा अथवा बुद्धि ने सृजनात्मक रूप ग्रहण किया और उन रूप-व्यापारों, तृष्णा और तृष्णा का निरोध, अहंकार और उसका विलोम, हिंसा और उसका प्रतिषेध किन परिस्थितियों में सम्भव हुआ, इन सबको जान लेने पर मनुष्य के सामने केवल दो मार्ग बचते हैं। पहला मार्ग सृष्टि की गत्यात्मक धारा में अपने को लय कर देना, जिससे मनुष्य परिस्थितियों का दास बनकर रह जाये। नियतिवादी (फ्यूचरिस्ट) इसे ही अंगीकार करते आये हैं। दूसरा मार्ग प्रकृत् मार्ग के विपरीत दिशा में चलकर हर स्थिति को बदलने की धारणा रखकर आगे बढ़ते रहने की दिशा का ज्ञान कराता है। धारा को उलट देने की क्षमता वाले विशाल परिवर्तनवादी हैं। ऐसे ही परिवर्तनवादियों द्वारा इतिहास बदलता है।

समष्टि और व्यष्टि के तत्त्वों में एक समीकरण की आवश्यकता है। पिताजी का विश्वास था कि आज अपने विचारों और कार्यों के विश्लेषण की आवश्यकता बढ़ गयी है। हमें यह जानना है कि आज तक पृथ्वी पर जितने भी नैतिकता के ज्ञात सिद्धान्त रहे हैं, उनमें हमारे द्वारा किनका और किस अंश तक पालन हुआ है। इस विश्लेषण द्वारा ही यह सम्भव है कि हमें यह विज्ञान की दृष्टि या बिम्ब प्राप्त हो सके, जिससे हम संसार को देखने के साथ-साथ उसकी सांसारिकता भी देख सकें।

सम्प्रेषण

कोई साहित्यकार या शिल्पी जब रचना करता है तो मन में यह भाव होता है कि अपनी रचना से वह किस तरह दूसरे के हृदय को छू ले। यह सम्प्रेषण स्वयं में एक कला है, जिसके विषय में तॉलस्तॉय ने एक

जगह लिखा है—"Art is an activity consisting in this that one man consciously by means of certain extemal signs, hands on to others feelings he has lived through and that others are infected by those feelings and also expenence them

पिताजी की रचनाओं में सम्प्रेषण की चेतना प्रारम्भ से पायी जाती है और लगता है कि उन्हें बराबर एक सम्पूर्ण जीवन की खोज रही है। विश्लेषणों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उनके संस्कारो में वंशानुगत संवेदनाओं के साथ दृढ़ता, सत्यपालन, अपने माता-पिता, मेरी माँ, परिवार के लोग और देशवासियो की चिन्ता के बीज विद्यमान थे और यह संयोग है जो उन्हें प्रायः एक शती की घटनाओं और लोक के विभिन्न व्यापारों को देखने-सुनने और विश्लेषित करने के आयाम प्राप्त हुए, जिनके बीच संघर्षरत रहकर संवृत्ति से परम् सत्य तक काफ़ी कुछ वह लिख सके। कभी-कभी तो ऐसा भी लगा कि जीवन में गरल के घूँट पीकर उन्होंने लोगों को अमृत-पान कराया।

पिताजी का सम्पूर्ण वाङ्मय मेरे सामने है और मैं उनके अधिकांश लेखन, सम्पादन तथा मुद्रण में सहायक रहा हूँ। उनकी रचनाओं को हम सुविधा से दो कालखण्डों में रखकर परख सकते हैं—

प्रथम कालखण्ड : 1919-59

द्वितीय कालखण्ड : 1959-85

प्रथम कालखण्ड में पाँच पुस्तकें छपीं—

देशभक्त पार्नेल का प्रकाशन 1919 में हुआ। इसमें आयरिश जनशक्ति के प्रेरणास्रोत स्टुअर्ट पार्नेल की जीवनी और आयर किसानों के नैसर्गिक भू-स्वामित्व के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी विचारों का संग्रह है। उस समय जिस तरह आयरलैण्ड में 'सिन-फिन' (Sinn Fein) आन्दोलन की लहर फैल रही थी, उसी तरह हमारे यहाँ भी होमरूल (स्वराज्य) की माँग थी। दोनों आन्दोलन ब्रिटिश हुकूमत के विरोध में थे। पिताजी की यह पुस्तक उनके मित्र श्री रघुपति सहाय 'फ़िराक़' ने इलाहाबाद के ओंकार प्रेस से छपवायी थी। उसका परिवर्धित संस्करण मैंने दिल्ली से 1991 में प्रकाशित किया है।

दूसरी पुस्तक ***धर्मराज युधिष्ठिर*** है (प्रथम संस्करण 1952, द्वितीय संस्करण 1955)। इसका संशोधित संस्करण 1991 में मैंने दिल्ली से निकाला है। साहित्य में रामायण को 'आदिकाव्य' और महाभारत को 'जयकाव्य' के रूप में विशेष गौरव प्राप्त है। यों तो संसार के अनेक भागों में वीरगाथाएँ पायी जाती हैं और भारत के उक्त महाकाव्यों की तरह यूरोप में इलियड और ओडिसी का महत्त्व है। परन्तु हमारे आख्यान उनसे और यूरोप के प्राचीनतम नाटकों में युरोपिदीज (Europedes) के व्यंग्य नाट्य ***साइक्लोप्स*** और ***एस्काइलस*** (छठी शती ई.पू.) के प्रहसनों से केवल पुराने ही नहीं, अपनी विशेषता में वे विश्व के रंगमंच पर खेले गये हैं। पुस्तक के अन्त में लेखक ने यह विचार प्रकट किया है कि "युधिष्ठिर का जीवन बात-बात में धर्म-अधर्म का अपनी सूक्ष्म बुद्धि से विश्लेषण करते हुए धर्म-मार्ग पर स्थित रहकर सत्याग्रह के अमरपथ पर चलने की अनुपम कहानी है।"

पुस्तक पर आचार्य नरेन्द्रदेव, पुरुषोत्तम दास टण्डन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और हरिभाऊ उपाध्याय ने सम्मतियाँ दीं और उसकी भूमिका मैंने डॉ. अमरनाथ झा से ली थी। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की इस सम्मति

को आप क्या कहेंगे–

"The book must be good, alas my ignorance of Hindi"

महाभारत की लोकप्रियता एशिया और यूरोप के बहुत-से देशों में है और इसे 'बैले' में भी प्रस्तुत किया गया है। मराठी रंगमंच पर एक बार महाभारत के *कीचक वध* अभिनय के अवसर पर लोकमान्य तिलक, श्रीअरविन्द और लाला लाजपतराय की एक साथ उपस्थिति से जनता में ब्रिटिश शासन के प्रति रोष से अत्यन्त खलबली मच गयी थी (टाइम्स ऑफ इण्डिया, 5 फरवरी, 1910)। इधर मराठी 'पाण्डव वाणी', कर्नाटक के 'कथकळि यक्षगानम्' और दूरदर्शन पर अभिचित्रित महाभारत (धारावाहिक) एवं पीटर ब्रुक थिएट्रिकल प्रोडक्शन के महाभारत प्रसंगों ने उसकी लोकप्रियता और बढ़ायी है।

युधिष्ठिर का चरित लिखने के बाद पिताजी का विचार नारी आदर्शों की ओर गया। उन्होंने ***मैत्रेयी*** लिखी, जिसमें मैत्रेयी के साथ गार्गी, सावित्री, गांधारी और विदुला-जैसी तेजस्वी महिलाओं के वीरचरित प्रस्तुत किये गये हैं। मैत्रेयी के कई लेख पत्रों में निकल चुके थे। उस समय स्त्री-शिक्षा एक सामयिक विषय समझा जाता था। यह पुस्तक 1952 में छपी।

1956 में दो पुस्तकें निकलीं—एक ***महामना मदनमोहन मालवीय (संस्मरण)*** जो डायरी की तरह है और मालवीयजी से सम्बन्धित पंजाब, असम, चौरीचौरा-काण्ड आदि घटनाओं का रोचक और सच्चा वृत्तान्त उपस्थित करती है। दूसरी पुस्तक ***बुद्ध और बौद्ध धर्म*** भगवान बुद्ध के 2500वीं जयन्ती के अवसर पर छपी। तथागत की जीवनी के साथ उनके सिद्धान्तों का विवेचन इसमें सरल भाषा में किया गया है। संयोग से उक्त अवसर पर तिब्बत के दो राष्ट्रनायक दलाई लामा और पणछेन लामा भारत आये हुए थे। लुम्बिनी में ज़िला परिषद् की ओर से पिताजी ने उन दोनों को मानपत्र के साथ ***बुद्ध और बौद्ध धर्म*** की प्रतियाँ भेंट कीं।

द्वितीय कालखण्ड में तीन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। ***भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास*** 1967 में एक बड़ी पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसकी रचना में काफी समय लगा। इसकी परिकल्पना के पीछे पिताजी की अपनी माँ की विशेष स्मृति, थी जिनके कर्मठ और त्यागमय जीवन और ममता तथा समर्पण आदि गुणों से वह अभिभूत थे। यह पुस्तक वह अपनी माँ के ऊपर ही लिखने जा रहे थे कि उसका लोक-सम्मत स्वरूप बन गया। इसके पूर्व वह ***मैत्रेयी*** में नारी आदर्शों की मीमांसा कर चुके थे, फिर उन्हें मेरी माँ और पत्नी तथा कई अन्य महिलाओं में नारी के प्रकृत् आदर्श देखकर सम्पूर्ण भारतीय समाज में नारी की अभिव्यक्ति की इच्छा जगी।

वर्तमान पुस्तक में पिताजी ने यह स्पष्ट किया है कि "धर्मग्रन्थों में स्त्रियों को आदि-शक्ति के नाना रूपों में देखने की परम्परा हमारे यहाँ प्राचीन है, ऋग्वेद से लेकर समस्त वैदिक अथवा लौकिक साहित्य में नारी का अभिचित्रण उसके कर्मठ जीवन, त्याग, उत्सर्ग आदि गुणों को ध्यान में रखते हुए उसके गौरव के सर्वथा अनुरूप हुआ है। स्त्री को माता का आदर न केवल साहित्य की वस्तु रही है, समाज के दैनिक व्यवहारों और आचरणों में भी हम उसे इसी प्रकार पूजनीय पाते हैं। लोगों की सामान्य बोलचाल की भाषा में जहाँ स्त्रियाँ 'देवी' कहलाती हैं, पुरुषों को कभी 'देवता' कहकर अभिहित नहीं किया गया है। आगे चलकर कुछ नियम पुरुषों की विशेष

सुविधाओं को ध्यान में रखकर बनाये गये, परन्तु उनका अभिप्राय स्त्रियों की अवहेलना नहीं था। ऐसा कदाचित् विशेष परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार हुआ होगा। इसके लिए पुरुषों की नियामकता अथवा स्वार्थ-परायणता की बात करना उपयुक्त नहीं है।" लेखक ने पश्चिमी देशों के समाज पर विचार करते हुए बतलाया है कि "पश्चिमी विचारक इस विचार से अत्यन्त क्षुब्ध हैं कि उनके समाज सम्बन्धी अनेक अनुसन्धान समाज के भीतर अवस्थित अशान्त वातावरण में स्थिरता ले आने में क्यों नहीं सफल होते। सामाजिक स्थिरता के स्थान पर यूरोप और अमेरिका में बराबर वर्गभेद और अनेक जनसमूहों के बीच उत्क्रान्तिमूलक विस्थापन की प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं और यही स्थिति भारत के बाहर एशिया एवं संसार के दूसरे भागों में भी है।" इसके विपरीत भारत में सामाजिक स्थिरता इसलिए रही, क्योंकि सामाजिक तत्त्वों में सबसे महत्त्व के तत्त्व आचारविषयक होते हैं, जिन पर भारत ने बराबर ध्यान दिया है।

इस पुस्तक में *स्त्री और उत्तराधिकार* और *संसार की सभ्यताओं में भारतीय नारी का तुलनात्मक स्थान* विषयों का पिताजी ने डॉ. राजबली पाण्डेय के सुझाव से एवं *भारतीय शिल्प में नारी* विषय का समावेश मेरी इच्छा से किया था। मैंने भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नयी दिल्ली और डॉ. बेंजमिन रोलैण्ड (यू.एस.ए.) के कतिपय चित्र मँगाकर पुस्तक में संग्रहीत कराये। इसमें भारतीय संस्कृति के आधार तत्व, सामाजिक विकास-क्रम में पुरुष और स्त्री एवं पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध, प्रजनन के सिद्धान्त (जिसमें *ऋग्वेद* से प्रजनन सम्बन्धी कुछ ऐसे तत्त्व दिये गये हैं, आधुनिक यौवनशास्त्र के उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त (Law of Eugenics) से जिनका आश्चर्यजनक समर्थन होता है) जैसे समाजशास्त्रीय विषयों से आरम्भ कर मातृत्व, माता का आजीवन मार्ग-दर्शन, विवाह के प्रकार और आदर्श, सती प्रथा, परिवार में स्त्री का स्वरूप, नारी की अध्यात्म साधना, आधुनिक युग में नारी की प्रगति-जैसे अठारह विषयों के विवेचन में नारी के आदर्शों की सम्पूर्ण विवृत्ति दी गयी है। पुस्तक की भूमिका डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखी है। पिताजी के महाभारत और उपनिषद् विषयक कतिपय लेख जैसे 'ऐतरेय उपनिषद्', 'तैत्तिरीय उपनिषद्', 'वृहदारण्यक उपनिषद्' मैंने हिन्दी विश्वकोश में छपवाये थे।

1984 में ***गायत्री उद्बोधिका*** नामक एक छोटी पुस्तिका निकली, जिसमें गायत्री मंत्र के रहस्य को विस्तार से समझाया गया है। यह पुस्तक सारनाथ में पिताजी ने लिखी थी और दिल्ली में वह छापी गयी। इसमें कई वैदिक मंत्र टीका के साथ दिये गये हैं।

1986 में पिताजी की महान् कृति ***उपनिषद् रहस्य*** के प्रथम भाग का प्रकाशन हुआ, जो आकार में 679 पृष्ठों में है। कुल योजना तीन खण्ड की है। ग्रन्थ दिल्ली के नेशनल पब्लिशिंग हाउस में छप रहा है। प्रथम भाग के चार अध्यायों में उपनिषद् की परिभाषा—ब्रह्म-आत्मा, जीवन इन्द्रियों का संघात भर नहीं है—***कठोपनिषद्*** के *नासिकेतोपाख्यान* का रहस्य एवं स्वप्न-सिद्धान्त आदि का समावेश हुआ है।

पिताजी की तार्किक पद्धति का एक उदाहरण यह है :

"तैत्तिरीयोपनिषद् में उपलब्ध 'आनन्दमय' का तात्पर्य ब्रह्मसूत्र के अनुसार केवल 'आनन्दोमयोअभ्यासात्' (ब्रह्मसूत्र 1-2-12) समझना चाहिए। आनन्द और आनन्दमय का जो अभिप्राय रानाडे और राधाकृष्णन् ने लिया है 'Beatific Consciousness' उससे शंकर का विचार भिन्न है। शंकर के मत में उपनिषद् में ब्रह्म के दो

रूप बतलाये गये हैं–

(1) नामरूप विकार–भेदोपाधिविशिष्ट, इसके विपरीत (2) सर्वोपाधिविवर्जित। उनका विवक्षित यही अभिप्राय है कि–यह सच है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और वह सर्वशक्तिमान और चेतना है तथा जीवन तत्वतः वही (ब्रह्म) है। परन्तु जब तक जीव को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता–विद्या और अविद्या का भेद आते ही वह भेद अतात्विक या मिथ्या हो, विद्यमान रहता है। मनुष्य अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण ही नाना प्रकार के दुःख और सन्ताप में तड़फड़ा रहा है। इस दुःखप्रद अज्ञान को मिटाकर उसके सच्चे स्वरूप का उसे यह ज्ञान करा देना ही कि वह शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, सुख और दुःखमय मनुष्य नहीं है, सच्ची मुक्ति है और यही परम् आनन्द है। वह प्रायः मेरा ध्यान कठोपनिषद् के 2.3.10 मंत्र की ओर ले जाया करते थे, जिसमें वह सत्य छिपा हुआ है, जो आत्मदर्शन को बाधित करता है, परन्तु उसका ज्ञान हो जाने पर प्रत्यगात्मा को देखना और उसे अन्तःकरण से स्वीकार कर लेना, कुछ कठिन नहीं रह जाता।

यह रहस्य मेरी समझ में उस समय आया, जब मैं उनके उस पार्थिव शरीर के सामने, जो पंचतत्व में लय होने जा रहा था, उनके *धर्मकाय* का स्मरण कर माध्यमिकों के इस विचार की सार्थकता सोचने में लगा था कि–

न किश्चद्धर्मोऽस्मात् लोकात् संक्रामति।

बाबूजी

चन्द्रभाल त्रिपाठी

बाबूजी के व्यक्तित्व के बारे में, जिस बात की ओर सबसे पहले मेरा ध्यान जाता है, वह उनकी सत्यनिष्ठा थी। मेरे उस वयस् से लेकर, जब इन बातों को समझने की क्षमता आ गयी थी, बाबूजी के निधन के बीच की अवधि लगभग 48 वर्षों की थी। मस्तिष्क पर ज़ोर देकर भी मैं ऐसे किसी अवसर को याद नहीं कर सकता, जब बाबूजी ने असत्य भाषण किया हो। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि बाबूजी के प्रथम बड़े ग्रन्थ के नायक धर्मराज युधिष्ठिर की तरह उन्होंने कभी 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' की नीति भी नहीं अपनायी। मेरी समझ में उनकी सत्यनिष्ठा के तीन प्रेरणा-स्रोत थे—धर्मराज युधिष्ठिर, महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय और महात्मा गाँधी। इस विशिष्ट गुण के कारण भौतिक दृष्टि से अपने जीवन के अनेक वर्ष, जब वह बस्ती में वकालत कर रहे थे, कष्ट के साथ उन्हें बिताने पड़े। अपने ज्ञान और विद्वता के कारण सारे वकालतख़ाने में और अदालतों में वह आदर के पात्र थे, परन्तु एक वकील के रूप में वह असफल ही रहे। 1924 में उन्होंने बस्ती में वकालत शुरू की थी और लगभग 35 वर्षों तक इस पेशे में रहे। 1924 में श्री शंकर शरण ने (महान समाजसेवी मुंशी ईश्वर शरण के पुत्र और कालान्तर में इलाहाबाद हाई कोर्ट के प्रसिद्ध न्यायाधीश) बाबूजी को एक पत्र में लिखा था कि वह वकालत पेशे में बाबूजी के जाने के पक्ष में शुरू से ही नहीं थे, परन्तु चूँकि उन्होंने यह पेशा अपना लिया है, इसलिए इस पेशे में उनकी सफलता के लिए उनकी शुभकामनाएँ। इससे सिद्ध होता है कि विद्यार्थीकाल से ही उनके हित-मित्रों को उनकी चारित्रिक विशिष्टता का पूरा पता था और उन्होंने उनके भविष्य की जो कल्पना की थी, उसमें वकालत पेशे का कोई स्थान नहीं था। बाबूजी के पास ज़िले के कोने-कोने से मुवक्किल आते थे, जिनमें कुछ धनाढ्य और बड़े ज़मींदार भी होते थे। लेकिन बाबूजी को ज्यों ही यह पता चलता कि उनके मुवक्किल का पक्ष असत्य अथवा अन्याय पर आधारित है या उनका मुवक्किल झूठ बोल रहा है, तो वह तत्काल उसे डाँट कर वापस कर देते थे। ऐसी कुछ घटनाएँ मैंने स्वयं देखी थीं। इसी विचाराधारा के कारण उन्होंने फ़ौजदारी का कोई मुक़दमा नहीं लिया। बाबूजी की प्रसिद्धि सारे ज़िले में ऐसी हो गयी थी कि धनीमानी और सम्भ्रान्त लोग कहने लगे कि पण्डितजी बहुत योग्य और विद्वान हैं, लेकिन उनकी डाँट खाने कौन जाये। इसका परिणाम यह रहा कि उनके पास केस कम ही आते। आय काफ़ी कम होने लगी, तो उन्होंने अदालतों द्वारा कमीशन पर नियुक्ति का काम लेना शुरू कर दिया, जो आम तौर पर बड़े वकील नहीं लेते। बचपन में मैंने उन्हें इक्के पर वकालतख़ाने आते-जाते देखा था, लेकिन 1946 में

हाई स्कूल पास करने के कुछ वर्षों पूर्व से ही मैंने यह पाया कि वह इक्के का मामूली किराया भी देना नहीं चाहते और पैदल ही वकालतख़ाने जाने लगे थे। उस समय बस्ती-जैसे छोटे क़स्बे में (यद्यपि वह ज़िले का मुख्यालय था) इक्का ही आम सवारी थी, ताँगा या बग्घी कुछ बड़े आदमियों और रईसों की सवारी मानी जाती थी, रिक्शे का रिवाज शुरू नहीं हुआ था।

वकालत पेशे में ही नहीं, बल्कि सामान्य रूप से बाबूजी को असत्य बोलने वालों से बहुत चिढ़ थी। अपने कुछ अत्यन्त निकट सम्बन्धियों को वह असत्य बोलने के लिए सबके सामने बुरी तरह से फटकार देते थे। हाँ, कोई ग़लत काम करे और उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट करे या क्षमा माँगे, तो उसे वह सहज भाव से ग्रहण करते थे। मुझे याद है कि जब मैं शायद 9-10 वर्ष का रहा होऊँगा, बाबूजी और भाइयों के साथ बस्ती से लगभग 5-6 किलोमीटर दूर भद्रेश्वरनाथ शिवरात्रि के मेले में गया था। सुबह से ही निराजल व्रत रखा था और ऊपर से इतनी दूर पैदल चल कर जाना। भूख और प्यास दोनों से परेशान। सबकी आँख बचाकर एक हलवाई की दुकान से एक मिठाई चुरायी और छिप कर पानी भी पिया, फिर भी इसकी शिकायत बाबूजी तक पहुँच गयी। वह बहुत नाराज़ हुए और उन्होंने पूछा कि क्या यह सच है। मैंने उनसे साफ़-साफ़ कहा कि मुझे बहुत भूख और प्यास लगी थी, भूख शान्त करने का दूसरा कोई रास्ता नहीं था, इसलिए मैंने ऐसा किया, जो ठीक नहीं था। उसके बाद बाबूजी ने क्रोध त्याग कर मुझे समझाया।

बचपन से ही मुझ पर उनके व्यक्तित्व की दूसरी अमिट छाप पड़ी थी, जो उनकी वेशभूषा से सम्बन्धित थी। इस मामले में वह पूजनीय मालवीयजी की अनुकृति कहे जा सकते हैं। मालवीयजी के बारे में एक प्रसिद्ध दोहे की पहली पंक्ति है—*धवल देह अरु बेश, धवल चरित कीरति धवल*। उनकी जैसी ही वेशभूषा बाबूजी ने अपनायी—सिर पर सफ़ेद पगड़ी (जिसे वास्तव में हम लोग साफ़ा कहते थे), सफ़ेद या कभी हल्के रंग की शेरवानी, तंग पायजामा और जूते। सम्भवतः मालवीयजी के जूते सफ़ेद होते थे। शेरवानी के ऊपर गले से लिपटा हुआ और दोनों कन्धों से सामने की ओर लटकता हुआ दुपट्टा रहता था। हम लोग प्रति सुबह दुपट्टे को खींच कर करीने से चार तहों में बाबूजी के पहनने के लिए तैयार करते थे। इन वस्त्रों के अलावा मस्तक में हमेशा चन्दन सुशोभित रहता था। उपरोक्त वेशभूषा वकालतख़ाने में या सार्वजनिक अवसरों पर वह प्रयुक्त करते थे। परन्तु धोती, कुर्ता, गाँधी टोपी उनकी प्रिय वेशभूषा थी, विशेषकर धार्मिक और साहित्यिक समारोहों में। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विद्यार्थी जीवन से जीवन के अन्तिम क्षणों तक उन्होंने केवल खादी का व्यवहार किया।

बाबूजी जैसा संयमित जीवन दुर्लभ है। हमेशा वह ब्राह्म मुहूर्त में उठते और नियमित रूप से टहलने जाते। बचपन की एक याद मुझे यह भी है कि कभी-कभी वह विशेष पर्वों पर हम बच्चों के साथ सूर्योदय के काफ़ी पहले अँधेरे में ही स्नान करने कुआनो नदी जाते थे। हमारे घर से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर कुआनो नदी पर अमहट का पुल है और पुल के समीप नदी के किनारे एक शिव मन्दिर है। कार्तिक और माघ के महीनों में इस नदी स्नान का अनुभव मेरे मस्तिष्क में अभी भी ताजा है। यहाँ पर उल्लेख कर दूँ कि उस समय की कुआनो नदी, अमहट का पुल और शिवालय के आसपास का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोहारी था और उस चित्र को बस्ती की ही एक सन्तान सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने अपनी एक कविता द्वारा अमर कर दिया है।

सूर्योदय के कुछ देर बाद ही ठण्डे जल से बाबूजी हमेशा स्नान करते थे और उसके बाद नित्यप्रति विधिवत सन्ध्या-पूजन, जिसका स्थान खुले आँगन में एक कोने में था। वर्षा होने पर भी इस नियम में कोई व्यवधान नहीं होता था। सायंकाल भी सन्ध्या-पूजन का नियम अटूट रहता था। प्रातःकालीन सन्ध्या-पूजन के बाद ही वह जलपान करते थे। आहार-विहार में बाबूजी बहुत संयमी थे। उन्होंने सात्विक शाकाहारी भोजन आजीवन ग्रहण किया। फलतः वह केवल एक रोग (ख़ूनी बवासीर) को छोड़ कर कभी किसी अन्य रोग से ग्रसित नहीं हुए। हमारे गाँव के चरित्तर तिवारी का कहना था कि युवावस्था में बाबूजी-जैसा सुगठित और बलशाली शरीरवाला कोई व्यक्ति उस जवार (समीपवर्ती क्षेत्र) में नहीं था। बचपन में मैंने बस्ती में अपने घर में दो लम्बे मुगदर देखे थे, जिनका प्रयोग बाबूजी युवावस्था में करते रहे होंगे। उनको बवासीर ने कब जकड़ा, यह ठीक से नहीं मालूम, परन्तु मैंने उन्हें कम-से-कम 20-25 वर्षों से इस रोग से ग्रस्त पाया। 1963 में मेरी नियुक्ति चण्डीगढ़ में थी, जब बाबूजी और अम्माँ मेरे पास आये। उस समय बाबूजी का सत्तरवाँ वर्ष चल रहा था। बवासीर ने बहुत परेशान कर रखा था, परन्तु वह प्रायः घर में किसी को बताते नहीं थे कि उनको कितनी तकलीफ़ है। एक दिन उनको रक्तस्राव इतना अधिक हुआ कि वह अचेत-से हो गये। मैंने उन्हें चण्डीगढ़ स्थित पी.जी.आई. (पोस्टग्रैजुएट इंस्टीट्यूट ऑफ़ मेडिकल एजुकेशन एंड रिसर्च) में भर्ती कराया। डॉ. कुलदीप सिंह ने बताया कि यदि उन्हें भर्ती कराने में कुछ घण्टों की भी देरी होती, तो वह जीवित नहीं रह सकते थे। उनका हीमोग्लोबीन मात्र तीन ग्राम परसेंट रह गया था। डॉ. साहब ने इलाज शुरू किया और कहा कि अभी तीन-चार महीने उनको अच्छी ख़ुराक दीजिए, जिससे रक्त बन सके और उसके बाद ऑपरेशन सम्भव होगा। ऑपरेशन हुआ और उसके बाद वह सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ रहते हुए 21 वर्षों से अधिक जिये। इस घटना के दौरान उनसे यह जान कर हम लोगों को आश्चर्य हुआ कि 70 वर्ष के वयस् में पहली बार वह किसी अस्पताल के अन्दर गये थे। इसके पूर्व उन्होंने कोई अस्पताल देखा ही नहीं था, किसी भी सन्दर्भ में।

बाबूजी जिस पेशे में भी रहे हों—अध्यापन, पत्रकारिता, वकालत—उन्होंने सतत् स्वाधाय जारी रखा था। धर्म और दर्शन के गहन अध्ययन की प्रेरणा विद्यार्थी जीवन से ही उन्हें महामहोपाध्याय डॉ. सर गंगानाथ झा और महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज-जैसे मूर्धन्य विद्वानों और मनीषियों से मिली। उनके दीर्घकालीन स्वाध्याय की परिणति थी, उनकी अमर कृति ***उपनिषद् रहस्य***। हमारा बचपन भले ही आर्थिक सम्पन्नता के वातावरण में न बीता हो, परन्तु घर में एक सुरुचिपूर्ण साहित्यिक तथा सांस्कृतिक वातावरण हमें विरासत में मिला। हिन्दी का शायद ही कोई महान साहित्यकार हो, जिसकी प्रसिद्ध कृतियों अथवा कम-से-कम उसके नाम से बचपन से ही हम परिचित न रहे हों। कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य थे, जैसे ***कामायनी*** तथा ***साकेत***, जिन्हें बाबू जयशंकर प्रसाद और राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने हमारे नाना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को श्रद्धापूर्वक भेंट किया था और जिन पर आचार्य शुक्ल ने मार्जिन में पेंसिल से विस्तृत टिप्पणियाँ लिख रखी थीं। इन दोनों प्रसिद्ध काव्यों की ये प्रतियाँ स्पष्टतः हमारे नाना के देहावसान (2-2-1941) के बाद हमारे घर आयी होंगी। हमारे घर में चारों वेद, अनेक उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ उपलब्ध थे, जिनके संग्रह में बाबूजी को विशेष रुचि थी। फलतः बहुत छोटे वयस् से हम बच्चे ***ऋग्वेद*** की कुछ प्रसिद्ध ऋचाओं, ***रामायण*** और ***महाभारत***

के पात्रों आदि से परिचित हो चुके थे। संस्कृत के मूल पाठ के अतिरिक्त इन कई ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी साथ-साथ दिये गये थे। अतः हम लोग उस वयस् से *रामायण* और *महाभारत* की कथाओं, कालिदास के नाटकों आदि से परिचित होने लगे थे और ज्ञानार्जन की पिपासा भी बढ़ने लगी थी। इलाहाबाद से पंडित शिवकुमार शास्त्री ने *महाभारत* का मूल पाठ, हिन्दी अनुवाद और चित्रों सहित बहुत सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया था। मुझे याद है कि जब मैं वर्णमाला से परिचित ही हुआ था, उसी समय मुझे *महाभारत* के ऐसे अनेक पात्रों के नामों से परिचय प्राप्त हो गया था, जो अधिक नहीं जाने जाते, परन्तु जिनके चित्र उस संस्करण में थे—सुन्द-उपसुन्द, शान्तनु, मत्स्यगन्धा, तिलोत्तमा इत्यादि। अम्माँ मुझे बताती थीं कि जब मैं बहुत छोटा था, शायद 5-6 वर्ष का, मैंने एक बार महामना मालवीयजी की गोद में बैठ कर अपना ज्ञान छाँटा और उन्हें बताया कि कुल 19 लोग मर चुके हैं। मालवीयजी ने विस्मय के स्वर में पूछा, "अच्छा, वे कौन थे"? तब मैंने गिनाना शुरू किया—सुन्द, उपसुन्द मत्स्यगन्धा, तिलोत्तमा, रूरू-डुंडुभ, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, दुर्योधन और आगे चल कर हमारे घर दूध देने वाला एक ग्वाला और एक बछिया। अम्माँ बताती हैं कि मालवीयजी मुक्त रूप से हँस पड़े। अम्माँ और भी कई बातें बताती थीं, जैसे एक बार मैंने मालवीयजी को धमकाया कि अच्छा, ठहरो, हमारे बाबूजी आयेंगे, तब तुम्हें मारेंगे। यह बात शायद उस समय की होगी, जब मैं 3-4 वर्ष का रहा होऊँगा। उस समय मुझे क्या पता था कि बाबूजी न केवल महामना मालवीयजी के निजी सचिव रह चुके थे, वरन् महामना उनके आराध्यदेव थे।

बाबूजी निश्चय ही सच्चे सनातनधर्मी थे, परन्तु कट्टरता, अन्धविश्वास और पोंगापंथ से दूर। अम्माँ एक विलक्षण महिला थीं। औपचारिक रूप से उनकी शिक्षा नाममात्र की थी। उस युग में स्त्री शिक्षा पूर्वी संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश का तत्कालीन नाम) में नगण्य थी। स्वाध्याय से ही अम्माँ ने हिन्दी, बाङ्ला और पालि साहित्य का विशद अध्ययन किया। साथ ही उन्होंने असाधारण सामाजिक चेतना और राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का परिचय दिया। आज़ादी के बाद हरिजन कल्याण और समाज कल्याण फ़ैशन की बातें बन गयीं और सम्प्रति दलितों के नाम पर लम्बी-लम्बी क्रान्तिकारी बातें की जाती हैं। परन्तु आज से 60-65 वर्ष पूर्व दलितों के बीच काम करने वाले बहुत थोड़े लोग थे। यह उस युग के लिए विस्मय ही की बात थी कि एक कुलीन परम्परावादी सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में जन्मी अम्माँ ने कैसे स्वतः, सम्भवतः गाँधीजी की प्रेरणा से, दलितों के बीच काम करना शुरू किया और साथ-साथ खादी के काम को निहायत ईमानदारी के साथ अपनाया। वर्षों तक, जब तक बन पड़ा, अम्माँ का नियम था कि वह स्वयं जाकर या हम बच्चों को भेजकर श्री गाँधी आश्रम से सूत लेतीं और अपने पुराने चरखे पर सूत कातकर गुंडी जमा करतीं और उसके बदले में खादी की धोती, साड़ी और कुर्ते आदि का कपड़ा प्राप्त करतीं। किसी समय गाँधीजी ने कहा था कि खादी पहनने का वही अधिकारी है, जो स्वयं सूत काते। पैसे के बल पर तो कोई भी खादी ख़रीद और पहन सकता है। देश का दुर्भाग्य ही था कि आज़ादी के बाद पैसे के बल पर तमाम चोर-बाज़ारियों, चोर-उचक्कों ने खादी धारण करना शुरू कर दिया—ख़ास अवसरों के लिए, जब उन्हें किसी मंत्री या नेता से मिलना हो। लेकिन आज़ादी के पूर्व खादी पहनने में, जो गर्व और संतोष अनुभव होता था, उसकी कल्पना आज की पीढ़ी नहीं कर सकती। खादी पहनने की शुद्धता पर इतना ध्यान रखा जाता था कि कुर्ते के नीचे की बण्डी (बनियान) भी खादी की ही होनी चाहिए।

मैंने भी स्कूली दिनों में खादी पहनना शुरू कर दिया था, यद्यपि पूरे तौर पर नहीं, परन्तु 1946 से 1958 तक मैंने भी मात्र खादी का ही व्यवहार किया।

हरिजन सेवा के सन्दर्भ में अम्माँ से सम्बन्धित एक असाधारण घटना का उल्लेख करना आवश्यक है। बस्ती में बिजली 1950 में आयी। जलपूर्ति की व्यवस्था तो और बाद में हुई। आज भी वहाँ उठाऊ पाख़ानों का ही रिवाज है। पहले हर परिवार से किसी भंगी का परिवार सम्पृक्त रहता था। प्रत्येक भंगी परिवार कई परिवारों की सेवा करता था, जो उसके जजमान कहलाते थे। जजमानी की यह प्रथा देश के सात-आठ राज्यों में अभी भी विद्यमान है। अन्तर यह है कि पहले सेवा करने वाले परिवार के सुख-दुःख में जजमान हिस्सा बँटाते थे। तथापि न तो उस युग में सम्भव था और न ही आज सम्भव है, जो अम्माँ ने किया। हमारे घर में गोकुल नामक अधेड़ उम्र का एक भंगी काम करने आता था। वह साधु प्रकृति का था और सुना गया था कि उसके पैसे से अयोध्या में कोई मन्दिर बना है। उसका घर हमारे घर से लगभग 5 किलोमीटर दूर था। एक बार वह सख़्त बीमार पड़ा। मुझे याद है कि उस समय मैं स्कूल की किसी छोटी कक्षा में पढ़ता था और अम्माँ ने लगभग 15 दिन लगातार उसकी तीमारदारी की। वह नित्यप्रति पैदल चलकर गोकुल को दवा और आहार पहुँचातीं। कई बार मैं अम्माँ के साथ गया था। कम-से-कम मुझे इसके समकक्ष हरिजन सेवा का अन्य कोई निस्पृह उदाहरण नहीं मालूम।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात अम्माँ से सम्बन्धित है, जिसका प्रभाव निश्चय ही बाबूजी पर भी पड़ा। अम्माँ का झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति बहुत पहले से था। बचपन से ही वह अपने पिता के साथ सारनाथ के खण्डहरों में जाती रहीं। हमारे नाना आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की घनिष्ठ मित्रता अनागारिक धम्मपाल से थी, जिन्होंने भारत में बौद्ध धर्म का पुनरुद्धार किया और 1891 में महाबोधि सोसायटी की स्थापना की थी। आचार्य शुक्ल ने भगवान बुद्ध के जीवन पर आधारित एक श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ की रचना भी की थी *बुद्धचरित* शीर्षक से। 1931 में सारनाथ में, जब मूलगंधकुटी विहार का उद्‌घाटन पं. जवाहरलाल नेहरू ने किया था, उस अवसर पर अम्माँ उपस्थित थीं। पण्डितजी के दर्शन की पहली छाप मेरे मस्तिष्क में 1937 की है, जब वह पुरानी बस्ती के हथियागढ़ मैदान में भाषण देने आये थे। अस्तु, 1951 की जनगणना में अम्माँ ने अपने को बौद्ध घोषित किया (डॉ. आम्बेडकर से 5-6 वर्ष पूर्व)। बुद्ध और बौद्ध धर्म के प्रति अम्माँ के प्रेम के कारण बाबूजी भी अनेकों बार उनके साथ कुशीनगर और सारनाथ गये। उन्होंने भगवान बुद्ध की 2500वीं जयन्ती के अवसर पर *बुद्ध और बौद्ध धर्म* पुस्तक की रचना की और उसे प्रकाशित कराया।

अम्माँ धार्मिक सहिष्णुता, समाजसेवा, ग़रीबों की सेवा के लिए तो प्रसिद्ध थीं ही, परन्तु बाबूजी भी कम उदारवादी नहीं थे। जैसा पहले कह चुके हैं, वह नित्य सन्ध्या-पूजन करने वाले सनातनी ब्राह्मण थे, महामनाजी के पदचिह्नों पर चलने वाले थे, उन्हीं के निर्देशानुसार कांग्रेस में रहते हुए भी कई वर्षों तक हिन्दू महासभा में भी सक्रिय रहे (उस समय कांग्रेस स्वतन्त्रता आन्दोलन का राष्ट्रीय मंच था और कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, हिन्दू महासभा-जैसे दलों में रहते हुए भी लोग कांग्रेस के सदस्य रह सकते थे), तथापि सभी समुदायों में वह आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उनकी व्यापक ख्याति थी एक धार्मिक चरित्रवान व्यक्ति के रूप में।

मुस्लिम लीग के लोग कांग्रेसियों से बहुत चिढ़ते थे, परन्तु बस्ती के श्री मोहम्मद इसहाक तथा श्री मोहम्मद इस्माइल-जैसे प्रमुख लीगी नेता भी बाबूजी की बहुत इज़्ज़त करते थे। हमारे घर में धार्मिक सहिष्णुता का जो विलक्षण वातावरण था, उसका एक प्रतीक यह था कि हमारे गाँव से कुछ दूर स्थित एक गाँव नंदौर के मौलवी हसन अली प्रायः बस्ती आकर हमारे घर ठहरते थे। वह सात्त्विक वृत्ति के मौलवी थे। नियमित रूप से नमाज पढ़ते, तसबीह पढ़ते रहते थे। मौलवी साहब को हमारे घर के बर्तनों में ही शाकाहारी भोजन परोसा जाता था और हम बच्चे भी मौलवी साहब को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। इसी के साथ एक महापुरुष का उल्लेख करना समीचीन होगा, जो कई बार बस्ती आकर हमारे घर ठहरे—वह थे प्रज्ञाचक्षु पण्डित धनराज शास्त्री। वह विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष थे। उनके द्वारा डिक्टेट की गयी अमर कृति *प्रणववाद* के लिए वह अमर यश के भागी हैं। डॉ. भगवानदास ने बड़े अनुनय-विनय के साथ काशी में शास्त्रीजी से *प्रणववाद* के लिए डिक्टेशन की व्यवस्था की थी। बाद में डॉ. सम्पूर्णानन्द भी शास्त्रीजी को बड़े आदर के साथ बुलाते और प्रयत्न करते थे कि शास्त्रीजी कुछ लिखायें। शास्त्रीजी की एक शर्त रहती थी कि वह लगातार श्लोक बोलते जायेंगे, कोई उन्हें टोके नहीं और वह दुबारा किसी श्लोक को नहीं लिखायेंगे।

राष्ट्रीय आन्दोलन से बाबूजी विद्यार्थी काल से ही जुड़े रहे। बी.ए. पास करते ही उनकी प्रथम पुस्तक प्रकाशित हुई थी—*देशभक्त पार्नेल*। उन दिनों आयरलैण्ड का स्वाधीनता आन्दोलन भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए प्रेरणा का स्रोत था और आयरलैण्ड के मूर्धन्य नेता पार्नेल थे, जिनकी जीवनी बाबूजी ने 1919 में प्रकाशित की। असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप उन्होंने आयकर अधिकारी के पद को स्वीकार नहीं किया। विद्यार्थी काल में वह और हमारे चाचा (स्वर्गीय) पंडित शेषमणि त्रिपाठी एक अंग्रेज़ आई.सी.एस्. अधिकारी मिस्टर एस्.एच्. फ्रीमैंटिल के सम्पर्क में थे। मिस्टर फ्रीमैंटिल बोर्ड ऑफ़ रेवेन्यू के सदस्य थे। उन्होंने बाबूजी को काफ़ी समझाया कि गाँधी की आँधी में मत जाओ, आगे चलकर पछताओगे। परन्तु बाबूजी ने सरकारी पद स्वीकार नहीं किया, जो उस समय भारतीयों के लिए एक उच्च पद माना जाता था। मुझे तो यह याद है कि बचपन से ही हम राष्ट्रीयता के वातावरण में पले। श्री कृष्णकान्त मालवीय द्वारा सम्पादित और प्रकाशित उच्च कोटि का साप्ताहिक पत्र *अभ्युदय* नियमित रूप से हमारे घर आता था। उसका बलिदान अंक बहुत लोकप्रिय रहा। अन्य राष्ट्रवादी साहित्य से भी हमारा परिचय हुआ। अम्माँ ने जनवरी 1934 के बिहार भूकम्प पीड़ितों के लिए अथक परिश्रम किया। धन-अन्न-वस्त्रों को इकट्ठा कर पटना भिजवाया, जहाँ भूकम्प पीड़ितों की केन्द्रीय राहत समिति के सचिव राजेन्द्र बाबू थे। इसी प्रकार 1943 में बंगाल के अकाल पीड़ितों के लिए अम्माँ ने असाधारण कार्य किया था। आज यह याद कर हँसी आती है कि 1934 में समाज सेवा कार्य के लिए अम्माँ को इक्के में पर्दा लगवा कर निकलना पड़ता था। बस्ती-जैसी पिछड़ी और दक़ियानूसी जगह में समाज की भावनाओं का आदर भी आवश्यक था, अन्यथा समाज के सभी वर्गों से, हिन्दुओं और मुसलमानों से, धनिकों और मध्यम वर्ग के लोगों से, उन्हें पूरा सहयोग न मिलता। मैं भी उसी छोटी उम्र में इक्के में बैठकर उनके साथ कई बार गया था। परन्तु कुछ वर्षों बाद सामाजिक परिवर्तन हो चुका था और 1943 में बंगाल अकाल के पीड़ितों के राहत कार्य के लिए, कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक प्रतिष्ठान के ज़िला प्रतिनिधि की हैसियत से या अन्य सामाजिक-राजनीतिक कामों के लिए उन्हें किसी तरह के परदे अथवा निषेध का सामना नहीं करना पड़ा।

समाज सेवा के कार्य में उस युग में नेता अथवा कार्यकर्ता जिस प्रकार अपना उत्तरदायित्व निभाते थे और जनता से इकट्ठा किये गये धन, वस्त्र आदि का पूरा हिसाब रखने में मुस्तैदी दिखाते थे, इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण बाबूजी और अम्माँ द्वारा 1936 में प्रस्तुत किया गया। बस्ती ज़िले के अन्तर्गत मेंहदावल के निकटवर्ती कछार में कई गाँवों के लोग बाढ़ से पीड़ित थे। बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए उनकी पहल पर महिला मण्डल, बस्ती की ओर से धन और वस्त्र इकट्ठे किये गये। मेरे पास वह दस्तावेज़ है, जिसमें एक-एक पैसे और एक-एक नये और पुराने वस्त्र का हिसाब उपलब्ध है। किस व्यक्ति को क्या-क्या दिया गया, उसका पूरा विवरण है। यही नहीं, राहत कार्य के लिए बाबूजी के हस्ताक्षर से कार्यकर्ताओं को विस्तृत हिदायतें जारी की गयीं। इन हिदायतों को यहाँ उद्धृत करना उचित होगा–

"1. यह सहायता कम-से-कम आठ-दस गाँवों में पहुँचायी जाय।
2. सहायता उनको दी जाये, जो स्वयं अपनी सहायता न कर सकते हों और जो निःसंदेह ग़रीब और दुःखी हों।
3. सहायता पहुँचाने में किसी जाति का या हिन्दू-मुसलमान का भेद न रखा जाये–जो सबसे बड़ा पात्र हो, चाहे किसी जाति या धर्म का मानने वाला हो, उसे सहायता दी जाये।
4. कपड़े यथासाध्य स्त्रियों को, जो वस्त्रहीन हों, दिये जायें।
5. नक़द रुपये यथा आवश्यकता नक़दी रूप में या अनाज के रूप में या बीज के रूप में दिये जायें।
6. पूरी जाँच-पड़ताल के उपरान्त सहायता दी जाये।
7. जिसको जो सहायता दी जाय, उसकी पूरी तफ़सील–पाने वाले का नाम-ग्राम आदि तथा सहायता की संख्या आदि नोट कर ली जाये।
8. इस सहायता से लोगों का कष्ट कहाँ तक दूर होगा, इसकी रिपोर्ट आवे।
9. लोगों को कितना कष्ट है, इसकी सूचना जितना मालूम हो सके, दी जाये।
10. जो रिपोर्ट तफसील के साथ आवे, उसी के साथ कागज़ भी वापस आवे। उस रिपोर्ट पर पं. राजाराम मिश्र अपनी दस्तख़त बनाने के सिवाय उन लोगों की भी दस्तख़त या अँगूठा बनवा लें, जिनके साथ सहायता लोगों की की जाये।
11. पं. राजाराम अपने साथ हिन्दू पाठशाला मेंहदावल के अध्यापक पं. राजमणि को तथा कोटिया से पं. भगवती तिवारी को भी कछार में ले जायें–यथासम्भव ठा. जगन्नाथ सिंह, बाबू रामचरन सिंह व बाबू मुनेश्वर सिंह तथा पं. राजाराम शर्मा से वहाँ की अवस्था जान लें।
12. ऐसे लोग, जो देखने में शरीफ़ मालूम होते हों, लेकिन जाँच से मालूम हो कि पीड़ित हैं और शर्म के मारे माँग न सकते हों, उन्हें भी सहायता दी जाये।"

ह.
(चन्द्रबली त्रिपाठी)
30.8.36

इन हिदायतों से स्पष्ट होता है कि बाबूजी में जातिगत या धर्मगत भेदभाव की भावना लेशमात्र भी नहीं थी। साथ ही इनसे उनकी सूझबूझ, स्त्रियों के हित को प्राथमिकता और सार्वजनिक कोष के व्यय से शत-प्रतिशत ईमानदारी पर आग्रह का पता चलता है।

बाबूजी और अम्माँ से प्रेरणा पाकर 1944-45 से, जब मैं नवीं कक्षा का छात्र था, राष्ट्रीय आन्दोलन और समाज सेवा में मेरी गहरी दिलचस्पी हो गयी थी। ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन से अलग राष्ट्रवादी छात्र संगठन ऑल इंडिया स्टूडेंट्स कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी, जिसकी शाखा बस्ती में खोलने के लिए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के समाजवादी छात्र नेता डॉ. रामचन्द्र शुक्ल आये थे। बाबूजी के मित्र और क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी के मूर्धन्य नेता डॉ. हरभान सिंह तथा अन्य राजनीतिज्ञों के सम्पर्क में मैं आया। छात्र कांग्रेस की ओर से हम लोगों ने जोशोख़रोश के साथ आज़ाद हिन्द फ़ौज दिवस मनाया। फिर 1946 में संयुक्त प्रान्त विधान सभा के चुनाव के सिलसिले में पं. जवाहरलाल नेहरू बस्ती आये और छात्र कांग्रेस द्वारा उनको भेंट दिये जाने के लिए अभिनन्दन-पत्र का मज़मून मेरे अनुरोध पर बाबूजी ने तैयार किया। मैं 10वीं कक्षा का छात्र था और हाई स्कूल की परीक्षा निकट थी, तथापि हम लोगों ने उस समय भी सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के उम्मीदवारों के लिए चुनाव में काम किया। मुझे याद हैं, कांग्रेस की एक चुनाव सभा बाबूजी की अध्यक्षता में हुई थी, जिसे डॉ. कैलासनाथ काटजू ने सम्बोधित किया था। 1946 में मैं इलाहाबाद गया, गवर्नमेंट इंटरमीडिएट कॉलेज में पढ़ने के लिए और जाते ही कांग्रेस समाजवादी पार्टी के कुछ प्रमुख नेताओं के प्रभाव से पूरी तौर पर राजनीति में जुड़ गया। वह ज़माना इतना जोश और सरगर्मी से भरा हुआ था कि उसका अनुमान आज की युवा पीढ़ी नहीं कर सकती। बाबूजी ने मुझे कभी इन गतिविधियों से विमुख होने के लिए नहीं कहा, अलबत्ता इस बात की याद दिलाते रहते थे कि मुझे विद्यार्थी के रूप में अपने प्रमुख कर्तव्य विद्यार्जन को नहीं भूलना चाहिए।

पत्रकारिता से बाबूजी असहयोग आन्दोलन के दिनों से ही जुड़े रहे, जब उन्होंने गोरखपुर से प्रकाशित लोकप्रिय पत्र ***स्वदेश*** का सह-सम्पादन किया। उनके वरिष्ठ सहयोगी तथा पत्र के सम्पादक थे पं. दशरथ प्रसाद द्विवेदी, जो बाद में लोकसभा के सदस्य भी रहे। स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रमुख योगदान देने वाले दैनिक पत्रों ***अमृत बाज़ार पत्रिका*** और ***आज*** के ज़िला प्रतिनिधि बाबूजी वर्षों तक रहे। बचपन से ही ये दोनों पत्र नियमित रूप से मैं पढ़ता था। बाबूजी बताते थे कि भाषा सुधारने के लिए सम्पादकीय पढ़ना अनिवार्य है। जब मैं आठवीं कक्षा का छात्र था, मैं ऐंग्लो संस्कृत हाई स्कूल की संसद में सूचना मंत्री था और उपरोक्त दोनों पत्रों के आधार पर समाचार एकत्रित कर प्रत्येक शुक्रवार को संसद के समक्ष सारे विश्व, भारत, संयुक्त प्रान्त, अपने ज़िले और स्कूल के समाचार प्रस्तुत करता था। सारे विश्व और देश की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं तथा साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के बारे में भी सूचना एकत्रित करने से जो जागरूकता उस वयस् में मुझमें पैदा हुई, उसके लिए एक ओर जहाँ बाबूजी को श्रेय है, वहीं मैं अपने प्रिंसिपल स्वर्गीय विजयनाथ चक्रवर्ती का ऋणी हूँ। बाद में बाबूजी ने 1948 के लगभग जब बस्ती में ***पंचमुख*** नामक साप्ताहिक का सम्पादन आरम्भ किया, तो उमसें नियमित रूप से मैं लिखा करता था, विशेष रूप से देश की तमाम बड़ी हस्तियों के निधन

पर, जिनमें क्रांतिकारी, साहित्यकार, समाजशास्त्री आदि सम्मिलित थे। उनके बारे में सामग्री इकट्ठा कर मैंने *पंचमुख* में श्रद्धांजलियाँ छपवायी थीं। बाबूजी द्वारा प्रोत्साहन पाने का ही परिणाम था कि जब मैं 11वीं कक्षा का छात्र था, 1946 में *भारत*-जैसे प्रमुख दैनिक पत्र में मेरा प्रथम लेख प्रकाशित हुआ।

बाबूजी और अम्माँ दोनों को देशाटन का बहुत शौक़ था। महामना मालवीयजी के निजी सचिव के रूप में बाबूजी ने सारा देश देख लिया था। वह अक्सर मालवीयजी के पंजाब के तूफ़ानी दौरे का ज़िक्र करते थें, जिसमें वह मालवीयजी के साथ निरन्तर रहे। अवकाश के क्षणों में देश के कोने-कोने के अपने अनुभव और महापुरुषों के संस्मरण सुनाते थे। 1926 में गुवाहाटी में श्री श्रीनिवास आयंगार की अध्यक्षता में कांग्रेस अधिवेशन हुआ था, जिसमें बाबूजी ने भाग लिया था। उस समय उन्होंने असम के कुछ भाग देखे थे और असम के कई बड़े व्यक्तियों से भेंट की थी। उसके लगभग 35-40 वर्षो के बाद जब मेरे अनुज असम 'काडर' में आई.ए. एस्. अधिकारी नियुक्त हुए, तो उन्होंने बाबूजी और अम्माँ को असम और अरुणाचल प्रदेश के अनेक स्थानों की यात्रा करायी। अरुणाचल प्रदेश और पूर्वोत्तर भारत के कुछ अन्य स्थानों का पौराणिक काल से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस पर वह प्रकाश डालते थे, जबकि औसत व्यक्ति के दिमाग़ में यह भ्रामक बात बैठा दी गयी है कि पूर्वोत्तर भारत का सम्बन्ध देश के अन्य भागों से नगण्य है या रहा है। मुझे भी इस वात का अवसर मिला कि मैं बाबूजी और अम्माँ को जयपुर, अजमेर, चित्तौड़गढ़, उदयपुर, हल्दीघाटी, चण्डीगढ़, होशियारपुर, भाखड़ा नंगल, मंडी, कुल्लू, मनाली, ज्वालामुखी, चिन्तपूर्णी इत्यादि घुमा सका। मैं अपने सेवा काल में देश के प्रायः हर भाग में घूमा हूँ। हरिजनों तथा आदिवासियों के काम के अलावा मैं नियमित रूप से उन सभी धार्मिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक स्थलों के बारे में विस्तार से बाबूजी को पत्र लिखा करता था। वह मेरे उन पत्रों को बहुत चाव से पढ़ते और मुझे प्रोत्साहित करते थे कि इस महत्त्वपूर्ण यात्रा-साहित्य का संकलन करूँ। कभी-कभी किसी स्थान विशेष के बारे में वह मुझे नयी जानकारी भी देते थे।

बाबूजी से अनेक महत्त्वपूर्ण दिशाओं में प्रेरणा प्राप्त करने के अलावा कुछ ऐसी छोटी-सी लगने वाली बातें थीं, जो अपने में विशेष महत्त्व रखती हैं और जिन्हें मैंने उनसे सीखा। हज़ारों की संख्या में बाबूजी ने पत्र जमा कर रखे थे। हर पत्र पर पाने की तारीख़ और उत्तर देने की तारीख़ अंकित कर देते थे। यह आदत मैंने भी यथासम्भव निभाने की चेष्टा की है। काग़ज़ के पूर्ण प्रयोग पर वह ज़ोर देते थे। शायद यह उस युग की ही विशेषता थी और गाँधीजी ने अनगिनत लोगों को इसके लिए प्रेरणा दी होगी। गाँधीजी के पास लिफ़ाफ़े में जो पत्र आते थे, उन लिफ़ाफ़ों को खोल कर पलट कर उसी सीमित काग़ज़ के टुकड़े का भी उपयोग गाँधीजी छोटे-छोटे नोट लिखने के लिए किया करते थे। इसके कुछ दृष्टान्त मैंने गाँधीजी के एक पुराने स्टेनोग्राफ़र श्री कल्याणम् के घर पर मद्रास में देखे थे। (अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त के मद्रास स्थित क्षेत्रीय कार्यालय में कुछ वर्ष श्री कल्याणम् सहायक आयुक्त के पद पर काम कर चुके थे।) यह आदत भी मैंने बाबूजी से सीखी। गत 36 वर्षों में जिन सरकारी कार्यालयों में मैंने काम किया, काग़ज़ के अधिकतम इस्तेमाल पर ज़ोर दिया। एक अन्य आदत जो मैंने बाबूजी को देख कर डाली, वह है प्रतिदिन, आय-व्यय का हिसाब नियमित रूप से लिखना। कहीं पढ़ा था कि एक बार गाँधीजी को एक पैसे का हिसाब नहीं मिल रहा

था और उसकी जाँच तब तक करते रहे, जब तक उनको हिसाब मिल नहीं गया। मैंने बचपन से ही देखा था कि रोज़ रात को बाबूजी दिन भर के आय-व्यय का हिसाब लिखते थे। मैंने इसका अनुकरण किया और आज तक कर रहा हूँ। मेरी इस आदत पर मेरे बच्चे हँसते हैं, परन्तु इसकी उपादेयता की व्याख्या करने के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है।

1893 से 1985 तक की बाबूजी की लम्बी जीवन यात्रा पर एक विहंगम दृष्टि डालने से बिस्मय और श्रद्धा की मिश्रित भावनाएँ उभरती हैं। एक पिछड़े प्रदेश के एक अत्यन्त पिछड़े जनपद के एक गाँव में एक साधारण परिवार में जन्म लेकर, जहाँ उनके पिता निरक्षर भट्टाचार्य थे, बाबूजी ने अपनी लगन, निष्ठा और चारित्रिक बल के आधार पर न केवल एम्.ए., एल्.एल्.बी., एल्.टी., विशारद की उपाधियाँ प्राप्त कीं, वरन् देश के कई महापुरुषों के निकट सम्पर्क में आकर उनका विश्वास और स्नेह अर्जित किया और स्वतन्त्रता के पूर्व तथा उसके पश्चात् राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वैदिक साहित्य से लेकर समग्र भारतीय चिन्तन का गहन अध्ययन किया। उपनिषदों को न केवल पढ़ा और समझा, बल्कि उपनिषद् की सीख के अनुरूप अपने जीवन को यथासाध्य ढाला। जीवन के अन्तिम मासों में उन्हें और कुछ पढ़ने की रुचि समाप्त हो गयी थी। कहते थे कि उपनिषदों को पढ़ने और आत्मसात करने के बाद और कुछ पढ़ने को रह नहीं जाता। यदि हम ऐसी पुण्यात्मा के चरण चिह्नों पर चलने की यत्किंचित क्षमता भी अर्जित कर सकें, तो वह प्रभु की अनुकम्पा ही होगी।

श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी : एक उदारमना कर्मठ नारी

अरुणा त्रिपाठी

आज जब कि बाबूजी (पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी) की शतवार्षिकी के उपलक्ष्य में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा हो रही है, तो मुझे बरबस उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी का स्मरण हो आता है, जो उनका सम्बल थीं। लेखक स्वभाव से ही दैनिक जीवन के पचड़ों से दूर रहना चाहते हैं, पर जीवन की गाड़ी को अवाध गति से चलाने के लिए संघर्ष अनिवार्य है। श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी ने सारा संघर्ष अपने हिस्से ले अपने पति को चिन्तन एवं लेखन के लिए स्वतंत्र कर दिया। उन्होंने गृहस्थी की सारी जिम्मेदारियाँ स्वयं ओढ़ लीं, जिससे उनके पति निर्द्वन्द्व हो चिन्तन, मनन और रचना-कर्म में डूब सकें। अपने चारों पुत्रों की देखभाल उन्होंने अकेले ही की। उनकी पढ़ाई-लिखाई की देखरेख ओर बीमारी आदि में पूरी देखभाल वे स्वयं करती थीं। वच्चों के सामने कोई भी कठिनाई आये या समस्या उठ खड़ी हो, तो वे अम्माँ से ही कहते थे और अम्मा ही उसका उपाय करती थीं। उनके चारों पुत्र भी अपनी स्नेहमयी अम्माँ का बहुत आदर करते थे। उनके गरिमामय व्यक्तित्व के ऐसे कई पहलू थे, जो लोगों को प्रभावित करते थे। मैं अपने जीवन में कम लोगो को प्रभावित हुई हूँ, पर मुझे गर्व है कि मैं अम्माँ के सम्पर्क में आयी। सन् 1967 में उनके कनिष्ठ पुत्र चन्द्रधर से मेरा विवाह हुआ।

अम्माँ पक्की कांग्रेसी थीं और सदैव खादी पहनती थीं। हर शुक्रवार को वह दोपहर बाद कुछ नहीं खाती थीं, क्योंकि शुक्रवार की सन्ध्या को गाँधीजी को गोली मारी गयी थी। पहले वे अपने घर में हर शुक्रवार को सर्वधर्म प्रार्थना करती थीं, पर बाद में वे शुक्रवार को सन्ध्या समय गाँधीजी के प्रिय भजन पढ़ती थीं। वह कांग्रेस की उस पुरानी पीढ़ी की थीं, जो गाँधी जी की बतायी हुई राह पर चलती थी और जिसने जीवन-मूल्यों से कभी समझौता नहीं किया। उनका परिवेश गाँव से जुड़ा एक कट्टर सरयूपारी ब्राह्मण परिवेश था, पर गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित हो उन्होंने जात-पाँत, छुआ-छूत आदि का त्याग कर दिया। मुसलमान आगन्तुकों को घर पर भोजन कराना तत्कालीन समाज में विरल था, पर अम्माँ के कारण घर में धर्म एवं जाति के आधार पर खानपान में कोई बन्दिश न थी।

अपने गाँव के कितने ही अनुसूचित जाति के परिवारों की उन्होंने भरसक मदद की। एक बार मैं उनके पास गोरखपुर गयी। वहाँ रात के समय एक वृद्धा बरामदे में बिस्तर बिछाये सोने का उपक्रम करती ज़ोर-ज़ोर से कुछ कह रही थी। पूछने पर पता चला कि उसके परिवार की मदद हमेशा होती रहती है, और अभी उसे गरम कपड़े व बिस्तर दिये गये हैं, जिसके कारण वह अम्माँ को आशीष दे रही है। वे हमेशा कहतीं कि मै



(छायाचित्र : चन्द्रधर त्रिपाठी)

दुर्गावती त्रिपाठी (1903-1970)
(चित्र : 1967)

अन्य महिलाओं की भाँति पुराने कपड़ों से कभी बर्तन नहीं ख़रीदती, क्योंकि मुझे हमेशा लगता है कि यदि मैं कपड़े ग़रीबों में बाँट दूँ, तो उनकी कुछ सहायता हो जायेगी। अपने स्वयं के साधन सीमित रहने पर भी वे हमेशा ग़रीबों की मदद के लिए तत्पर रहतीं, जो एक बहुत बड़ी बात है। वे कभी अन्याय सहन नहीं कर सकती थीं, वह चाहे परिवार में हो या पास-पड़ोस में, निर्भीकता से उसका विरोध करती थीं।

बुद्ध भगवान के मानवता, अहिंसा और करुणा के संदेश ने अम्माँ को प्रभावित किया। पहले वे प्रतिवर्ष सारनाथ की यात्रा करती थीं, पर जब उनके ज्येष्ठ पुत्र सारनाथ में रहने लगे, तो वे अक्सर सारनाथ जातीं। जब वे हम लोगों के पास शिलांग आयीं, तो वहाँ भी खोज कर बौद्ध मन्दिर गयीं। जब भी वे बौद्ध मन्दिर जातीं, तो अवसर के अनुरूप फल, मिठाई या पैसे भिक्षुओं को अर्पित करतीं। जनगणना में उन्होंने अपने को बौद्ध लिखवाया था। जानवरों से भी अम्माँ को बहुत लगाव था और बिल्लियाँ तो विशेष रूप से प्रिय थीं। अपने एक बिल्ले करुप्पन (तमिल में कृष्ण) के कारनामे वे अक्सर सुनाया करतीं। उनके हृदय में प्राणिमात्र के लिए दया थी। परिवार के लोग बताते हैं कि वैसे तो बाबूजी को अम्माँ द्वारा पाली गयीं बिल्लियाँ विशेष पसन्द थीं, पर यदि वे कुछ दिनों के लिए बाहर चली जातीं, तो वे बिल्लियों के बारे में अवश्य पूछते कि उनको खाना इत्यादि दे दिया गया है या नहीं।

प्रारम्भ से ही उन्हें अध्ययन में रुचि थी। गृहस्थी की ज़िम्मेदारियों को निभाते हुए उन्होंने स्वाध्याय जारी रखा। पढ़ने-लिखने के लिए वे सदैव समय निकाल लेतीं थीं और वयोवृद्ध हो जाने पर तो उनका अधिकतर समय पढ़ने-लिखने में ही बीतता। प्राचीन भारतीय इतिहास, बौद्ध साहित्य और बाङ्ला साहित्य उनके प्रिय विषय थे। प्राचीन भारतीय इतिहास से उन्हें विशेष लगाव था। अपने गाँव के आसपास के क्षेत्र में घूम-घूम कर उन्होंने बहुत से प्राचीन सिक्के, टेराकोटा व मूर्तियों का संग्रह किया था। प्राचीन ब्राह्मी लिपि का उन्हें ज्ञान था। एक बार मैं अपने मायके में थी, तो उन्होंने मुझे ब्राह्मी में पत्र लिखा। पुनश्च लिखकर एक पंक्ति हिन्दी में लिखी थी कि तुम इस पत्र को अपने बाबा से पढ़वा लेना। मेरे बाबा पण्डित जनार्दन भट्ट संस्कृत और पालि के प्रकाण्ड विद्वान और पुरातत्वशास्त्री थे। उनकी पुस्तक ***अशोक के धर्मलेख*** अपने विषय पर किसी भी भाषा में प्रकाशित होने वाली पहली पुस्तक थी। अपने पुरातत्व संग्रह के बारे में अम्माँ अनेक रोचक संस्मरण सुनाती थीं। एक बार किसी स्थान को लोगों ने खोदने से मना कर दिया, क्योंकि लोगों की मान्यता थी कि उस स्थान पर कुछ जादू-टोना किया गया है। इनके यह कहने पर कि अच्छा पहला फावड़ा मैं चला देती हूँ, उसके बाद तुम लोग खोद देना, वे लोग सहमत हो गये। पहला फावड़ा अम्माँ ने चलाया और यह कहकर कि 'सब पाप-दोख मतवा (माता) के नाम' बाकी लोगों ने खुदाई प्रारम्भ कर दी। उस स्थान से उन्हें कुछ प्राचीन सिक्के मिले।

कुछ समय तक अम्माँ-बाबूजी हमारे साथ असम में रहे। अम्माँ को असम बहुत अच्छा लगा और थोड़े ही समय में उन्होंने वहाँ के रीति-रिवाजों, साहित्य-इतिहास की अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली। उन्हें बाङ्ला लिखनी-पढ़नी आती थी। लिपि में समानता होने के कारण वे शीघ्र असमिया भी पढ़ने लगीं। मेरे पति को किसी ने असमिया में कुरान शरीफ भेंट किया था। उनकी दृष्टि उस पर पड़ गयी और वे उसे पढ़ने लगीं। एक दिन हम लोगों के एक मुसलमान मित्र घर पर आये। अम्माँ को असमिया में कुरान शरीफ पढ़ते देख इतने प्रभावित

हुए कि सब परिचितों से उनका गुणगान करते नहीं थकते। बाद में वे जब भी कभी हम लोगो से मिलते, अम्मॉ के विषय में बात ज़रूर करते।

अम्मॉ के सम्पर्क में जो भी आता, वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। वे परिवार का केन्द्र-बिन्दु थीं और वाबूजी की साहित्य-साधना बिना अम्मॉ के सहयोग और श्रम के पूर्ण नहीं हो सकती थी। *उपनिषद् रहस्य*-जैसे ग्रन्थ के पीछे वाबूजी के जीवन भर का अध्ययन व मनन छिपा हुआ। है और यह तभी सम्भव हुआ, जब अम्माँ ने सारी ज़िम्मेदारी स्वयं ओढ़कर बाबू जी के लिए अध्ययन और चिन्तन का मार्ग सहज कर दिया। वाबूजी की साहित्यिक उपलब्धियों का बहुत कुछ श्रेय अम्माँ को भी जाता है।

बाबा

बुद्धरश्मि मणि

अतीत की गहराइयों में मैंने बहुत-से प्रवर्तन-बिम्बों के स्तर-निर्माण देखे हैं। इन बिम्बों ने स्मृतिपटल रूपी किनारे के रेत के दूहों पर निरन्तर उन लकीरों को छोड़ा है, जिन्हें न तो आज तक मिटा सका हूँ और न ही मिटाना चाहता हूँ। इन बिम्बों में एक हमारे परिवार से सम्बद्ध है, जिसके सीमित दायरे की गिनी-चुनी कड़ियाँ एक सूत्र के माध्यम से पिरो कर सँभालने वाले महापुरुष थे—हमारे बाबा—पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी। प्रवर्तन-बिम्बों के स्तरों को कालक्रम के अनुरूप रखने पर मैं सीधा 1958-59 के वर्षों में पहुँच जाता हूँ, जब मैंने चलना-बोलना सीखा। उस समय की कुछ धुँधली स्मृतियाँ आज तक बची हुई हैं। अपनी उस अबोध अवस्था से लेकर आज तक कई अवस्थाएँ आयीं, जब मैंने बाबा को अपनी बुद्धि के अनुरूप जानना-समझना चाहा।

सन् 1958 में अपने माता-पिता के साथ वाराणसी आने से पूर्व हम सब बस्ती के मालवीय रोड वाले अपने मकान में रहते थे। बाबा नियमित रूप से कचहरी जाते थे। मुझे अधिक स्मरण उस समय का नहीं है, किन्तु बाबा की दैवी छवि, घर के कुछ हिस्से, जैसे एक वह, जहाँ अम्माँ (मेरी दादी) ने बिल्लियाँ पाल रखीं थीं और विशेष रूप से एक घटना की याद बनी हुई है। मैं बाबा-अम्माँ और माता-पिताजी के साथ बस्ती से लगभग 5 किलोमीटर दक्षिण सिसवनियाँ के पुरातात्विक स्थल पर गया था। इस स्थल पर अम्माँ और मेरे पिताजी ने अनेक बार जाकर सैकड़ों मृणमूर्तियाँ, सिक्के, मनके तथा अन्य पुरावशेष एकत्र किये थे। बाद में पुरातत्व का विद्यार्थी होने के बाद और भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में आने के बाद मैंने इस स्थल की पहचान प्राचीन सेतव्या नगरी से की। बरसात के मौसम में हम लोग टीले पर घूम रहे थे कि अचानक मेरा पैर फिसला और मेरा हाथ छोटे-से गड्ढे में इकट्ठे हुए पानी में छपाक से गया और जब मैंने हाथ खींचा तो मेरे हाथ में एक शुंगकालीन घोड़े की मृणमूर्ति आ गयी, जिसे देख मैं अपनी तोतली भाषा में 'घोवा' 'घोवा' कहने लगा। आज मुझे ऐसा लगता है कि मेरे अन्दर पुरातत्व का बीज उसी समय से प्रस्फुटित हुआ, क्योंकि मैं प्रायः अपनी दादी और पिताजी के साथ आगे भी पुरातत्व-स्थलों पर जाता रहा और पुरातत्व से सम्बन्धित विषयों में अधिक रस लेता था, चाहे वह पहचान की बात हो या पुरावशेषों की अथवा राजनैतिक इतिहास की। दादी ने मुझे ब्राह्मी लिपि ग्यारह-बारह वर्ष की आयु में ही सिखला दी थी और उनसे मेरा पत्र-व्यवहार भी कभी-कभी अशोककालीन ब्राह्मी लिपि (तीसरी शती ई.पू.) में होता था।

बाबा को शौच-स्नान आदि के लिए जल की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती थी। वे सदा ठण्डे जल का उपयोग करते थे। उनकी जीवन-शैली की इस तरह की कुछ विशेषताएँ उनके जीवन के अन्तिम दिनों तक बनीं रहीं। बाबा पूर्णता में विश्वास रखते थे। शौच-स्नान आदि के पानी की बाल्टी, लोटा अथवा जो भी पात्र रखा जाता था वह पूरी तरह से भरा रखना पड़ता था। बात सम्भवतः 1958 की है, जब बस्ती के घर में मैं बाल-चापल्यवश भरी बाल्टी में अपनी हथेली से छप-छप कर रहा था। भूमि से उठाकर लोटा बिना पेंदी साफ़ किये पानी में डालते ही बाबा ने कुछ रुष्ट होकर ऐसा न करने को कहा और उनकी अचानक निकली रोष भरी वाणी से मैं उस समय थरथरा गया और उस घटना की छाप मेरे मस्तिष्क में आज तक बनी हुई है।

मैं बाबा के पौत्र-पौत्रियों में सबसे बड़ा हूँ। अपनी पीढ़ी में घर में सबसे बड़ा होने के कारण ही मैं माता-पिता-पितृव्यों की सुन कर अपनी दादी को 'अम्माँ' बुलाता रहा और उनसे सदा खुलकर शरारतें कीं और अपनी बाल-सुलभ अवस्था के अनुरूप उन्हें अपना सबसे प्रिय मित्र माना; किन्तु बाबा के साथ लेशमात्र भी धृष्टता करने का कभी भी साहस न हुआ। उनके सामने पूरी तरह से अनुशासन में रहने की आदत पड़ गयी, इतनी छोटी अवस्था से ही अनुशासन में रहने का अभ्यास जीवन में मेरे बहुत काम आया है। हमारे अन्दर जहाँ एक ओर बाबा के प्रति अनुशासन और भयमिश्रित आदर की भावना थी, वहीं दूसरी ओर बाबा का स्नेह और आशीषपूर्ण व्यवहार हमें सुखद आश्चर्य देता था। किन्तु मैंने स्वयं एवं अपने चचेरे भाई-बहनों को बाबा के समक्ष सदा पूर्ण संतुलित एवं संयमित ही पाया। मैंने अपने बड़ों से सुना है कि बचपन में मैं एक कहानी बनाकर सुनाता था, जिसे बाबा भी बहुत पसन्द करते थे। उस कहानी का सम्बन्ध उस घटना से था, जब मैं बाबा की गोद में बस्ती में घर के बाहर द्वार पर आँवले और शीशम के पेड़ों के बीच में घूम रहा था और बाहर खड़ा हाथी बाबा के संकेत पर वहाँ से हट गया, जिसे देख कर मुझे अपार आनन्द की अनुभूति हुई और मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया कि बाबा महान शक्तिशाली एवं सर्वसमर्थ पुरुष हैं, जिनके डर से हाथी भी भाग गया।

कालचक्र की गति बढ़ती है और मैं अपनी उस अवस्था में पहुँचता हूँ जब कि घटनाएँ एवं क्रियाकलाप मुझे पूरी तरह से स्मरण हैं। मेरा विद्यारम्भ संस्कार हुआ और बाबा ने उस अवसर पर पुरानी लकड़ी की उस तख्ती पर, जिस पर परिवार के अन्य बड़ों के विद्यारम्भ संस्कार हुए थे, केशर की स्याही और सोने की कलम से मुझे देवनागरी वर्णमाला के अक्षर लिखवाये। यह संस्कार सारनाथ के आधुनिक मूलगन्धकुटी विहार मन्दिर के पूर्व में अनागारिक धर्मपाल द्वारा श्रीलंका से लाये हुए बोधिवृक्ष की शाखा की प्रशाखा के नीचे सम्पन्न हुआ था। यह समय था जब बाबा का स्वास्थ्य यद्यपि पहले जैसा नहीं था, फिर भी उन्हें अर्श रोग से मुक्ति मिल चुकी थी। साथ-साथ बाबा और अम्माँ अपने पुत्रों के पास अलग-अलग स्थानों पर कुछ-कुछ दिन रहने लगे थे और बाबा ने बस्ती में वकालत बन्द कर दी थी तथा उन्होंने कचहरी का अपना कमरा भी किसी अन्य नये एडवोकेट को सौंप दिया था।

जब भी वर्ष के कुछ महीनों के लिए बाबा और अम्माँ हमारे पास सारनाथ अथवा वाराणसी आते थे, तो मेरी बाँछें खिल उठती थीं। जिस दिन पत्र अथवा किसी व्यक्ति के द्वारा उनके आने की सूचना मिलती

थी, उस दिन से लेकर जब तक वे लोग आ नहीं जाते थे, दिन बिताना कठिन हो जाता था। बस यही लगा रहता था कि तुरन्त वे लोग आ जायें। सारनाथ में अम्माँ-बाबा बहुत ही प्रसन्न रहते थे। बाबा सुबह और साय दोनों समय सारनाथ में कम-से-कम 3-4 किलोमीटर पैदल घूमने निकलते थे। प्रातः घूमकर लौटते समय हरसिंगार के पेड़ से झड़े हुए फूल लाकर अपने बिस्तर पर रखते थे, जिनकी सुगन्ध से घर सुवासित हो उठता था। अम्माँ भी दिन में प्रायः महाबोधि सोसायटी के पुस्तकालय आदि स्थानों पर जातीं थीं और सायंकाल मूलगन्ध कुटी विहार की प्रार्थना और सूत्रपाठ में सम्मिलित होती थीं। सारनाथ में महाबोधि कॉलेज और धर्मपाल डिग्री कॉलेज के प्रधानाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित जी से पुरातत्व एवं इतिहास विषय पर अथवा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं पर उनकी लम्बी चर्चाएँ होतीं थीं। 1958 में बस्ती से आने के बाद सारनाथ और वाराणसी दोनों स्थानों पर समय-समय पर हम लोग रहते रहे। 1965 ई. के बाद तो लगातार सारनाथ ही रहे। सारनाथ आने पर अम्माँ अपने पिता स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के घर अपने छोटे भाई पं. गोकुलचन्द्र शुक्ल एवं उनके परिवार से मिलने तथा नवाबगंज में अपनी ननिहाल और मिर्जापुर में अपने 'ददुदा' के बनवाये घर अन्य आत्मीयजनों से मिलने जाती थीं। बाबा जब सारनाथ से वाराणसी जाते थे, तो महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के साथ बिताये गये समय का स्मरण करते थे, विशेषतः जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर जाते थे। वैसे संकटमोचन, काशी विश्वनाथ, अन्नपूर्णा आदि के दर्शन एवं गंगा स्नान के लिए कभी-कभी हम सबके साथ जाते थे।

मैंने विद्यालय जाना 1965 में प्रारम्भ किया और सारनाथ के महाबोधि कॉलेज में सीधे कक्षा छह में मुझे प्रवेश मिल गया। विद्यालय के इन प्रारम्भिक वर्षों में गणित, अंग्रेज़ी, संस्कृत आदि विषयों में कुछ न समझ में आने पर यदि मैं बाबा से पूछता तो किसी भी छोटे-से-छोटे विषय को उसके पूरे विस्तार के साथ वे समझा देते थे और उनकी बतलायी और समझायी बातें आज लगभग तीस वर्षों के बाद भी मुझे भूली नहीं है। पहले भी मैंने लिखा है कि बाबा किसी भी क्षेत्र में पूर्णता के पक्षधर थे। परीक्षा के बाद प्रश्न-पत्र लेकर परीक्षा के दिनों में बाबा के पास विद्यालय से आते ही बैठना पड़ता था और उन्हें उत्तर-पुस्तिका में लिखे गये प्रश्नों के उत्तर के पूरे विवरण देने पड़ते थे। फिर परिणाम में कितने अंक प्राप्त होंगे, इसे जोड़कर वे बतलाते थे और आश्चर्यजनक रूप से परीक्षाफल निकलने पर वह लगभग सही ही होता था। मुझे कभी-कभी खीझ हो उठती थी—ऐसा लगता था कि अधिक अंक प्राप्त होंगे, लेकिन बाबा ने कम जोड़े हैं, किन्तु परिणाम देखकर शान्त होना पड़ता था। एक मज़ेदार बात, यदि कोई सहपाठी ऐसे अवसर पर परीक्षा देकर मेरे साथ घर आता, तो उसे भी बाबा के समक्ष पुनः एक परीक्षा देनी पड़ती थी। कभी ऐसे में यदि मेरे सहपाठी ने प्रश्न का सही उत्तर दिया होता और मेरा उत्तर सही न होता, तो बाबा के रोष से बचना कठिन था। वे पूछते कि मेरे मित्र ने जब सही लिखा है, तो मैंने क्यों नहीं सही लिखा। यहाँ तक कि यदि आधा अंक भी छूट जाता, तो उन्हें उसका कष्ट होता था और वे हमें यह महसूस करवा देते थे कि हमसे ग़लती हुई और भविष्य में हमें अधिक सतर्क रहना होगा। परीक्षा के प्रति इतनी कड़ाई का यह परिणाम हुआ कि एम.ए. तक की पढ़ाई में मैं सदा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ और स्थान भी कक्षा, विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय में प्रायः प्रथम ही आया।

बाबा का नियमित आचार-व्यवहार देखते-देखते हम उसके अभ्यस्त हो गये थे। बिस्तर पर सफ़ेद चादर और दो नरम तकिये, जिनके ऊपर एक सूती कपड़ा, शौच और स्नान के लिए हर मौसम में ठण्डे पानी में लबालब भरी बाल्टियाँ, खाने में गिनी हुई बारी-बारी करके परोसी गयी गरम-फूली हुई पतली तीन रोटियाँ, समय पर पूजा के सामान तैयार करके आसनी, चन्दन, जल आदि के साथ सन्ध्यावन्दन के लिए नियमित व्यवस्था उनकी जीवन-शैली के अभिन्न अंग थे। जीवन के अन्तिम वर्षो में उन्होंने सन्ध्यापाठ अपने बिस्तर पर ही करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके नाश्ते में दूध, कॉर्नफ्लेक्स, हॉर्लिक्स और रात में दूध और ईसबगोल की भूसी का क्रम बरसों तक चलता रहा। सुबह समाचार-पत्र लेकर बाबा देर तक पढ़ते थे। दोपहर में खाने के बाद आराम करते और लगभग अपराह्न चार बजे से पुनः अपने स्वाध्याय में लग जाते थे। इस बीच सुँघनी के कई दौर चलते थे। बार्ली की डिबिया में पीसी गयी सुँघनी भरी रहती थी, जिसमें से निकाल कर उपयोग में लाने के लिए प्लास्टिक की एक नीली डिबिया में सुँघनी भर ली जाती, जो बाबा साथ रखते थे एक सूती रूमाल के साथ। बाबा को बिस्तर पर सिलवट पड़ना बहुत बुरा लगता था। परिचर अथवा घर के लोग ही प्रायः उसे लगाते थे। यदि बिस्तर लगाने में किसी से चूक हो जाये, तो बाबा उसे स्वयं लगाते थे। घर में नहा कर पहनने वाली धोती भी धुलने के बाद प्रतिदिन खींच-खींच कर चुन्नट डालकर रखी जाती थी, जिसे आधा पहने, आधा ऊपर डाले हुए स्नानागार से बाबा—*हरे मुरारे, मधुकैटभारे, गोपाल-गोविन्द-मुकुन्द शौरे* अथवा—*श्रीरामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भवभयदारुणं* जैसे भजन गाते हुए निकलते थे और अपनी सन्ध्या प्रारम्भ करते ही उनके स्वर में गम्भीरता बढ़ जाती थी और गायत्री मंत्र—*यं ब्रह्मावरुणेन्द्र रुद्रमरुतः*……, *ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते* तथा *ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु* आदि और महामृत्युंजय मंत्र एवं वेद और उपनिषद् के अनेक उपयुक्त मंत्रों के माध्यम से सन्ध्यावन्दन पूरा करते थे। घर से बाहर निकलते समय उनकी धोती, कुर्ता, बन्द गले का कोट, दुशाला आदि स्वच्छ एवं ढंग से प्रेस किया हुआ रहता था। रूमाल भी ढंग से तह लगाया हुआ रहता था।

जैसे-जैसे समय बीतता गया बाबा को निकट से देखने का अधिक-से-अधिक सौभाग्य मिला—कुछ अपनी समझ भी बढ़ने लगी और ऐसे विलक्षण पुरुष को समझने की जिज्ञासा बढ़ती गयी। पारिवारिक चर्चाओं में गाँधी-नेहरू-मालवीय-विनोबा आदि के बस्ती-प्रवास एवं सभाओं के आयोजन-संचालन आदि के सिलसिले में स्वतंत्रता—प्राप्ति से पूर्व के संस्मरण सुनने में आते थे। सामाजिक क्षेत्र के बाबा-अम्माँ द्वारा ली गयी रुचि और कार्यों के उल्लेख यदा-कदा बाहर के लोगों से भी सुनने में मिलते थे। कभी उस बीते युग की बात यदि मैं बाबा से करता अथवा स्वतंत्रता संग्राम में अपने परिवार द्वारा दिये गये योगदान आदि के विषय में उन्हें छेड़ता, तो वे बड़ी जोरों से खुलकर हँसते और कहते कि "इन पुरानी बातों को जानने की तुम्हें बहुत इच्छा है।" ऐसी चर्चाओं के बीच ही उनसे कुछ ऐसी बातें सुनीं, जिन्हें उन्होंने अपने समकालिक अथवा अन्य लोगों से भी पूछकर सम्पुष्ट किया और मुझे बतलाया। मुझे उनसे ही पहली बार पता चला कि हमारे गाँव का नाम कोटिया इसलिए पड़ा; क्योंकि वहाँ एक कोट (छोटा किला) था, जो सेंगर राजपूतों का था और जिन्हें दूसरे राजपूतों ने हरा कर भगा दिया था, जिनसे उत्तर-मध्यकाल में कभी हमारे पूर्वजों ने लड़कर छीन लिया था। यह कोट सम्भवतः धूलिकोट था, जो धीरे-धीरे ध्वस्त हो गया और अब उसके चिह्न पूरी तरह से समाप्त हो चुके हैं। बाबा ने बतलाया था कि हमारे पूर्वज कोटिया आने से पूर्व बेलहर में थे, जहाँ ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहार हाल तक ज़मींदारी करते

आये हैं। बाबा से मुझे 1857 के आसपास का लिखा कचहरी का भूमि सम्बन्धी एक प्रलेख प्राप्त हुआ, जिस पर बाबा के पितामह पण्डित प्रभु तिवारी और उनके पितृव्य पण्डित गोकुला तिवारी के हस्ताक्षर हैं और जिसके अनुसार धन की आवश्यकता पड़ने पर कोटिया ग्राम की ज़मींदारी का रुपए के सोलह आने में से नौ आना भाग उन्होंने रेहन पर रख दिया था और सम्भवतः उसे बाद में धनपूर्ति करके छुड़ाया होगा।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य बनने के बाद बाबा ने अपने गाँव तथा क्षेत्र के सुधार के लिए भरपूर योगदान किया। उन्होंने मुख्य मार्ग से बेलहर और कोटिया को मिलाने वाली कच्ची और पक्की सड़कें निकलवायी, कोटिया में अपने परिवार के बड़े भाग (बड़की बारी) में प्राइमरी पाठशाला खुलवायी, जो आज भी चल रही है; छोटे बाग (छोटकी बारी) में संस्कृत पाठशाला और आयुर्वेदिक औषधालय खुलवाये, जिनमें औषधालय का खर्चा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड वहन करता रहा और पण्डित शिवराज वैद्य-जैसे कुशल चिकित्सक की सेवा ग्रामवासियों को प्राप्त हुई। संस्कृत पाठशाला में नरखोरिया के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य पण्डित मंगल उपाध्याय के सुपुत्र पण्डित सरस्वती उपाध्याय ने वर्षों तक संस्कृत का अध्यापन किया। आज ये दोनों भवन ध्वस्त होकर समाप्त हो गये हैं। बाबा ने हमारे दो पूर्वजों के स्मारकों के विषय में मुझे विशेष रूप से बतलाया था, जिन्हें कोटिया और आस-पास के क्षेत्र में लोग जानते हैं, किन्तु अपने परिवार के ही लोग जिन्हें भूले हुए हैं। इनमें से पहला सती का स्थान है, जो छोटे बाग में एक मन्दिर के रूप में हैं और जिस स्थान पर हमारे परिवार की किसी विवाहित पुत्री की पति की मृत्यु का समाचार सुनकर आत्मशक्ति से प्रज्ज्वलित अग्नि से सती की घटना घटी थी। इस स्थान को माता कोटही का स्थान भी कहते हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है 'बघवा बाबा का थान'। बाबा के प्रपितामह पं. शिवप्रसन्न मणि त्रिपाठी 19वीं शती के प्रारम्भ में क्षेत्र के आदरणीय एवं बहुत बलशाली व्यक्ति थे। उस युग में आस-पास अधिक जंगल थे और एक बार गाँव के सीमान्त पर अचानक एक बाघ ने उन पर आक्रमण कर दिया और बाघ से उनका देर तक मल्लयुद्ध चलता रहा, जिसके अन्त में उन्होंने बाघ को मार डाला। किन्तु कुछ दिनों के बाद सम्भवतः विष फैल जाने के कारण उनका भी देहान्त हो गया। जिस स्थान पर उन्होंने बाघ मारा था, वह बड़े बाग के पास ही था और वहाँ मिट्ठी का एक 'थान' बना हुआ है। बाबा की इच्छा थी कि इस स्थान पर एक उपयुक्त स्मारक बनना चाहिए।

1967 में बाबा की पुस्तक ***भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास*** प्रकाशित हुई और इस पुस्तक की विद्वानों ने समुचित सराहना की। इसके बाद वह समय आया, जब अम्माँ का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा और 20 अप्रैल, 1970 को लखनऊ में उनका देहान्त हुआ। उसी समय में मैंने हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की थी। गोरखपुर से लखनऊ जाते समय बाबा और अम्माँ ने इस बात का पूरा ध्यान रखा था कि अम्माँ को लखनऊ मेडिकल कॉलेज में कैंसर के इलाज के लिए भर्ती करवाये जाने के सूचना मुझे उस समय मिले, जब मेरा अन्तिम प्रश्न-पत्र सम्पन्न हो जाये, जिससे मेरी परीक्षा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। हम 10 अप्रैल को लखनऊ भागे-भागे गये और 17 अप्रैल को मेरा जन्मदिन वहीं पड़ा। बाबा भी प्रतिदिन अस्पताल जाते थे। अन्ततः 20 अप्रैल की रात अम्माँ नहीं रहीं और हम उनका पार्थिव शरीर वाराणसी लाये, जहाँ 21 अप्रैल को दाह संस्कार हुआ। मुझे मणिकर्णिका घाट पर धूप में बैठे बाबा का गम्भीर चेहरा अभी तक भूला नहीं है, जिस पर जीवन

के लम्बे साथ और सुख-दुःख में बिताये गये क्षणों की परछाइयाँ बारी-बारी से पड़ती हुई चिता की अग्नि में एक-एक करके लुप्त होती जा रही थी और ऐसा बाद मे समझ में आया कि जीवन की तृष्णा एवं माया-बन्धनो को भी वे उसी दिन वहाँ छोड आये। आगे बाबा अकेले रह गये और अन्तिम पन्द्रह वर्षो में हमने देखा मात्र उनका आर्यमौन।

पुरातत्व में मेरी प्रगति, मेरे विवाह के बाद पौत्रवधू का आगमन और अपने प्रपौत्र एवं प्रपौत्री को देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई। हम भी भाग्यशाली थे कि अपने बच्चे का विद्यारम्भ संस्कार उनके देहान्त के कुछ पूर्व उनके हाथों से करवाया।

जीवन-मृत्यु से परे, आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप के चिन्तन ने वर्षो पुरानी उनकी उपनिषदों के रहस्य को पुनः चिन्तन करके सुधीजनों को समझाने के लिए पुस्तक रूप में लिपिबद्ध करने की इच्छा प्रबल कर दी। उन्होंने ***उपनिषद् रहस्य*** की रचना आरम्भ की, जिसके प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि अपने अग्रज पण्डित राजमणि त्रिपाठी द्वारा ***कठोपनिषद्*** की एक प्रति उन्हें पन्द्रह-सोलह वर्ष की वयस् में मगहर में उनके द्वारा स्थापित सनातन धर्म सभा के समक्ष सुनाने के लिए प्राप्त हुई और इस आयु में ***कठोपनिषद्*** के साथ उनका सम्पर्क, उनके "उपनिषद् अनुराग का मूलारम्भ था, जो उत्तरोत्तर बढ़ा तथा उसकी परिणति ***उपनिषद् रहस्य*** ग्रन्थ में अब हुई"। मुझे अच्छी तरह से स्मरण है कि सन् 1972 में इण्टरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मैंने बी.ए. में संस्कृत भाषा और साहित्य के साथ पढ़ना प्रारम्भ किया और ***कठोपनिषद्*** भी भाषा-साहित्य-टीका-दर्शन के अनुरूप पढ़ना पड़ा। ***कठोपनिषद्*** मुझे बाबा ने पढ़ाया और उसके एक-एक श्लोक और यहाँ तक कि कभी-कभी किन्हीं शब्दों को कई-कई दिन लगाकर बाबा ने मुझे समझाया। पढ़ाई ***कठोपनिषद्*** के एक श्लोक की व्याख्या से प्रारम्भ होती और उसका समापन वेदान्त से सम्बद्ध एवं वेद-ब्राह्मण-आरण्यक एवं अन्य उपनिषद् ग्रन्थों से सम्बन्धित श्लोकों की व्याख्या एवं उदाहरणों से होता था। मेरा यज्ञोपवीत इसके पूर्व ही हो चुका था और जब बाबा मुझे कठोपनिषद् पढ़ाते थे, तो मुझे प्राचीन ऋषियों की गुरुकुल परम्परा का ध्यान आ जाता था। मुझे गुरुमंत्र देने वाले भी बाबा ही थे और एक बार फिर ऋषिपत्तन मृगदाय सारनाथ में प्राचीन वैदिक आचार्यकुल के प्रतिनिधि मेरे बाबा ने मुझे शिष्यत्व प्रदान करके शिक्षा की प्राचीन परम्परा का अनुसरण किया और हम दोनों गुरु-शिष्य ने उपवीत के तीनों धागों से संकेतित अपने त्रिऋण से उऋण होने का प्रयास किया।

जिन्होंने मुझे उपनिषद् का पहला पाठ पढ़ाया

वैद्यनाथ सरस्वती

इस युग की महान् विभूति पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठीजी का प्रथम दर्शन मुझे 1950 में सारनाथ में हुआ था। उनके सान्निध्य का दूसरा अवसर मुझे 1957-59 में मिला, जब वे अपने पुत्र चन्द्रभालजी के पास राँची और दिल्ली पधारे थे। उन दिनों मैं चन्द्रभालजी का अनुसन्धान सहायक था। मेरी जीवन-यात्रा में इन पिता-पुत्र का कितना योगदान है, यह मेरी आत्मा ही जानती है।

सारनाथ में, जब पहली बार पं. चन्द्रबली त्रिपाठीजी से मिला था, उस समय मेरी आयु 18 वर्ष की थी और उनकी 58 वर्ष की। वे मेरे पितृतुल्य थे। उनका व्यक्तित्व इतना भव्य और आकर्षक था कि सहज रूप से मैं उन्हें 'पिता' शब्द से सम्बोधित करने लगा। माता दुर्गावतीजी के लिए 'माता' के अतिरिक्त कोई और सम्बोधन हो ही नहीं सकता। पिताजी का स्मरण करते हुए मुझे उनकी चमकती आँखें, मीठी मुस्कान और कोमल वाणी आज भी दिखायी और सुनायी पड़ने लगती हैं। सारनाथ में वे मुझसे यदा-कदा कहा करते थे, "तुम कैसे मैथिल हो, जो मछली नहीं खाते? मेरे गुरु डॉ. अमरनाथ झा मछली छोड़कर और कुछ खाते ही नहीं थे।" एक और सन्दर्भ था, जिसके लिए वे मुझसे बार-बार पूछते थे, "बताओ, तुम किस प्रकार घर से भाग कर यहाँ बौद्ध बन गये।" ऐसा प्रायः वे माताजी के समक्ष ही पूछते थे और यह माताजी को पता था कि वे ऐसा क्यों करते हैं। उनके-जैसा विनोदी स्वभाव और गम्भीर चिन्तन का ऐसा अद्भुत सामंजस्य बिरले ही मिलता है। माताजी मुझे बुद्ध की कथा और बौद्ध धर्म की शिक्षा देती रहती थीं और पिताजी ब्राह्मण संस्कृति एवं औपनिषदिक ज्ञान की परम्परा का बोध कराते रहते थे। बस्ती का मणि परिवार ब्राह्मणों के बीच श्रेष्ठ माना जाता था, परन्तु पिताजी के व्यवहार में ब्राह्मण-अहंकार और छुआ-छूत की बात मैंने कभी नहीं देखी।

राँची और दिल्ली में, जब दूसरी बार उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य हुआ, तो उस समय मैं मानव-विज्ञान के मोह में डूबा था। उनका उपनिषद् मुझे समझ नहीं आया। किन्तु आज तीन दशकों के पश्चात् यह अनुभव होने लगा है कि उन्होंने मुझमें उसी समय औपनिषदिक जिज्ञासा का बीज बो दिया था। पं. चन्द्रबली त्रिपाठीजी ने अपने जीवन-व्यवहार से, साधारण सरल शब्दों से तथा व्यावहारिक सन्दर्भों से मुझे उपनिषद् के गूढ़ रहस्यों को बोधगम्य कराने का प्रयास किया था। आज उसी आधार पर मैं अपने कुछ विचार समर्पित कर रहा हूँ।

मेरी दृष्टि में यह सूर्य की तरह स्पष्ट है कि पाश्चात्य मानव-विज्ञान (Anthropology) की सामन्ती अवधारणाएँ संसार के सभी तथाकथित अविकसित देशों को भ्रमित और त्रसित कर रही हैं। इस आधुनिक

विज्ञान के बहुत सारे शब्द ऐसे हैं, जिनके पीछे अज्ञान नहीं, कुत्सित भावनाएँ छिपी हुई हैं। जैसे ethnicity, trible, indigenous, evolution, communalism, superstition इत्यादि, इत्यादि। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम इन्हीं शब्दजाल में बँध कर उसी प्रकार का व्यवहार भी करने लगे हैं। इसका उपाय और विकल्प ढूँढ़ना हमारा कर्तव्य है।

संस्कृति पूरब की और उसकी व्याख्या के लिए अवधारणा पश्चिम की—यह कैसी विडम्बना है? आधुनिक विद्वान Universals की बात करते हैं। पश्चिम में Universal की जो व्याख्या की गयी है, वह विश्वबोध के औपनिषदिक धरातल से सर्वथा भिन्न और विपरीत है। पश्चिम के विद्वानों की दृष्टि में Universal का निहित तात्पर्य एकरूपता है और उनकी दृष्टि से भिन्न यदि कोई विचार हो तो वह Universal नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष ज्ञान से भी विदित् है कि विश्व में प्राणी और पदार्थों के संदर्भ में एकरूपता हो ही नहीं सकती। एकता और विविधता की जो व्याख्या आज भारतीय विद्वान् कर रहे हैं, उसमें पश्चिम का रंग भरा है। कुछ दिन पूर्व एक अमरीकी विद्वान ने मुझसे कहा कि आजकल हम लोग Universe नहीं Pluriverse की बात करते हैं। मैंने उनसे कहा, "भाई, आप लोगों को pluriverse की बात अब समझ में आ रही है? मेरे गाँव के लोग; और आप जिन्हें primitive tribal कहते हैं, वे तो अनादि काल से इस बात को कहते आ रहे हैं और उपनिषदों ने जो इसकी व्याख्या की है, उसका तो कहना क्या?"

एक बार Artificial Intelligence के प्रश्न को लेकर मुझे एक फ्रांसीसी विद्वान से शास्त्रार्थ करना पड़ा। मैंने उनसे पूछा कि क्या सभी मनुष्यों में मौलिक रूप से एक ही प्रकार का ज्ञान है। आपका शास्त्र तो ऐसा नहीं कहता। आदिम जातियों को तो आप prelogical, precultural मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक विशेष प्रकार के ज्ञान की परम्परागत दृष्टि से जो व्याख्या की गयी है, क्या वह उन सभी लोगों पर घटित हो सकती है, जिनकी संस्कृति अन्य ज्ञान की परम्परा से बनी है? यदि हाँ, तो सभी का ज्ञान एक प्रकार का होना चाहिए। यदि नहीं, तो फिर आपकी कृत्रिम बुद्धि (A.I.) हमारी संस्कृति की व्याख्या कैसे कर सकती है? आप तो अपनी अवधारणा को अपने ही तर्क से काट रहे हैं। हमारे यहाँ तो ज्ञान मूलतः कृत्रिम हो ही नहीं सकता। मनुष्य ही नहीं, सभी प्राणियों में ज्ञान का बीज एक है, क्योंकि सृष्टि का प्रारम्भ ही हिरण्यगर्भ (Cosmic Intelligence) से हुआ है। आपके Artificial Intelligence का कोई तात्त्विक आधार नहीं बनता। वे बहुत क्रुद्ध हो उठे।

भारत में आधुनिक विद्या के विशेषज्ञों से मेरा अनुरोध है कि पश्चिम की अवधारणा की, सांस्कृतिक ज्ञान की अपनी परम्परा से परीक्षा करें। यदि पश्चिम के मानव विज्ञान को हमें स्वीकारना है, तो यह आवश्यक है कि उसमें मानव की हमारी अवधारणा का यथोचित समावेश हो। विकासवादी सिद्धान्त में मनुष्य को एक-दूसरे से जोड़ने का कोई तत्त्व नहीं है। 'पुरुष सूक्त' में वर्णित सृष्टि की अवधारणा के अनुसार सभी प्राणियों और वस्तुओं का उद्भव, एकांगिक रूप से, एक ही सूत्र में बँधा है। पंचमहाभूत और पंचकोश की अवधारणाओं से मनुष्य और अन्य प्राणियों की श्रेष्ठता, जिस प्रकार सिद्ध होती है, उसकी तुलना में पश्चिमी संस्कृति की पतित मानव की कल्पना तुच्छ और निन्दनीय है। यह भी भ्रम है कि मानव-विज्ञान का चिन्तन सर्वप्रथम पश्चिम में हुआ। ऋषि प्रणीत हमारा मानव-धर्म-शास्त्र (जिसका शब्दिक अर्थ है The Sacred Science of Man) उस समय बना था, जब हेरोडोवस और अरस्तू के पूर्वज पत्थर के औजार बना रहे थे।

मानव-विज्ञान ने संस्कृति की जो व्याख्या की है, उससे हमारी जितनी हानि हुई है, उतनी अधिक हानि शायद ही किसी अन्य संस्कृति की हुई हो। मुझे इसमें कतई संदेह नहीं कि हमारे देश और समाज की सारी समस्याओं की जड़ में सामन्तवादी मानव-विज्ञान है। धर्म और संस्कृति, जाति और वर्ण, भाषा और क्षेत्र की व्याख्या में पश्चिम और मानव वैज्ञानिकों का उद्देश्य शासन को सुदृढ़ करना था। उसी से हमारा विनाश हुआ है, और आज भी हो रहा है। यदि धर्म और संस्कृति, जाति और वर्ण, भाषा और क्षेत्र की व्याख्या औपनिषदिक अवधारणाओं से की गयी होती, तो हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का विभाजन नहीं होता, जाति के आधार पर वोट नहीं बँटता, भाषा और क्षेत्र को लेकर कावेरी विवाद नहीं बढ़ता, बोरोलैण्ड और झारखण्ड का टंटा नहीं खड़ा नहीं होता, आदि आदि।

कुछ महीने पूर्व यूनेस्को ने बार्सिलोना में Religion and Culture of Peace पर एक गोष्ठी का आयोजन किया था। उसमें पश्चिम के सभी विद्वान कई देशों में शान्ति क्षेत्र घोषित करने और धर्म को संस्कृति से अलग करने पर जोर दे रहे थे। उन लोगों से मेरा प्रश्न यह था कि शान्ति क्षेत्र घोषित करने का आधार क्या होना चाहिए? जहाँ अशान्ति व्याप्त है, वहाँ, अथवा जहाँ अशान्ति का सूत्रधार बैठा है वहाँ, इसमें से किसको अशान्ति क्षेत्र घोषित करना है? पश्चिम के विकसित देशों में धर्म और संस्कृति अलग रह नहीं सकते, क्योंकि उनका धर्म पृथ्वी पर है—विज्ञान, टेक्नोलॉजी और भौतिक जगत की उपभोक्तावादी चमक-दमक का धर्म। हम लोगों का धर्म तो ऊर्ध्वमूलक है, हम तो धर्म को पृथ्वी की संस्कृति से भिन्न मानते ही हैं। अतः धर्म और संस्कृति को अलग करने का प्रश्न निरर्थक है। किन्तु यह भी सत्य है कि पश्चिम की धर्म और संस्कृति की व्याख्या हमारी दृष्टि के प्रतिकूल है।

मेरे अनेक हितैषी मित्र कहने रहते हैं—विज्ञान को छेड़िये नहीं, टेक्नोलॉजी को छेड़िये नहीं, पश्चिम को छेड़िये नहीं, पूरब-पश्चिम का झगड़ा उठाइये नहीं, उदारवादी बनिये। उत्तर यह है कि उपनिषद् से बढ़ कर और ज्ञान क्या हो सकता है? भारतीय परम्परागत संस्कृति से बढ़कर उदारवादी और कौन हो सकता है? न कोई ऐसा उदाहरण है, न था और न हो सकता है।

मनीषी की महक

रामफेर त्रिपाठी

प्राच्य विद्या-व्यासंगी मनीषी पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठीजी की सुधि आते ही मानस में जो बिम्ब तरंगित होता है, उसका कुछ अंदाज़ यों लगता है—क्षीण, जर्जर और झुर्रीदार मझोली काया; शान्त, गम्भीर और निस्तरंग मुख-मुद्रा; तृप्तिबोधक, किन्तु ज्योतित अचंचल नेत्रों पर पुरानी चाल का चश्मा, भावों-विचारों के साथ बल खानेवाला समतल तेजस्वी ललाट और उसमें दमकता बडा-सा टीका, जो प्रातः सन्ध्या-वन्दनादि पर सिर चढ़ता; शुभ्र, समरूप पूरी मूँछें, गाल पिचके, औसत लम्बी नासिका और वर्ण गेहुऑ श्यामल। नीचे सफ़ेद धोती खद्दर की, ऊपर बन्द गले का कोट तथा गाँधी टोपी से आवृत सिर। इन सब के ऊपर दोनों कन्धों से परम पावन गंग-तरंगों की भाँति अधोमुख प्रवाहित अंगवस्त्रम् के दोनों समतल छोर। किन्तु यह तो उनके बाहर आने-जाते या आयोजनों में भाग लेने की 'बनक' रही। घर में होते तो बराबर खादी का कुर्ता, धोती ही धारण करते और ऊपर सिर खुला रहता। श्रद्धेय त्रिपाठीजी ने क्योंकि स्वाधीनता संग्राम और असहयोग आन्दोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था, इसलिए वे एवं उनकी सहधर्मिणी श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी, दोनों ने आजीवन खादी धारण का व्रत लिया था। आरम्भ में तो खादी स्वदेश और स्वराष्ट्र के लिए अपेक्षित तप, त्याग, सत्य-निष्ठा, संकल्प, साहस, आत्म-त्याग आदि सत्त्वगुणों की प्रतीक रही, किन्तु बाद में वह काल-प्रवाह के कलुष-कर्दम से बहुत मैली-कुचैली होती गयी।

साधुचरित त्रिपाठीजी के जनपद का आवासी होने के नाते नाम तो उनका छात्र-जीवन से ही सुनता आ रहा था, किन्तु उनके दर्शनों का सौभाग्य तब मिला, जब मैं विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गया था। वे उस समय अपने द्वितीयात्मज चन्द्रमौलि मणि के साथ लखनऊ की गुलिस्ताँ कालोनी के एक भव्य भवन में रहते थे। पुण्यश्लोक त्रिपाठीजी के स्वाध्यायनिरत और सर्जनशील व्यक्तित्व के विषय में बहुत दिनों से उनके अनेक कुलभूषण और मेधा के अनन्य धनी पुत्ररत्नों से काफ़ी कुछ सुनता आ रहा था। एक ही विश्वविद्यालय का अध्ययनार्थी होने के कारण उनके कनिष्ठ यशस्वी आत्मज श्री चंद्रधरजी से उनके व्यक्तित्व-कृतित्व की अच्छी झलक बहुत पहले मिल गयी थी। तब तक मैंने ***धर्मराज युधिष्ठिर*** और ***भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास***-जैसी उनकी प्रख्यात कृतियों का पारायण कर यह जान लिया था कि वे किस विचार-सरणि की विभूति हैं। उनके तत्त्वविमर्श ने बेहद प्रभावित किया। मिलनोत्कण्ठा बहुत तीव्र हो गयी। वे भी मेरे मिलने से पूर्व मेरे नाम-काम से काफ़ी कुछ परिचित थे।

सन् 1976-77 का काल था, जब मैं पहली बार उनसे मिला था। तब वे 83 या 84 वर्ष के रहे होंगे। जैसे ही मणिजी ने मेरे नामोच्चार के साथ मेरा परिचय दिया, वैसे ही अत्यन्त वत्सल उत्फुल्लभाव से भरकर कहा, "अरे त्रिपाठीजी, अब मिले आप, इतने दिनों बाद। नाम सुनते-सुनते ऊब गया, रूप आज दिखायी पड़ा। मनुष्य नाम-रूप को साथ-साथ देखना चाहता है।" बड़ी देर तक अत्यन्त पुलकित एवं आह्लादित चित्त से मेरे घर-परिवार तथा शिक्षा-दीक्षा आदि से लेकर, मैं उन दिनों विश्वविद्यालय में छात्रों को क्या पढ़ा रहा हूँ, एक घण्टे की चर्चा में उन्होंने मेरी पूरी पड़ताल कर डाली। जलपान के बाद चर्चा का दूसरा दौर शुरू हुआ। मेरे जिज्ञासु मन ने उनसे पूछा, "बाबूजी, आजकल आपके स्वाध्याय और लेखन का विषय क्या है?" बोले, "यों तो मैंने छोटी-बड़ी अनेक कृतियों का प्रणयन किया है, किन्तु सबमें मेरा प्रधान विषय भारतीय दर्शन और उसमें भी उपनिषद् दर्शन सर्वोपरि है। गत अनेक दशकों से मैं उनके अनुशीलन-आलोड़न के प्रति समर्पित हूँ। उसी को लेकर सोता-जागता हूँ। प्रातः उठकर समाचार पत्रादि के अवलोकन के पश्चात् उसी में लग जाता हूँ। पुनः अपराह्न एक बजे थोड़ा टहलता हूँ। यही क्रम है मेरे दैनन्दिन जीवन का।" मुझे लगा कि समाचार पत्रादि को पढ़कर वे अपने समय से जुड़े रहते हैं। शेष सारा समय अपने दर्शन अध्ययन या लेखन को देते हैं।

फिर तो मैं उनके पास बराबर ही आने-जाने लगा। दूसरी या तीसरी बार उनसे मिलने पर मैंने देखा कि उनके पास देशी-विदेशी दार्शनिकों के प्रथम कोटि के ग्रन्थों का अपार भण्डार है। यह प्रभूत सामग्री अब तक उनके सुधी आत्मजों के पास सुरक्षित है। मैंने निवेदन किया, "बाबू जी इतनी विपुल सामग्री का अनुशीलन कैसे किया?" कहा, "त्रिपाठीजी, मैं जीवन के आदि काल से भारतीय दर्शन का समर्पित अध्येता हूँ। आपने सामग्री की बात की तो एक ऐसी पुस्तक की याद हो आयी, जिसकी खोज मैं छह महीने से कर रहा हूँ, किन्तु कहीं मिली नहीं। आपको शायद मिल जाये। मेरी इतनी मदद में आपको एतराज न होगा शायद।" मैं बोला, "बाबूजी, आप ज्ञान के जिस महायज्ञ को सम्पन्न करने में संलग्न हैं, उस में किंचित् मात्र भी मेरा योग हो जाये, यह सोचकर मैं अपने को सराहूँगा।" वह ग्रन्थ था ***फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्स,*** जिसके प्रणेता थे—डायसन। यह ग्रन्थ मुझे लखनऊ विश्वविद्यालय के टैगोर पुस्तकालय से दूसरे दिन मिल गया। प्रसन्न और उत्साहित चित्त से मैं उसे लेकर उसी दिन उनसे मिला। श्रद्धेय त्रिपाठीजी इसे पाकर कितने खुश होंगे, इसकी थोड़ी-बहुत कल्पना मैंने मिलने से पूर्व ही कर ली थी।

जाते ही भेंट हो गयी। प्रणति के तुरन्त बाद मैंने ग्रन्थ उन्हें समर्पित किया। "पुस्तक मिल गयी"—मेरे ऐसा कहते ही वे इतने उत्फुल्ल चित्त हुए कि उन्होंने उक्त वाक्य को दुहराते हुए कहा, "त्रिपाठीजी आप विद्वान् ही नहीं, बल्कि कर्मवीर भी हैं। मेरा मन इस पुस्तक में बहुत दिनों से अटका था। आपको जितना भी धन्यवाद दूँ, कम है। आपने मेरी एक बड़ी चिन्ता दूर की है।" उस समय तक उन्होंने ***उपनिषद् रहस्य*** के दो सहस्र पृष्ठ स्वाक्षरों में लिख लिये थे। उस पाण्डुलिपि का प्रारम्भिक अंश टंकण की प्रक्रिया में था। बाबूजी ने संकोचभाव का अनुभव करते हुए यह भी कहा कि "मेरी एक कठिनाई और है—***उपनिषद् रहस्य*** का जो टंकण हो रहा है, वह इतना भ्रष्ट और अशुद्ध है कि टाइप होना, न होना बराबर है।" मैंने कहा, "वेद-वेदान्त में प्रयुक्त वैदिक और लौकिक संस्कृत की दार्शनिक शब्दावली की जानकारी न होने से कोई सामान्य टंकक शुद्धरूप में उनका

टंकण भला कैसे कर सकता है?" मैंने कहा, "अब आप टंकण की चिन्ता से भी सर्वथा मुक्त हो जायें, क्योंकि मेरे पास एक ऐसा परमाभ्यासी टंकक है, जो विश्वविद्यालय के संस्कृत और हिन्दी के शोध-प्रबन्धों का काम विशुद्ध रीति से करता है।" मेरे उत्तर से उन्हें जो तृप्ति मिली, वह शब्दातीत है। पहले के दो सौ टाइप-पृष्ठों को निरस्त कर उन्होंने उसके आरम्भांश से टाइप कराने की आज्ञा दी। मेरा मन महाभाग त्रिपाठीजी को ऋषिकल्प मानता, इसलिए उनकी सामीप्य-प्राप्ति के लिए बराबर ललकता रहता। उनके टंकण-कार्य को पाकर हृदय को एक ख़ास तरह का संतोष हुआ।

संस्कृत और हिन्दी के शताधिक प्रबन्धों की परीक्षा-वैतरणी को पार लगाने वाले टंकक श्री रामूर्ति द्विवेदी को मैंने उक्त पाण्डुलिपि इस चेतावनी के साथ दी कि उसके द्वारा आपकी टंकण-योग्यता की परीक्षा ली जायेगी। श्री द्विवेदी ने उक्त ग्रन्थ के चौदह सौ पृष्ठों को निर्दिष्ट रूप में टंकित किया, जिसे देख पुण्यशील त्रिपाठीजी ने जो कहा, वह भूलता नहीं, "सब पढ़ने-लिखने वाले अच्छे लोग आप ही की तरफ़ रहते हैं क्या?"

फिर तो दो-चार दिनों के अन्तर से मैं बराबर उनसे मिलने लगा। मेरा उनसे एक परिवार-जैसा सम्बन्ध हो गया। जाते ही प्रणति-स्वस्ति के बाद कुशल-क्षेम पूछते और किसी-न-किसी सन्दर्भ की चर्चा होने लगती। एक बार शाम आठ बजे उनसे मिला। उनका उपनिषदों का अवगाहन-अनुलेखन उन दिनों भी ज़ोरों से चल रहा था। वे उक्त अनुशीलन में ऐसे आचूड़ निमग्न होते कि सामने बात करते हुए भी मुझे यह लगता कि उनका चेतन तो मुझसे बातें ज़रूर कर रहा है, किन्तु उनके शेष दो—अर्द्धचेतन और अचेतन मनः स्तरों पर वही चिन्तन छाया है। क्योंकि मैं यह जानता था कि आजकल वे क्या कर रहे हैं, इसलिए इसका परिज्ञान मुझे अपेक्षतः सरलता से हो जाता। लेकिन दूसरों को उनकी इस गम्भीर चिन्तन-मुद्रा का एहसास भले हो जाये, किन्तु वे उसके विषय तक नहीं पहुँच सकते थे। अब तक मैं बखूबी यह भी जान गया था कि भारतीय दर्शन उनकी आत्मवृत्ति का मूल विषय हो चला है। अध्येय के प्रति अध्येता का जैसा समर्पण ऋषियों-मुनियों को पढ़ता आया हूँ, उनसे कुछ कम न थी उनकी विषयलीनता। लगता, जैसे दर्शन उनके जीवन का सर्वस्व हो। विषय और विषयी की यह युति कीटभृंग-दशा का स्मरण करा देती। इसी निर्विकल्प चेतना का अवदान है, उनका ***उपनिषद् रहस्य***। उनके साहचर्य से पहली बार यह जान सका कि जो भी लिखा-पढा जाय, उसे प्रामाणिक और सत्यशील अवश्य होना चाहिए। कभी-कभी वे प्रसगवशात् स्वयं कहते, "अनुशीलन की सत्यशीलता के निर्वाह के लिये मैंने, इसीलिए, उपनिषदों के मूल-पाठ को ही अपना मुख्याधार बनाया है।"

उन्हें देखकर सहज ही यह महसूस होता कि संसार को जो जान जाता है, वह कितना शान्त, सरल, ऋजु और निस्तरंग जीवन जीता है। वे मन, वाणी और कर्म के पथिकृत महात्मा थे। भारत और भारतीय संस्कृति में उनकी अटूट आस्था थी और दृष्टिकोण उसी के अनुसार आशावादी। सबके प्रति समभाव, कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान, अहंकार, आडम्बर और आत्मश्लाघा से कोसों दूर, कर्मठता के अनुरागी, किन्तु फलाग्रही होकर नहीं, प्रकृति-सहिष्णु, कृतज्ञ, कृपालु, परदुःखकातर ऐसे कि उनसे हर समझदार मिलनेवाला उनको असाधारण समझने के लिए विवश हो जाता। वे जब तक रहे, तब तक मलिन मानवीय वृत्तियों से दूर रहकर स्थितप्रज्ञता से जीवन-यापन करते रहे। लगता कि वे विनय और शील की प्रतिकृति हैं। प्राणिमात्र के प्रति परम प्रियता से पेश आनेवाले

सहृदयता के प्रतीक, भारत-भारती के गुणानुवादक और महाजनों के मार्गानुयायी तथा अपनी सभ्यता और संस्कृति के महान् उद्गाता थे। उनका हृदय भक्ति की गंगा, कर्म की यमुना और ज्ञान की सरस्वती का ऐसा अपूर्व संगम था कि उनसे प्रत्येक मिलनेवाला कुछ-न-कुछ हासिल ज़रूर करता। शान्ति और निर्मलता उनसे मिलने पर अवश्य मिलती। यद्यपि भारतीय चिन्तनधारा के नदीष्ण पण्डित त्रिपाठी ने मिलने पर कभी उपदेश की मुद्रा में कुछ नहीं कहा, किन्तु जब वे प्रसंगप्राप्त अपने ज्ञानानुभव की बातें करते तो इसकी स्पष्ट प्रतीति होती कि वे जो भी कह रहे हैं, वह उनके शास्त्र-निपुण व्यवहारज्ञान का समवेत सार है और वही आचरणीय भी है। ऐसे ही लोगों को परिलक्षित कर शायद कहा गया है–

उपचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नैकमुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि।।

मिलने पर वे बहुत प्रांजल शैली में अपने विचारानुभव सामने रखते। उनका विमर्श बड़ा सारगर्भ होने के साथ विचारगर्भ भी कम न होता। वे शुष्क ज्ञानाराधक मात्र न होकर सहृदय साहित्यकार भी थे। उन्होंने संस्कृत और हिन्दी साहित्य के आधारभूत ग्रन्थों का पर्याप्त अनुशीलन किया था। बातचीत के दौरान वे इसके प्रमाण भी पेश करते और उनके बारे में अपने निजी विचार भी रखते। दर्शन के साथ-साथ कला, संस्कृति से सम्बद्ध उनके विचार उनके ऐसे लेखों में देखे जा सकते हैं, जो समय-समय पर तत्कालीन ***माधुरी, मर्यादा*** आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। एकबार जब ***माधुरी*** में प्रकाशित उनके कलाविषयक एक लेख की चर्चा की तो बोले, "त्रिपाठीजी, इतनी पुरानी पत्रिकाएँ भी पढ़ते हैं, यह मैं नहीं जानता था।" फिर मैंने प्रस्ताव की मुद्रा में कहा, "आपके साहित्यविषयक लेखों को अलग से संकलित कर प्रकाशित कर दिया जाये, तो कितना अच्छा हो।" इसे सुनकर पुलकित तो हुए, किन्तु जो कहा वह ऐसा था, "मेरे सारे जीवन की कमाई, उपनिषदों का काम ही प्रकाशित हो जाये, तो यही बहुत है मेरे लिए।"

मेरे बार-बार मिलने और वार्तालाप करने से वे मेरे प्रति अतिरिक्त वत्सल लगने लगे। जब भी मिलकर चलने लगता, तो तुरन्त पूछते, "अब कब आयेंगे?" जब भी उनके पास जाता, तो ज़्यादातर दर्शन की ही बात चलती, किन्तु बीच-बीच में संकीर्ण अन्तराल के बाद साहित्य भी सामने आ जाता। याद है कि एक बार की भेंट में उन्होंने कहा था, "वैसे तो मैं आजीवन ज्ञान का मधुव्रती रहा हूँ, लेकिन साहित्य से नाता तोड़कर नहीं। मैं साहित्य उसी को मानता हूँ, जो जीवन को स्पन्दन देता है, आगे बढ़ाता है और मानव-मानव के बीच अभेद-दर्शन करता है। बैसे तो जगन्मंगल साहित्य का सर्वोपरि उद्देश्य है। मैंने उपनिषदों से लेकर ***महाभारत, गीता*** आदि तक में साहित्यिक सरसता खोजी है, देखी है और पायी भी है। कालिदास, भवभूति आदि उत्कृष्ट कवियों के उत्कृष्ट काव्यांशों का आगार था जैसे उनका हृदय। ***गीता*** तो उन्हें समूची मुखस्थ थी। वेदान्त के अविस्मरणीय सन्दर्भ से उनकी पहचान बहुत पुरानी जान पड़ती थी। सन्दर्भित होने पर वे उनमें निष्प्रयास प्रकट होने लगते।

मेरा जिज्ञासु मन उनसे मिलकर बराबर कुछ-न-कुछ समझने, जानने और समाधान पाने का आकांक्षी रहता। उनके साथ की हर बैठक में कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य मिलता, जिससे मैं एक अपूर्व तृप्ति का अनुभव करता। उन्हें देखकर कभी-कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता कि भारतीय दर्शन में तल्लीन और तन्मय उनका मन मानों अहर्निश

प्रज्ज्वलित एक दीपशिखा हो। तात्पर्य यह कि वे एक सच्चे ध्येयनिष्ठ महात्मा की भाँति हमेशा चिन्तन की ऊष्मा से आपूर्ण रहते। वे बात-बात में ***कठोपनिषद्*** लाते और ***गीता*** तो जैसे उनके होठों की देन हो। पूज्य त्रिपाठीजी ऐसे दार्शनिक लेखक हैं, जिन्होंने वेदान्त जीवन में उतार कर जिया है। प्रियजनों को पाकर जैसे लोग प्रफुल्लित हो उठते हैं, वैसे वे मिलते ही कह उठते, "ओह! त्रिपाठीजी आये हैं, प्रोफ़ेसर साहब।" उनके ऐसे सम्बोधन को सुनकर पहले तो मैं थोड़ी देर के लिए संकुचित हो जाता, किन्तु बाद में दबकर विनीत शब्दों में यह कहने का दुस्साहस भी कर बैठता, "प्रोफ़ेसर नहीं, रीडर ही हूँ।" प्रत्युत्तर में वे कहते, "अरे भाई, मंगलकामनाएँ भी अब प्रतिबन्ध की शिकार होंगी?" उनके उत्तर से मैं हतच्छाय और संकुचित दोनों हुआ। विश्लेषण से लगा कि 'प्रोफ़ेसर' पद का प्रयोग अन्यों की भाँति किसी व्यंग्यार्थ, छींटाकशी या परिहास के लिए नहीं, वरन् मेरे प्रति हार्द मंगलाशा, प्रियता और सद्भाव के लिए किया गया है। व्यंग्योक्ति प्रायः कुटिल, गूढ़ार्थमूलक, चिढ़ाने या नीचा दिखाने वाली होती है, जो शान्ति में अशान्ति पैदा करती है और आहत भी कम नहीं करती। उस नाते उसका व्यवहार प्रायशः अब तक दुरात्माओं एवम् प्रज्ञाहीनों की खिल्ली उड़ाने में ही अधिक किया गया है। किन्तु 'सादा जीवन उच्च विचार' साधुचरित ऐसे प्रयोगों से बराबर परहेज करते आये हैं। निर्मल दृष्टि दुष्ट, दुर्बल और दुर्वृत्त पक्ष की ओर झाँकती तक नहीं। निर्विकारचित्तता उनकी बड़ी पहचान होती है। पुण्यकर्मा त्रिपाठीजी ऐसे सद्विवेक की कसौटी थे, इसलिये उनके पास पहुँचने की ललक बराबर बनी रहती है। यह सही है कि त्रिपाठीजी के अभ्यन्तर से मेरा परिचय उनके साथ की कई बैठकों के बाद हुआ। उनका हृदय, जैसा मुझे जान पड़ता है, तुलसी द्वारा कथित उस मद-मोह गत संत-हृदय की भाँति था, जिसे तुलसी ने शरद-सरिता की निर्मलता का उपमान माना है—

सरिता सर निरमल जल सोहा।
संतहृदय जस गत मद मोहा।।

अकारण प्रेम के वे मूर्तिमान प्रतीक थे। आत्म और अनात्म जैसे अन्तर उनके लिये बहुत दूर हो चुके थे। इतना ही नहीं, सबसे निरभिप्राय प्रेम कैसे रखा जाये, इसकी भी महाप्राण त्रिपाठीजी के प्रेम-व्यवहार से सीख मिलती। उनसे मिलने पर बात होती और वह बारीकी तक पहुँच जाती, तो वे बीच में कभी-कभी कोई न कोई ऐसा सूत्रवाक्य कह देते, जो मेरे लिए कई दिनों तक के लिए अनुस्मरण का विषय होता। एक बार प्रेम की चर्चा चलने पर यह कहा था, "साभिप्राय प्रेम में तो दुनिया न जाने कब से उलझी पड़ी है। प्रेम तो हमेशा से अकाम ही होता आया है।" वे जो ठीक समझते हैं, उसका उपयोग तुरन्त से शुरू करने में देर नहीं करते। तत्त्वज्ञानी ही निष्कलुष की मिठास जानता है, इसीलिये वह निर्मल राह का राही हमेशा से होता आया है। पण्डित त्रिपाठी उन्हीं विचारों को आगे रखते हैं, जिनका व्यवहार वे कर चुके होते हैं। स्वानुभूति की कसौटी पर वे पहले उसकी स्वस्तिमयता और मंगलमयता की परीक्षा करते हैं और उनके खरे उतरने पर ही हमें देने लायक समझते हैं। ऐसी जीवन-पद्धति के व्यक्ति अपने आचारों-विचारों में समरस होते हैं। पण्डितजी खूब ही समरस थे। विचार-व्यवहार में ऐसी एकता थी कि फ़र्क़ ढूँढ़े नहीं मिलता था। उनके विचार उनके व्यावहारिक जीवन के विधायक आधार होते। [illegible]

उदाराशयनी भारतीय भावधारा अपने-पराये के अभेद-दर्शन ही नहीं करती आयी है, वरन् घट-घट में उसकी व्याप्ति को भी जानती-मानती आयी है। पुण्यचरित्र त्रिपाठीजी को देखकर मुझे तो यह साफ़ जान पड़ता है कि निरपेक्ष सत्य को जाने और अपनाये बिना कोई 'सादा जीवन उच्च विचार' का जीवन जी ही नहीं सकता। सादे जीवन का मूलाधार है उच्च विचार। इसलिये विचारोच्चता की परिणति सादगी में ही होती है। पण्डित त्रिपाठी के सन्निकट जितनी देर रहता, मन में अनेक लोकसंग्रही विचार उठते और तब लगता कि खालिश मनुष्य बनने के लिए सुसंग कितना ज़रूरी है। कथनी, करनी और रहनी का समरूप व्यक्ति एक ऐसा आलोक बिखेरता है, जिससे अँधेरा छँट जाता है। महानुभाव त्रिपाठीजी के विचाराकाश में नाना लोकमंगलकारी विचारों के नक्षत्र बराबर उदित होते रहते।

महाप्राज्ञ त्रिपाठीजी से मिलना जब-तब बराबर ही होता रहता। एक बार मिलने पर उनके साथ दो घण्टे तक रहने का मौका मिला। उनसे मिलने पर हर बार सोच की कुछ ऐसी मिठास मिलती कि घर में रहकर भी मन से उनके पास होता। तब तक मेरे मन ने यह मान लिया था कि अब वे ज्ञानपुंज मात्र रह गये हैं। कुछ समझाने लगते, तो मेरी तन्मयता मुझे आत्मविस्मृत कर देती। ऋषियों-महर्षियों के समान ही त्याग को वे आत्मकल्याण और लोक-कल्याण का मूल मानते। एक और ग़ौरतलब बात यह है कि वेदान्त की चर्चा कर उनका मन आत्मतोष का अनुभव करता। वेदान्त और वे दोनों अद्वय हो गये थे, मेरी दृष्टि में उसकी चर्चा उन्हें प्रसन्नमना बना देती थी।

धी, मति, प्रज्ञा आदि बुद्धि के किसी एक पड़ाव के नाम नहीं हैं। पर्यायवाची होकर भी ये अपने सूक्ष्मार्थ में भिन्न पड़ते हैं। ध्यान-धारणा पर बल देनेवाली धी, अभिप्राय जाननेवाली मति और विवेक से पेश आनेवाली प्रज्ञा कहलाती है। उनकी बुद्धि के इन अलग-अलग संकायों में बड़ी निपुणता दिखायी देती है। उन्होंने तमामोतमाम उपनिषदों के मूल पाठों का शब्दशः इतने अध्यवसाय और श्रम से अवगाहन किया था कि उसका हिसाव लगाना हमारे लिए ही नहीं, सबके लिए मुश्किल है। एकाधिक बार मैंने उनके जराजर्जर पिण्ड और उसके अत्यन्तिक परिश्रम को देखकर विनीतभाव से निवेदन किया था, "इतना घोर परिश्रम तो हम लोगों के लिये भी अकल्पनीय है।" बड़ी कसक और पीड़ा से उन्होंने इसके प्रत्युत्तर में कहा था, 'उपनिषदों के मूल का शब्दशः पारायण किये बिना जिन स्वदेशी-विदेशी तत्त्वज्ञों ने उस पर कलम चलायी है, वे कहीं-न-कहीं च्युति-गर्त में गिरे अवश्य हैं, एक नहीं, अनेकानेक बार। प्रबल चिन्तनानुचिन्तन उनकी सर्वोपरि आसक्ति लगती है। उनके सभी विचार उनकी विवेक-कसौटी की देन होते हैं। बड़े-से-बड़े विचारक से उन्हें अभिभूत होते कभी नहीं देखा। किसी के भी मत को वे तभी मान्य करार देते, जब वह उनके तटस्थभावी आत्मज्ञान के निष्कर्ष पर खरा उतरता। ऐसे परीक्षण के उपरान्त उनके हाथ जो लगता, वही हमें देते। उनकी अमर रचना—***उपनिषद् रहस्य*** उनके ऐसे सुचिन्तित विचारों को आगार जान पड़ती है।

अपनी इस स्वच्छन्द और मौलिक विचारसरणि के नाते वे अन्यों से अनेक आधारभूत बातों में बहुत गम्भीर मतान्तर रखते हैं। पण्डित त्रिपाठी स्मरणशक्ति के विलक्षण धनी थे। उनके समान किसी दूसरे स्मृतिमान् से मेरी भेंट आज तक नहीं हुई। सम्पूर्ण गीता तो उन्हें मुखस्थ थी ही; वेद, वेदान्त और महाभारत के अधिकांश

प्रमुखांश भी कम मुखाग्र नहीं थे। समय-संयम के वे बड़े पोषक थे। उनके चित्त पर महामना मदनमोहन मालवीय का सर्वाधिक प्रभाव पडा था। यद्यपि इससे पूर्व वे अपने ज्येष्ठ बन्धु श्री राजनारायण त्रिपाठी और प्राध्यापक गुरुओं में महामहोपाध्याय डॉ. गंगानाथ झा से प्रभावित थे, तथापि समर्पण और सेवा का पाठ उन्होंने महामनीषी मालवीयजी से ही पढ़ा था। मनीषी त्रिपाठीजी उनका जहाँ कही भी नामोल्लेख करते हैं 'पूज्य' या 'पूज्यपाद' के बिना नहीं। मालवीयजी एक तरह से उनके जीवन के अनुकरणीय मानदण्ड थे। मेरी दृष्टि में आचार्य त्रिपाठीजी ने दर्शन और हिन्दी में कार्य करने का प्रथम पाठ अपने अग्रज बन्धु श्री राजनारायण त्रिपाठीजी से ही पढ़ा था।

श्रद्धेय त्रिपाठीजी के गोलोकवास से कुछ महीने पूर्व, जब वे अपने कनिष्ठतम पुत्र श्री चन्द्रधर जी के साथ रह रहे थे, मिला, तो भी वे पहले की तरह ही उपनिषदों के अध्ययन में आचूड निमग्न थे। उनसे जो बातें हुईं, उनका सारांश यह है कि इस संसार में मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। इसलिये मनुष्य और उसके हित-चिन्तन करने का प्रयत्न हमेशा किया जाना चाहिये। अध्ययन अध्ययन के लिये नहीं, मनुष्य के उद्धार और उन्नयन के लिये होना चाहिए। सारा शास्त्रज्ञान इसी महान् उद्देश्य की सिद्धि का साधक होता है। कहना न होगा कि पण्डित त्रिपाठी ने अपने जीवन के अन्तिम पचीस-तीस वर्ष अनुशीलन, परिशीलन और लेखन में लगाये। युधिष्ठिर महाभारत का ऐसा चरित्र है, जिसके गुणानुवाद से धर्म विवर्धित होता है–

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिर कीर्तनेन

इसलिये, उन्हें यह चरित्र ऐसा भाया कि सबके लिये उसे परोस दिया। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि उनके सम्पूर्ण कृतित्व में कुछ भी ऐसा नहीं, जो मानव मात्र को अनन्य सत्यशीलता, विशुद्ध धर्माचरण और शीलवान् होने का पाठ न पढ़ाता हो। दूसरे शब्दों में इसे यो भी कह सकते है कि वे भारतीय परम्परा के सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के महान् साधक सन्त थे। अपनी दार्शनिक वृत्ति को वे अपनी अन्तःप्रेरणा का प्रतिफल मानते थे।

महामनीषी त्रिपाठीजी वेद और वेदान्त की वैदुष्यधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले अक्षयवट है। निश्चय ही वे प्राच्य विद्याव्यासंग की समाप्तप्राय पीढ़ी के स्तम्भ हैं। उन्होंने अपने मौलिक चिन्तन से भारतीय दर्शन को समृद्ध बनाया, जिसे कभी नकारा नहीं जा सकता। अपने ***उपनिषद् रहस्य*** में उन्होंने ऐसे विचारसूत्र दिये हैं, जिनको लेकर उस क्षेत्र में काम करने वाले आगे बढ सकते हैं। भारतीय ज्ञान-गंगा की यह एक मौलिक पहचान रही है कि हमेशा उसमें आगत के विचारमंजन (स्नान) के लिये बराबर गुंजाइश रहती है। विचार विचार से फूटते हैं। वे भारतीय ऋषियों महर्षियों की धारा के एक बड़ी पहचान थे। उन्हीं की तरह उन्होने लोकाभिमुखी जीवन-यापन किया और अन्त मे वे उस दिव्य प्रकाश लोक को चले गये, जहाँ अज्ञान-रात्रि के अस्तित्व की गुंजाइश नहीं होती–"चल चकई वहि देश में जहँ रैन ना होय।" उनके निधन का समाचार पाकर मैने उनके कुलदीपक आत्मज श्री चन्द्रधरजी को कबीर की यह उक्ति उद्धृत करते हुये पत्र लिखा था–

सन्त मरे क्या रोइये, वे अपने घर जाहिं।

नकली को छोड़ असली घर गये। कौन नहीं जाता अपने घर। रोने की इसमें कोई खास बात नहीं। त्रिपाठीजी जैसे निदाग जीवन के साधु ही वहाँ तक पहुँच सकते हैं, सब नहीं। अन्त में, मैं ***महाभारत*** के एक उस श्लोक को उद्धृत कर यह प्रसंग समाप्त करता हूँ, जिसका वे प्रायः उल्लेख किया करते थे—

द्व्यक्षरस्तु, भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्नममेति च शाश्वतम्।।

अपने इस संस्मरण के माध्यम से मैं उस पुण्यपुरुष और महामनीषी की उद्भव शतवार्षिकी पर अपनी यादों के श्रद्धा-सुमनों से उनकी अर्चना करता हूँ, जिसके माहात्म्य की महक ही अब शेष रह गयी है।

नमः ऋषिभ्यः ज्ञानयोगिभ्यः

भवानीशंकर शुक्ल

पूज्य पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी का नाम मैंने वर्ष 1950 के पहले कभी अपने चाचा स्व. पं. चन्द्रमौलि सुकुल से सुन अवश्य रखा था, जो पं. मदनमोहन मालवीय के कृपापात्र और विश्वासपात्र थे और जो बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के संस्थापक अध्यापकों में से एक थे, परन्तु त्रिपाठीजी को विशेष तौर पर वर्ष 1950 तथा उसके बाद ही जान सका, जब उनके तृतीय सुपुत्र श्री चन्द्रभाल त्रिपाठी लखनऊ विश्वविद्यालय में बी.ए. मे मेरे सहपाठी हुए और हम दोनों की घनिष्ठ मैत्री हुई, जो अन्ततः हमारे पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तित हो गयी। फलतः मैं सहज ही पूज्य त्रिपाठीजी तथा उनकी यशस्विनी धर्मपत्नी श्रीमती दुर्गावती त्रिपाठी का स्नेह भाजन बन गया। बाद में मुझे त्रिपाठीजी से अनेक बार मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। जब उनके द्वितीय सुपुत्र श्री चन्द्रमौलि मणि लखनऊ में पूर्वोत्तर रेलवे के मण्डल प्रबन्धक नियुक्त हुए और मेरे सरकारी आवास के पड़ोस में ही रहने लगे, तब जब कभी त्रिपाठीजी लखनऊ आते और मणि जी के पास रुकते, तो उनके साथ बैठने का अधिक अवसर मिलता।

मेरी शिक्षा और स्वाभाविक रुचि प्राचीन भारतीय इतिहास, धर्म और दर्शन में थी। राजकीय सेवा की व्यस्तता के बावजूद मैंने इन विषयों के अध्ययन और लेखन में रुचि बनाये रखी थी। पूज्य त्रिपाठीजी भारतीय धर्म, दर्शन और इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान थे। उनमें किसी प्रकार का बौद्धिक दम्भ न था। वह सरलता, साधुता और ऋजुता की मूर्ति थे। विद्या के फलस्वरूप उनमें विनय और पात्रता थी। अतः साधारण बातचीत के बीच भी मुझे उनके धर्म, समाज और संस्कृति सम्बन्धी विचार आसानी से जानने को मिल जाते थे। मैंने बराबर अनुभव किया कि उन्हें सदैव राष्ट्रीय अस्मिता तथा सांस्कृतिक मूल्यों को, विशेषतया शिक्षित लोगों में बनाये रखने की निरन्तर चिन्ता थी। मैं समझता हूँ कि त्रिपाठीजी के सम्पर्क से भारतीय संस्कृति के प्रति मेरी निष्ठा दृढ़ हुई और उसे समग्रता से समझने में मुझे सहायता मिली है।

त्रिपाठीजी की दो पुस्तकें—*मैत्रेयी* तथा *बुद्ध और बौद्ध धर्म* मुझे पचास के दशक में ही देखने को मिल गयी थीं। यद्यपि इनके वर्ण्य विषयों में धार्मिक परम्परा की दृष्टि से अन्तर है—एक पुस्तक ब्राह्मण से सम्बन्धित है और दूसरी बौद्ध परम्परा से, तथापि त्रिपाठीजी इन दोनों परम्पराओं में भेद न मानते थे। वस्तुतः उनकी आस्था उस सामान्य संस्कृति में थी, जिसमें अनेक परम्पराएँ पुनीत गंगाधारा की भाँति प्रवाहित होती रहती हैं। त्रिपाठीजी बौद्ध धर्म को भारतीय संस्कृति का अविभाज्य अंग मानते थे, जिसके बिना संस्कृति अपंग है। वह भगवान

बुद्ध को राम और कृष्ण के समान ही भारतीय धर्म और संस्कृति के उन्नायक मानते हैं। उनके ही शब्दों में, "सनातन-धर्मी होते हुए भी भगवान बुद्ध के प्रति श्रद्धावान होना अशोभनीय नहीं है। उदार तथा व्यापक सनातन धर्म की इस प्रकार की शिक्षा ही है। महात्मा बुद्ध इसी पुण्यभूमि भारत में उत्पन्न हुए। आर्य-ऋषियों मुनियों के उपदेशों एवं मंत्रों से उन्होंने प्रेरणा पायी और स्वानुभव से सत्य का साक्षात्कार किया। दया, अहिंसा और शान्ति के पाठ संसार को देकर उन्होंने अगणित प्राणियों का उद्धार किया।" वह पुनः कहते हैं, "बुद्ध से बहुत पहले भगवान श्रीकृष्ण गीता का संदेश संसार को दे चुके थे····· *श्रीमद्भागवत्गीता* में, जो ब्रह्म, आत्मा, जीव, प्रकृति इत्यादि का विवेचन है, वह भले ही बुद्ध को मान्य न हो, परन्तु दुःख-सागर को पार करने के लिए दूसरों को भी दुःखहीन करने के लिए उत्तम पुरुष को किस प्रकार का जीवन निर्वाह करना चाहिए····· इत्यादि बातें जिस प्रकार गीता में बतलायी गयी हैं, प्रायः वह सब बिना मौलिक भेद के पायी जाती हैं। वास्तव में बौद्ध धर्म मूलतः उपनिषदों के समान शुद्ध संन्यास प्रधान था।"

त्रिपाठीजी पर उपनिषदों का व्यापक प्रभाव था। दर्शनशास्त्र के गम्भीर अध्येता होने के कारण वह उपनिषदों का सम्यक् अवगाहन करने में पूर्णतः समर्थ थे। अपवाद स्वरूप कुछ ग्रन्थों को छोड़कर उनके सभी ग्रन्थों पर औपनिषदिक प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है—चाहे वह *मैत्रेयी* हो अथवा *गायत्री उद्बोधिका*। गायत्री उद्बोधिका वास्तव में मैत्रायणी और बृहदारण्यक उपनिषदों का ही सार है, तथापि इस ग्रन्थ में इतस्ततः कठ, श्वेताश्वेतर, मुंडक, प्रश्न, ईश आदि उपनिषदों तथा कतिपय शांकर भाष्यों के उद्धरण हैं। उदार और आस्थावान त्रिपाठीजी को इस बात का खेद था कि "कितने ही उच्च शिक्षा प्राप्त हिन्दू हैं, जो कहने को गायत्री मंत्र को जानते हैं और यदा-कदा उसका जप भी करते हैं, परन्तु इसका अर्थ उनके लिए इतना ही है कि उन्होंने सुना है कि गायत्री की महिमा महान् है।" त्रिपाठीजी का निश्चित मत है कि न केवल अर्ध-शिक्षित, अपितु विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षा प्राप्त एवं संस्कृत के अच्छे माने जाने वाले बहुत से पण्डित भी गायत्री और सूर्योपस्थान मंत्रों के शब्दार्थ तक नहीं जानते और शब्दार्थ जानते भी हों, तो उनके रहस्य को तो कदाचित ही जानते हैं और हाथी की तरह शब्दराशि को ढोते से हैं। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि कई सूर्योपस्थान मंत्रों का पाठ मैं स्वयं भी ढोता रहा हूँ, परन्तु *गायत्री उद्बोधिका* के अध्ययन के बाद अब उन मंत्रों को नये प्रकाश में देखता हूँ।

पं. चन्द्रबली त्रिपाठी को महामहोपाध्याय पण्डित गंगानाथ झा और महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज-जैसे गुरु तथा महामना पं. मदनमोहन मालवीय-जैसा संरक्षक मिला था। पितृ-गृह से सदाचार, सादगी, धर्म के प्रति आस्था और चारित्र्य बल के संस्कार मिले थे। धर्मपत्नी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विदुषी पुत्री श्रीमती दुर्गावती मिली थीं। राजनीति, अध्यापन, पत्रकारिता, वकालत (जिन सभी के लिए वह अधिकारी थे) के क्षेत्रों में जाकर वह प्रभूत अर्थार्जन कर सकते थे, परन्तु उन्होंने स्वाध्याय और लेखन में ही अपना अधिकांश जीवन बिताया। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें कुछ ग्रन्थों का मैंने पूर्व पंक्तियों में उल्लेख किया है। मृत्यु के लगभग चार-पाँच वर्ष पूर्व स्वास्थ्य के शिथिल रहते हुए भी उन्होंने *उपनिषद् रहस्य* नामक वृहद् ग्रन्थ तीन खण्डों में लिखकर भारतीय वाङ्मय को समृद्ध किया। यह ग्रन्थ उनकी लगभग 18-20 वर्षों की कठोर अध्ययन-साधना का परिणाम है। यद्यपि मैंने इस ग्रन्थ को नहीं देखा है, परन्तु उसके प्रथम खण्ड (जो

प्रकाशित हो चुका है) की जो समीक्षाएँ समाचार पत्रों में छपी हैं, उनके अनुसार यह ग्रन्थ उनके दार्शनिक ज्ञान, चिन्तन, वेद और उपनिषदों के उनके प्रामाणिक अध्ययन तथा भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अटूट प्रतिबद्धता का अनुपम प्रतिफलन है।

जीवन के अन्तिम क्षणों तक त्रिपाठीजी अध्ययन और लेखन के कार्य से विमुख नहीं हुए। अपने सुदीर्घ जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में वह प्रायः अस्वस्थ रहे, तथापि शरीर से शिथिल होते हुए भी उनकी मेधा की प्रखरता बनी रही। मुझे खेद है कि महाप्राण और पितृतुल्य पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी के जीवन के अन्तिम दिनो में मैं उनके दर्शन न कर सका। जनवरी, 1985 के पूर्वार्द्ध में मैं दिल्ली गया था। जब मैं त्रिपाठीजी के कनिष्ठ पुत्र श्री चन्द्रधर के आवास पर पहुँचा, तब तक वह दिवंगत हो चुके थे। ऐसे पुण्यस्मरण स्व. पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी को कोटिशः प्रणाम।

उपनिषद् रहस्य : एक सुकृती की सुकृति

शिवाशंकर पाण्डेय

उपनिषद् रहस्य के स्वनामधन्य लेखक पं. चन्द्रबली त्रिपाठी अपने जीवन के 92वें वर्ष के प्रवेश कर चुके थे, जब वे सन् 1984 में अपने कनिष्ठ पुत्र चन्द्रधर त्रिपाठी के साथ नयी दिल्ली में रह रहे थे। महीना नवम्बर का था, शाम को हल्की-सी ठण्डक पड़ने लगी थी। मैं सप्ताह में प्रायः एक-दो बार उनके दर्शन करने जाया करता था। दफ़्तर के काम से छुट्टी पाकर एक दिन जब मैं उनसे मिलने शाम को गया, तो वे गर्म हल्की शाल ओढ़े ध्यान कर रहे थे। शैया के निकट उनकी कुछ प्रिय पुस्तकें, एक छोटी-सी मेज पर सजी होतीं, टार्च, मैग्नी-फाइंग ग्लास, चश्मा सब करीने से यथास्थान होता, ताकि लेटे हुए भी वे अपेक्षित वस्तु को उठा सकें। पास में 2-3 कुर्सियाँ अभ्यागतों के लिए होतीं। मेरे पहुँचने की आहट ने शायद उनका ध्यान भंग किया था, मैंने चरणस्पर्श किये और वहीं एक कुर्सी पर बैठ गया। पंडितजी के मुख से चिरपरिचित वाक्य, "आ गये पाण्डेय जी" सुन कर मैं अभिभूत हो जाता। अक्सर शाम को, जब मैं जाता तो देखता था—या तो वे ध्यान-सन्ध्या कर रहे होते थे अथवा कुछ पढ़ रहे होते थे।

निरोग पूर्णायु का भोग कर रही उनकी काया क्षीण अवश्य थी, किन्तु मुखमण्डल पर तप-कान्ति और दीर्घायत नेत्रों में तेजस्विता विद्यमान थी। लगता था कि जीवन की सन्ध्या उन पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रही। बातों की शुरूआत पहले कौन करे, इसका कोई नियम न था। उनमें अपनत्व का भाव था, मुझे परिवारीय समझने लगे थे अतः बात कुशल-क्षेम से शुरू होती और फिर वर्तमान स्वाध्याय, स्वास्थ्य, संस्मरण, देश-काल आदि न जाने किन-किन विषयों को छूती हुई समाप्त हो जाती। परिवार के अन्य सदस्य भी उसमें भागीदार बनते। पिछली 2-3 मुलाकातों के दौरान मैंने उन्हें ***विवेक चूड़ामणि*** पढ़ते देखा था, अतः मैंने उसी के बारे में पूछा क्या ***विवेक चूड़ामणि*** समाप्त हो गयी? किंचित मुस्कुराते हुए कहा, "मैं उसका पारायण कहाँ कर रहा था—अब ***वाल्मीकीय रामायण*** में मन रमने लगा है। उसे पढ़ते-पढ़ते आँख लग गयी, कैसे अदभुत कवि थे वाल्मीकि! सब कुछ जानते हुए भी अपनी महाकाव्य के नायक 'राम' के महनीय गुणों की पुष्टि देवर्षि नारद से करवाना चाहते थे—

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्चवीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च, कृतज्ञश्च सत्त्यवाक्यो दृढ व्रतः।।

'साम्प्रतं' शब्द से साफ़ पता चलता है कि राम और वाल्मीकि समकालीन थे। देवर्षि ने भी मुनिवर की अपेक्षानुसार उनसे कहा था—

इक्ष्वाकुवंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीरो द्युतिमान श्रुतिमान वशी।।

आदरणीय पण्डितजी को इस प्रकार के अनेक प्रसंग कंठस्थ थे। कभी ***उत्तर रामचरित,*** कभी ***प्रतिमानाटक,*** कभी ***प्रसन्न राघव,*** कभी ***रामचरित मानस*** अथवा ***हनुमन्नाटक*** का कोई प्रसंग लेकर वे प्रायः अपनी बात मुझे समझाते और कभी मुझसे कहते, बताओ पाण्डेयजी, इसे किस प्रसंग में कहा गया है? हृदय से वे भक्त थे, उनके पास बैठने में आनन्द आता था; ज्ञान के विश्वकोश थे, वे।

विद्यार्थी जीवन से ही वे लेखन-कार्य की ओर प्रवृत्त हुए थे। उपनिषदों का अध्ययन करने से उन्होंने यह तय कर लिया था कि इस ज्ञान-राशि को सर्वसुलभ बनाने के लिए हिन्दी में एक ऐसे ग्रन्थ की जरूरत है, जो पूर्वी और पश्चिमी मान्यताओं को समेट कर लिखा गया हो। इस गुरुतर दायित्व को उन्होंने सम्भाला, जो अर्द्धशती के अथक परिश्रम के बाद पूरा हुआ।

श्री चन्द्रबली त्रिपाठी का मन इस बात से खिन्न था कि स्वतन्त्रता के पश्चात् जिन जीवन मूल्यों को प्रचारित करने की आवश्यकता थी, उनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। स्वतंत्र भारत में हिन्दी और संस्कृत को गौरवमय स्थान देना चाहिए था, उसकी उपेक्षा की गयी। अब अधिसंख्य जनता अपने इतिहास, साहित्य एवं कला को भूल रही है। शायद ऐसा भी दिन आयेगा, जब लोग इनका अध्ययन करने की ज़रूरत ही नहीं समझेंगे। ऐसी अनेक बातें थीं, जो वे कहते और अन्त में कहते, क्या किया जाये—अब मालवीयजी और गाँधी जी न जाने कब पैदा होंगे। उन्हें स्वदायित्व-बोध था, समग्र उपनिषदों और उससे सम्बन्धित विचारों को लोकभाषा में उतारने के लिए लिया गया संकल्प उन्होंने पूरा किया। परिस्थितियाँ विषम होती थीं, किन्तु लक्ष्य की ओर वे निरन्तर अग्रसर होते गये। उनकी कलम थकी नहीं, रुकी नहीं। ***उपनिषद रहस्य*** पूरा हो चुका था। तभी 89 वर्ष की वय में ***गायत्री उद्बोधिका*** लिख डाली, जो गायत्री पर लिखी गयी एक श्रेष्ठ पुस्तक मानी जाती है। बुढ़ापे में यह साहस की बात थी।

वैदिक साहित्य एवं उपनिषदों के प्रति उनके मन में असीम अनुराग था। वे प्रायः उन विचारों को दोहराते थे, जो पाश्चात्य चिन्तकों द्वारा उपनिषदों के विषय में व्यक्त किये गये थे। उनकी मान्यता रही कि औपनिषदिक ज्ञान भारत का ही नहीं, अपितु विश्व का कल्याण करने में समर्थ है। वे अक्सर कहते थे कि इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी कि आज हम अपने अमूल्य ज्ञान भण्डार को सहेजने की भी चिन्ता नहीं कर रहे हैं। त्रिपाठीजी को इसकी चिन्ता थी, इसीलिए जवानी से लेकर बुढ़ापे तक वे अपने दायित्व के निर्वहन में जुटे रहे।

एक दिन वे काफ़ी अच्छे मूड में थे, मैंने निवेदन किया, "पण्डितजी, पाश्चात्य मनीषियों के कुछ ऐसे विचार बताइए, जिनसे पता चल सके कि उपनिषद् आज भी काल सापेक्ष है।" पण्डितजी कहने लगे, "उपनिषद् सदा-सर्वदा काल सापेक्ष थे, हैं और काल सापेक्ष रहेंगे। शाहजहाँ-पुत्र दाराशिकोह उपनिषदों का गम्भीर अध्येता

था, शाहजहाँ उससे बहुत खुश था। मैक्समूलर ने लिखा—"उपनिषद् सर्वोत्कृष्ट ज्ञानधारा हैं।" अन्य जर्मन स्कॉलर पाल डासन के मत से—"उपनिषदों की दार्शनिक कल्पना न केवल भारत में, वरन् विश्व में अतुलनीय है।" मैकडॉनल ने लिखा है कि—"मानवीय चिन्तन के इतिहासों में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही ब्रह्म की यथार्थ व्यंजना की गयी है।" फ्रेडरिक ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि—"उपनिषदों में निहित ज्ञान के आगे यूरोप का तत्वज्ञान सूर्य के आगे टिमटिमाते दिये के समान हैं।" और उन्नीसवीं शती के विख्यात दार्शनिक शॉपेन हॉवर ने भाव विभोर होकर यह कहा था कि—"Oh UpnishaDs$ you will be the solace of my life and the solace of my death." अर्थात्—हे उपनिषदो! तुम जीवन और मृत्यु दोनों में मेरे लिए शान्तिदायक रहोगे। वे उस समय इसी सन्दर्भ में किसी पुस्तक का अवलोकन कर रहे थे। कितनी तीक्ष्ण बुद्धि थी उनकी। इस सम्बन्ध में न जाने कितना उन्होंने पढ़ा और अपनी नीर-विवेकिनी प्रज्ञा के बल पर 2000 पृष्ठों की अतुलनीय ज्ञान-राशि संचित की, जो किसी भी देश और समाज के लिए गौरव का विषय हो सकती है।

उनके विषय में यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि भारतीय समाज को हिन्दी भाषा में उपनिषद्-ज्ञान गंगा उपलब्ध कराने में उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किये। प्रख्यात विद्वान डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने *उपनिषद रहस्य* का महत्त्व स्वीकारते हुए नितान्त समीचीन बात कही है, "यह विशद् ग्रन्थ न केवल उपनिषदों की सत्यान्वेषी परम्परा का दिग्दर्शन कराता है, अपितु भारतीय कैसे किसी तत्त्व को समझने की कोशिश करता है, उसे भी प्रकट करता है।" इस गहन ज्ञान को सामान्य जन तक ले जाने में वे अतीव सहज एवं सरल रहे हैं। सम्प्रेषणीयता उनकी शैली की विशेषता है।

अपने दायित्व के निर्वहन में अत्यधिक सजग रहने के कारण उन्हें पूर्ववर्ती चिन्तन में जहाँ कहीं विरोध या विसंगति पड़ी, उसमें साहचर्य एवं संगति बैठाने का उन्होंने प्रयास किया। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सभी मनुष्यों का अधिकार समान है, बशर्ते कि उसे प्राप्त करने के लिए इतनी उत्कट इच्छा होनी चाहिए, ताकि अन्य इच्छाएँ उसके आगे नगण्य हो जायें।

उपनिषद् रहस्य का प्रथम खण्ड उनके महाप्रयाण के बाद छप कर आया। विगत 27 नवम्बर, 1993 को उनकी जन्म शतवार्षिकी के अवसर पर श्रद्धांजलि देते हुए विश्वविख्यात चिन्तक डॉ. कर्ण सिंह ने कहा था, पण्डितजी ने उपनिषदों के रहस्य को सर्व साधारण तक पहुँचाने के लिए इस महान कृति की रचना की थी। इस सारस्वत संगोष्ठी में संस्कृत साहित्य एवं दर्शन के सुविख्यात् मनीषी डॉ. ब्रजमोहन चतुर्वेदी एवं डॉ. बैद्यनाथ सरस्वती का भी यही अभिमत था।

पण्डित जी कि लिखी सात अन्य पुस्तकें भी हैं, किन्तु धर्म एवं संस्कृति के मूलाधार औपनिषदिक तत्त्व की बहुआयामी समीक्षा कर के लिखा गया *उपनिषद रहस्य* सर्वथा अनूठा है। पूरा ग्रन्थ तीन खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। प्रथम खण्ड में उपनिषदों की पृष्ठभूमि, वेदान्त का अर्थ, त्रयी की परिभाषा आदि की विवेचना की गयी है। *कठोपनिषद* का सम्पूर्ण भाष्य भी इसी खण्ड में समाहित है। द्वितीय खण्ड में प्रमुख उपनिषदों का भाष्य करके उनकी वैचारिक समीक्षा की गयी है। इसके एक अध्याय में उपनिषदों की पारिभाषिक शब्दावली भी दी गयी है, जिससे दुरूह शब्दों को समझने में काफ़ी सुविधा होती है। *उपनिषद रहस्य* का तृतीय खण्ड

48 उपनिषदों के भाष्य के अतिरिक्त ईश्वर, माया, साधना नीति, धर्म एवं सदाचार-जैसे विषयों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

पण्डितजी ने अपने दीर्घकालीन अध्ययन के आधार पर भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों की उपनिषद् सम्बन्धी मान्यताओं की जिस ढंग से समीक्षा की है, वह अप्रतिम है। विषय प्रतिपादन में उन्होंने आदि शंकराचार्य के मत को आधार बनाया है, फिर भी उनका अपना निकष है, जिस पर सभी मान्यताओं, विचारों एवं अवधारणाओं को कसने के बाद ही वे किसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। सारांश यह कि *उपनिषद् रहस्य* इस सदी की श्रेष्ठ रचनाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। हिन्दी जगत के लिए उनका यह अवदान सदा अविस्मरणीय और उपयोगी बना रहेगा।

विलक्षण प्रतिभा के धनी : पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी

पारसनाथ मिश्र

पण्डित चन्द्रबली त्रिपाठी भारतीय संस्कृति और साहित्य के एक अनन्य उपासक थे। वे बचपन से ही सत्यवादी, धर्मनिष्ठ, उदारचेता और सौम्य के प्रकृति के थे। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे चन्द्रबली जी के साथ बहुत दिनों तक़ रहने का सौभाग्य मिला। इसका कारण एक तो यह था कि मेरा और त्रिपाठीजी का गाँव आस-पास ही था, दूसरा यह कि दोनों की स्थितियाँ लगभग समान थीं।

त्रिपाठीजी सार्वजनिक हित-साधन करने वाले संस्कृत साहित्य के परम उपासक एवं उपदेशक और संस्कृत के उद्धार के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने स्वयं अपने जन्म स्थान में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की थी, जो आज भी चल रही है। भद्रेश्वरनाथ में भी उन्हीं की प्रेरणा से पाठशाला स्थापित हुई थी, जिसमें लेखक ने 14 वर्षों तक अध्यापन कार्य किया। वह अपने ज़िले की सभी संस्कृत पाठशालाओं को सहायता दिलाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। बस्ती जिले की पाठशालाओं के अध्यापक अपनी समस्याओं को लेकर उनके पास आते रहते थे। त्रिपाठीजी पाठशाला पद्धति के परम समर्थक थे। अपनी पाठशाला में पहुँचने पर अध्यापकों से तो गूढ़ बातों का विचार करते ही थे, छात्रों को भी साहित्य पढ़ाते थे। वह केवल विद्वान ही नहीं, एक सुयोग्य अध्यापक भी थे। लेखक उस समय कोटिया संस्कृत पाठशाला में प्रथम खण्ड मध्यमा का छात्र था; प्रथम खण्ड के सभी छात्रों को एकत्र कर ***किरातार्जुनीयम्*** के प्रथम सर्ग के अन्तिम श्लोक

विधि समय नियोगाद्दीप्ति संहार जिह्मम् शिथिल वसुमगाधे मग्न मापत्पयोधौ।
रिपु तिमिर मुदस्यो दीयमानं दिनादौ, दिनमिव लक्ष्मी स्त्वांसमभ्येतु भूयः।।

की उन्होंने बहुत सुन्दर ढंग से व्याख्या की।

उनकी अध्यापन-कला बड़ी विलक्षण, मधुर और सरस थी। वह जो कुछ कहते थे, वह सनातन साहित्य का शृंगार होता था। वेद वेदांगों के सूक्ष्म विचारों में उनकी अभिरुचि जीवन के आरम्भिक काल से ही रही। लेखक उस्का किसान इन्टर कालेज में संस्कृत प्राध्यापक था और त्रिपाठीजी अपने सुपुत्र चन्द्रमौलि मणिजी के साथ रहते हुए लेखनी चला रहे थे, उन्हीं दिनों उन्होंने विभिन्न समयों में तीन पत्रों द्वारा तीन विषयों का स्पष्टीकरण माँगा—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्—इस श्लोक का उत्तरार्ध पूछा गया था। पूर्णान्वेषण के अनन्तर ***पद्म पुराण*** में शेष तीन चरण तो मिले ही, साथ ही इस विषय के अनुरूप प्रायः बारह श्लोक और भी मिले। कुल

13 श्लोक त्रिपाठी जी की सेवा में अर्पित किया गया। पूर्ण श्लोक इस पकार है–

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्,
गृहेऽपि पंचेन्द्रिय निग्रहः शमः।
अनार्ते कर्मणि चः प्रवर्तते,
निवृत्त रागस्य गृहम् तपोवनम्।।

रघुवंश के 5वें सर्ग में राजा रघु के पास गुरु दक्षिणा देने के लिये कुलपति महर्षि वरतन्तु के शिष्य ऋषि कौत्स आते हैं। राजा आप्तकाम कौत्स का स्वागत करते हैं और आश्रम सम्बन्धी कुशल प्रश्न पूछते हैं, अनेक प्रश्नों के बाद महर्षि वरतन्तु का कुशल प्रश्न पूछते हैं जिसके सम्बन्ध में निम्न श्लोक आता है–

अप्यग्रणी मंत्र कृतांमृषीणाम्,
कुशाग्र बुद्धे! कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तम्,
लोकेन चैतन्य मिवोष्ण रश्मे।।

हे कुशाग्र बुद्धे कौत्स! मंत्रकृत ऋषियों में अग्रणी तुम्हारे गुरु महर्षि वरतन्तु कुशली तो है न! जिनसे तुमने सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया, जिस तरह से संसार सूर्य से चैतन्य प्राप्त करता है। इसमें त्रिपाठीजी को ज्ञातव्य यह था कि ऋषि तो मंत्रद्रष्टा होता है, न कि मंत्रकृत; त्रिपाठीजी ने पूछा था कि यह परम्परासिद्ध मालूम होता है, मल्लिनाथ ने इस पर क्या लिखा है? त्रिपाठी जी का अभिप्राय यह था कि जब वेद मंत्र अपौरुषेय हैं, तो यह पौरुषेय कैसे हुआ। क्योंकि ऋषियो *मंत्र द्रष्टारः नतु मंत्र कर्तारः।* मल्लिनाथ टीका देखने पर इसका समाधान मिला। मल्लिनाथ ने *मंत्र कृतां* का *मंत्र दष्ट्रीणाम्* अर्थ किया है। समाधान त्रिपाठीजी को भेज दिया गया।

त्रिपाठीजी लखनऊ में ही *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य* का अध्ययन कर रहे थे। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का 19वाँ सूत्र–*अस्मिन्नस्य च धोगं शास्ति*–सूत्र पर *विकारर्थे मयट्प्रवाहे सत्यानन्द मय एवा कस्मादर्धजरतीय न्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं चा श्रीयत इति।*–इस पंक्ति में आदि शंकराचार्य अपने भाष्य में निर्णय कर रहे हैं कि मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में है या विकार में है; यदि दोनों में इसे माना जाय, तो यह अर्द्धजरतीय न्याय हो जायेगा। इसलिये इसको प्राचुर्यार्थ में ही मानना चाहिए। अर्द्धजरतीय न्याय का उद्धरण तो शांकर भाष्य में आया, किन्तु इसका स्पष्टीकरण यहाँ नहीं है, इसी का स्पष्टीकरण त्रिपाठीजी ने माँगा था। यह न्याय व्याकरण शास्त्री आचार्य के ग्रन्थों में बराबर आता रहा और हम लोगों को अच्छी तरह स्पष्ट था। न्याय का अर्थ यह है कि यदि प्रचुर और विकार दोनों अर्थों में मयट् प्रत्यय माना जाय, तो अर्द्धजरतीय न्याय की तरह से दोष होगा। अर्द्धजरतीय न्याय का अर्थ यह है कि जैसे कोई स्त्री आधी युवती हो, आधी वृद्धा हो, ऐसा लोक में कभी देखने को नहीं आता, अतः मयट् प्रत्यय केवल प्रचुर अर्थ में मानना चाहिए, विकार में नहीं। अर्द्धजरतीय का युजरतीय पाठ भी अन्य स्थलों में आता है। पूर्ण स्पष्टीकरण त्रिपाठीजी के पास भेजा गया और वे सन्तुष्ट हुए।

बस्ती और गोरखपुर निवास काल में तो लेखक का साक्षात्कार प्रायः त्रिपाठीजी से होता रहता था और

सब बातें मौखिक रूप से ही स्पष्ट होती रहती थीं। लोक में एक श्लोक चलता है—*अहिल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा पंच कन्या, स्मरेन्नित्यं, महापातक नाशनम्*—लेखक को इसका अर्थ लगाने में व्याकरणात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार का असामंजस्य उपस्थित हुआ। व्याकरणात्मक में यह असामंजस्य आया कि कन्या शब्द कर्त्ता कारक एकवचन में स्थित है, इसे कर्मकारक बहुवचन में कन्याः होना चाहिए—और भावात्मक में यह कि पाँचों पुत्रवती थीं तो उनमें कन्यात्व कहाँ? बस्ती निवास काल में त्रिपाठीजी के सामने मैंने यह श्लोक रखा, उन्होंने ***आह्निक सूत्रावली*** ग्रन्थ निकाला और देखा गया कि लोक में श्लोक अशुद्ध प्रचलित है। उस ग्रन्थ में लिखा था कि 'पंचकं ना' इसी को लोग पंच कन्या कहने लगे। 'पंचकं ना स्मरेत' का अर्थ हुआ कि इन पाँचों को 'नाः पुरुषः' स्मरण करे तो महापातक नाश हो जाय। इससे व्याकरण और भावात्मक दोनों दोष हट गये।

त्रिपाठीजी के ग्रन्थागार में अनेक ग्रन्थ रत्न रहते थे, यदा-कदा उनमें से मैं लाकर पढ़ा करता था। त्रिपाठीजी भारतीय संस्कृति की उपासना के साथ ही ब्राह्मण धर्म के अनुसार आचरण करते थे। उन्होंने आजीवन सत्य और धर्म का निर्वाह किया। एक बार उन्होंने ***श्रीमद्भागवत*** के दशम् स्कन्ध के निम्नांकित श्लोकार्ध में पूछा—*कथितो वंश विस्तारः भविता सोम सूर्ययो।* इस अनुष्टुप छंद में परीक्षितजी शुकदेवजी से पूछ रहे हैं कि आपने सोम और सूर्य के वंश विस्तार को कहा। त्रिपाठीजी को प्रष्टव्य यह था कि सोम और सूर्य में समान स्वर व्यंजन रहने पर भी सोम को पूर्व निपात् और सूर्य को पर निपात् क्यों हुआ? लेखक को इस श्लोक के श्रीधरी टीका का स्मरण था। श्रीधर ने लिखा है कि चन्द्र का प्रकाश मृदु मधुर और सूर्य का प्रकाश कटु और रुक्ष है, इसलिये सोम को पूर्व निपात् और सूर्य को पर निपात् हुआ। त्रिपाठीजी सन्तुष्ट हो गये।

त्रिपाठीजी ने ***गायत्री उद्बोधिका*** नाम से एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है। गोरखपुर निवास काल में गायत्री के छंद व अर्थ पर चर्चा चली। गायत्री शब्द की दो ***व्युत्पत्तियाँ*** हैं— *गायंतं शब्दवंतं त्रायते इति गायत्री*—इस व्युत्पत्ति में 'गय' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करने पर गायत्री शब्द बड़ी सरलता से सिद्ध हो जाता है। त्रिपाठीजी के यहाँ ***बृहदारण्यकोपनिषद्*** विद्यमान था। उन्होंने—*गयान प्रणान् त्रायते इति गायत्री*—शांकर भाष्य की पंक्ति दिखलायी, 'गय' शब्द से गायत्री शब्द का साधत्व कठिन पड़ता है और गायत्री शब्द की निस्पंदता शांकर भाष्य में नहीं थी, केवल व्युत्पत्ति मात्र थी। अन्य उपनिषदों में भी—*गयान प्राणान् त्रायते इति गायत्री,* यही व्युत्पत्ति है; 'ग' अर्थात् प्राणों की जो रक्षा करे, वही गायत्री है। इसके ॐ के बीस अर्थ हैं। ओंकार का अर्थ है—रक्षा करना 'अवनीतित्योंम्' जो रक्षा करे वह ओंम है। गीता में भी ओमित्येकाक्षर ब्रह्म शब्द आया है। *ओमतत्सतविति: ब्रह्मणत्रिधः स्मृतः ब्राह्मणस्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुराः।* वैसे ॐकार के बीस अर्थ (व्युत्पत्तियाँ) विभिन्न स्थलों में पाये जाते हैं, किन्तु अवैयाकरणों के लिये दुर्बोध होता है; इसे विस्तार भय से नहीं लिखा जा रहा है।

त्रिपाठीजी भारतीय शिक्षा-पद्धति पर विशेष बल देते थे, परन्तु उन्हें पाश्चात्य शिक्षा से किसी प्रकार का परहेज नहीं था। त्रिपाठीजी मूर्तिमान सत्य के अवतार थे। उनके चेहरे और हाव-भाव से हमेशा 'सत्यंवद्' का भाव झलकता रहता था। बातचीत के प्रसंग में यदि कोई व्यक्ति मिथ्या भाषण कर दे, अथवा किसी शब्द का अशुद्ध उच्चारण कर दे, तो त्रिपाठीजी उसे सहन नहीं कर पाते थे और उस व्यक्ति को हमेशा मिथ्या भाषण और अशुद्ध बोलने से बचने के लिए प्रेरित करते।

त्रिपाठीजी जिन दिनों *महाभारत* का अनुशीलन कर रहे थे, उस समय मैं बस्ती के निकट भद्रेश्वरनाथ संस्कृत पाठशाला में अध्यापक था और वहीं से मुझे त्रिपाठीजी के बस्ती निवास पर आने-जाने का अवसर प्रायः मिलता था। महाभारत के सबसे उदात्त पात्र धर्मराज युधिष्ठिर सत्यप्रियता के सबसे आदर्श पुरुष थे। इस सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख करना समीचीन होगा। एक दिन त्रिपाठीजी, दुर्गावतीजी और मैं उनके बस्ती आवास पर बैठे कुछ शास्त्रीय चर्चा कर रहे थे। इसी बीच युधिष्ठिर के सत्यानुशासन का प्रसंग छिड गया। हम लोग अपने-अपने पक्ष प्रस्तुत कर रहे थे कि त्रिपाठीजी ने कहा कि इतनी विषम परिस्थिति में, जबकि धर्मपत्नी द्रौपदी भरी सभा में नग्न की जा रही थीं, तब भी युधिष्ठिर सत्य से डिगे नहीं। सत्यानुशासन इतना कड़ा था कि अर्जुन-जैसा अद्वितीय धनुर्धर और भीम-जैसा अद्वितीय बली, जो कौरवों का तत्काल नाश कर सकते थे, चूँ तक नहीं कर सके। त्रिपाठीजी की बात को काटती हुई उनकी धर्मपत्नी (स्वर्गीया) श्रीमती दुर्गावती ने कहा कि बाह्यानुशासन के कारण पाण्डव ज़रा भी हिले-डुले नहीं और शरीर से कोई प्रतिक्रिया देखने को नहीं आयी, किन्तु अन्तरानुशासन की कमी के कारण भीम मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर रहे थे कि सभी सौ भाइयों को मारूँगा और दुर्योधन के इस जंघे को तोडूँगा। यह प्रतिक्रिया महाभारत युद्ध होने की एक कड़ी बनी। यदि इतना कड़ा अनुशासन न होता, तो तत्काल कुछ सामान्य शारीरिक प्रतिक्रिया होती और महाभारत-जैसा दावाग्नि नहीं फैलता और देश के चुने हुए वीरों और बुद्धिमानों का नाश नहीं होता।

त्रिपाठीजी में राष्ट्रभक्ति और सामाजिक सेवा की भावना कूट-कूट कर भरी थी। दलितों और पिछड़ों की सेवा करना वे अपना नैतिक कर्त्तव्य समझते थे। अपने जनपद में होने वाले हर एक सामाजिक कार्य में उनकी उपस्थिति होती थी और उनकी भरसक कोशिश होती थी कि समाज के हर कार्य आदर्श दर्शाने वाले हों। वे अपने निजी कार्यों को रोककर दूसरों का हितचिन्तन करते थे। कितने ही ग़रीब छात्रों को उन्होंने निःशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था करायी। व्यक्ति, समाज और देश के प्रति उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा देखते ही बनती थी।

त्रिपाठीजी में भारतीय संस्कृति की जड़ें गहरे रूप में विद्यमान थीं। उनके घर में सभी संस्कार वहुत ही श्रद्धा और उत्साह से सम्पन्न होते थे। संस्कृत के विद्वानों से उनका बहुत गम्भीर विचार-विमर्श होता था और संस्कृत के विद्वान उन्हें बहुत सम्मान और आदर देते थे। त्रिपाठीजी भी उनका वैसा ही आदर व सत्कार करते थे। विद्वानों की छोटी-मोटी आवश्यकताएँ भी वे यथाशक्ति पूरी करते थे। ऐसे महान् पुरुष विरले ही होते हैं, जो व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि जगत् की भावनाओं और हितों की समुचित चिन्ता करते हों। मेरे विचार से त्रिपाठीजी नरपति हितकर्ता और जनपद हितकर्ता दोनों ही थे। कहा भी गया है—

नरपति हितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके, जनपद हितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः।
इति महति विरोधे वर्तमाने समाने, नृपति जनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता।।

त्यागमूर्ति त्रिपाठीजी

रामदेव दुबे

स्व. पं. चन्द्रबली त्रिपाठी से हमारा सम्पर्क 1926 ई. में आरम्भ हुआ और यह उनके जीवन पर्यन्त 1985 ई. तक बना रहा। पहले-पहल त्रिपाठी जी से हमारी भेंट 1926 ई. में बस्ती के वकील स्व. धर्मनाथजी के घर पर हुई, जहाँ हम मिडिल स्कूल परीक्षा पास कर हाई स्कूल में भर्ती के लिए गये थे। कुछ वर्ष बाद अपनी भतीजी का विवाह-प्रस्ताव लेकर वह हमारे पिता के पास हमारे गाँव पर आये थे। जेठ की दुपहरी में वह बस मार्ग से गाँव तक कई किलामीटर पैदल ही चल कर आये थे। उस समय तक हमारे गाँव से सम्पर्क का बैलगाड़ी के अलावा कोई साधन नहीं था। महामना मालवीय सदृश वेशभूषा में उन्हें देखकर सभी लोग प्रभावित हुए थे। तब तक उनकी ख्याति ज़िले भर में फैल चुकी थी। उनसे मिलने के लिए हमारे और आस-पास के गाँवों के गणमान्य व्यक्ति हमारे दरवाज़े पर स्वयं आये थे। ऐसे व्यक्ति द्वारा लाया गया प्रस्ताव भला क्यों न मान्य होता।

विवाह के बाद हमारा सम्पर्क बढ़ा और प्रगाढ़ होता गया। धीरे-धीरे यह भी पता चला कि उन्होंने गाँव में रहने वाले सभी भाइयों के लड़कों का अपने घर पर बस्ती में रखकर पढ़ाया था और उनके परिवार को अपना ही परिवार समझा। त्रिपाठीजी का लगाव केवल अपने भाइयों के परिवार तक ही सीमित नहीं था, वरन सारे जवार से, विशेषकर अपने ग्रामवासियों से था। गाँव-जवार के ब्राह्मण, भूमिहार, छोटी जातियों और जलाहा-जैसे मुसलमानों से भी उनका पूरा लगाव और स्नेह था। वे सभी की यथाशक्ति निःस्वार्थ भाव से सहायता करते थे। वे जब भी छुट्टियों आदि में बस्ती से अपने गाँव कोटिया जाते, तो सारा जवार उनसे मिलने के लिए उमड पड़ता था।

उनके पहुँचने पर गाँव के छोटे-छोटे विवाद भी बातचीत द्वारा तय हो जाया करते थे। त्रिपाठीजी का गाँव से इतना लगाव था कि अवसर पाते ही उन्होंने उसकी उन्नति के लिए बहुत कुछ किया। डिस्ट्रिक बोर्ड की शिक्षा समिति की अध्यक्षता के दौरान उन्होंने गाँव में प्राइमरी स्कूल खुलवाया, जो आसपास के गाँवों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। बाद में वहीं पर सरकार से प्रयत्न करके डाकख़ाना खुलवाया। गाँव में एक संस्कृत पाठशाला भी उनके प्रयत्न से खुली। सम्पर्क मार्गों की मरम्मत की गयी। कोटिया, जो एक अज्ञात गाँव हुआ करता था, धीरे-धीरे विशिष्ट हो गया।

त्रिपाठीजी का गाँव के पट्टीदारों एवं अन्य लोगों से इतना लगाव था कि उन्होंने अपनी धर्म पत्नी का श्राद्ध 1970 ई. में गाँव में ही किया। उस समय वह लोग अपने द्वितीय पुत्र चन्द्रमौलि मणि के साथ गोरखपुर में रहते थे। वकालत और बस्ती वे काफ़ी पहले 1959 ई. में छोड़ चुके थे। तबसे पति-पत्नी अपने चारों लड़कों के यहाँ उनके विशेष आग्रह और लगाव के कारण घूम-फिर कर रहते थे। गाँव में बड़ा आयोजन करना शहर वालों के लिए असुविधाजनक था, लेकिन उन्होंने कहा कि गोरखपुर में आयोजन करने से गाँव के एकाध ही लोग पहुँच सकेंगे। उनकी धर्मपत्नी का गाँव से बहुत लगाव था और वे भी ग्रामवासियों की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहती थीं। त्रिपाठी जी की इच्छा थी कि समस्त ग्रामवासी उनके श्राद्ध कर्म में शामिल हों। ऐसा ही हुआ था। गोरखपुर और दिल्ली आदि से भी उनके प्रतिष्ठित सम्बन्धी यात्रा की कठिनाई के बावजूद उस अवसर पर आये। बस्ती से अनेक गणमान्य व्यक्ति भी शामिल हुए।

त्रिपाठीजी विद्वता के शिखर पर पहुँच कर भी अपने अग्रज स्व. पं. राजमणि त्रिपाठी के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ थे। त्रिपाठी जी दस वर्ष की अवस्था तक अपने पिता आदि के समान निरक्षर थे। उनके अग्रज ही परिवार में एक मात्र शिक्षित थे। गाँव से बाहर जाकर उन्होंने मिडिल स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की और सरकारी नौकरी में लग गये। उनका परिवार-हित-चिन्तन इतना विशाल था कि उन्हीं के प्रयत्न से और सहायता से त्रिपाठी जी ने बेलहर में प्राइमरी शिक्षा, फिर खलीलाबाद में मिडिल परीक्षा पास की, वहाँ से गोरखपुर जाकर मैट्रिक एवं एफ.ए. किया और उत्तरोत्तर प्रगति की। त्रिपाठी जी बराबर कहा करते थे कि आज वे जो कुछ हैं अपने अग्रज के कारण। उन्होंनें यह कृतज्ञता स्पष्ट शब्दों में अपनी महान कृति ***उपनिषद रहस्य*** के प्रथम खंड की प्रस्तावना में प्रकट भी की है।

त्रिपाठीजी पुराने-से-पुराने सम्बन्धी को बराबर समझते थे। ग़रीब से ग़रीब एवं अशिक्षित समवयस्क रिश्तेदार से बातचीत, खान-पान में बराबरी का व्यवहार करते थे और समुचित आदर देते थे। इसी प्रकार कोई भी उनसे किसी भी प्रकार की सहायता के लिए आता तो अपनी ओर से उसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करते थे। विपन्न व्यक्तियों की ऋण लेकर भी आर्थिक सहायता करते थे।

त्रिपाठीजी सादा जीवन, उच्च विचार की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने आजीवन खादी धारण की। उनके लड़के उच्च पदों पर थे, लेकिन उन्होंने कभी कोई व्यक्तिगत इच्छा उनके सामने नहीं रखी। उपनी आवश्यकताओं को उन्होंने न्यूनतम कर रखा था। हमने त्रिपाठीजी को सदैव लेखन-मनन में व्यस्त पाया। अस्वस्थता के वावजूद वे नियम से लेखन कार्य करते थे। उन्हें अनर्गल बात करके समय नष्ट करने वालों से बड़ी चिढ़ थी, क्योंकि वह समय का महत्त्व समझते थे।

त्रिपाठीजी के यहाँ अस्पृश्यता का कभी स्थान नहीं रहा। उस युग में जब बड़े-बड़े नेता भी खानपान में छुआछूत मानते थे, त्रिपाठी जी अछूतों तक के साथ भोजन करने में परहेज नहीं करते थे। यहाँ तक कि अक्सर उनके यहाँ अछूत जाति का व्यक्ति भोजन बनाता था, अवश्य ही उसे सफ़ाई का पूरा ध्यान रखना पड़ता था। त्रिपाठी जी यदि किसी को अछूत या हेय दृष्टि से जातिवाचक सम्बोधन करते सुनते, तो तुरन्त रोकते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में मानवमात्र समान थे।

हमें रह-रह कर उनकी धवल मूर्ति याद आती है। हमारा इतना सुदीर्घ एवं निकट सम्पर्क रहा है कि हमारा हर पल उनके स्मरण से जीवंत है और हर स्मृति संस्मरण।

ऋषि परम्परा की एक कड़ी

विश्वनाथ उपाध्याय

अनादि काल से मानव सत्य की खोज में लगा है। अपनी अनुभूतियों के आधार पर वह अपनी सिद्धान्त स्थिर करता है। इस दिशा में भारतवर्ष ने उदार नीति अपनायी है। यहाँ के विद्वानों ने शास्त्रार्थ की परम्परा स्थापित कर तर्क द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करने की चेष्टा की। इस प्रकार हमारे देश में आस्तिक तथा नास्तिक विचारधाराओं का प्रचार-प्रसार हुआ। सत्य शोध के द्वारा जितने सिद्धान्त स्थिर हुए, कालान्तर में भाष्यकारों ने अपने-अपने मतानुसार बोधगम्य भाषाओं में उनकी टीकाएँ लिखीं। परम आदरणीय स्वर्गीय पं. चन्द्रबली त्रिपाठी इसी परम्परा की एक कड़ी थे। उन्होंने उपनिषदों का तुलनात्मक अध्ययन कर *उपनिषद् रहस्य* नामक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।

त्रिपाठी परिवार से मेरा अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके जीवनकाल में मुझे कई बार उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पहले वे गोरखपुर में अपने द्वितीय पुत्र श्री चन्द्रमौलि जी के साथ रहा करते थे और बाद में अपने कनिष्ठ पुत्र श्री चन्द्रधर जी के दिल्ली आवास पर। 1968 में जब चन्द्रधर जी शिलचर (असम) में उपायुक्त थे उस समय पण्डित जी और उनकी धर्मपत्नी दुर्गावतीजी छ:छ महीनों तक वहाँ रहे थे। उस समय भी उन लोगों से अच्छा सम्पर्क रहा।

मैं जब भी मिला, उनकी विद्वता को देख कर चकित रह गया। केवल दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र में ही नहीं; वरन् साहित्य, शिक्षा एवं राजनीति के क्षेत्रों में भी उनकी गहरी पैठ थी। मिलने पर विभिन्न विषयों पर वे बड़े प्रेमपूर्वक चर्चा किया करते थे। वैसे तो उन्होंने *देशभक्त पार्नेल, धर्मराज युधिष्ठिर, मैत्रेयी, बुद्ध और बौद्ध धर्म, महामना पं. मदन मोहन मालवीय* (संस्मरण), *भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास* तथा *गायत्री उद्बोधिका* आदि कई ग्रन्थों की रचना की, पर *उपनिषद् रहस्य* की रचना कर भारतीय ऋषि परम्परा में उन्होंने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया।

सत्यपुरुष पं. चन्द्रबली त्रिपाठी

श्रीनिवास मणि त्रिपाठी

स्व. पं. चन्द्रबली त्रिपाठी मेरे पिताजी (पं. सुरति नारायण मणि त्रिपाठी) के अनन्य मित्रों में सबसे उच्च स्थान पर थे। जब हम लोग छोटे थे, तो पिता जी के मुँह से बराबर यह सुनने में आता था कि हम दुःख उठा लेंगे, पर त्रिपाठीजी और उनके परिवार का दुःख हम नहीं देख सकते। पण्डित जी के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रचूड़जी मुझसे काफ़ी बड़े थे, पर जब मेरे पिताजी गोन्डा में नियुक्त थे, तब वे मेरे यहाँ आते थे; उनसे भी मैंने अपने बाल्यकाल में बहुत कुछ सीखा।

पण्डित जी के घर पर, जब पिता जी बस्ती में नियुक्त थे, तब मैं बराबर जाता रहता था। पण्डित जी विद्वान और गम्भीर व्यक्ति थे तथा भव्य आकृति के धनी थे। पण्डित जी की वेश-भूषा तथा आकृति महामना पं. मदनमोहन मालवीयजी से मिलती थी। बहुत समय तक वह मालवीय जी के सान्निध्य में रहे, जिस कारण उनके सोच-विचार में वही शालीनता, परिपक्वता झलकती थी, जो मालवीयजी में थी। पण्डित जी आचार-विचार से सनातन धर्म के अनुयायी थे तथा उनकी विद्वत्ता उच्चकोटि की थी। जो ग्रन्थ उन्होंने लिखा है, वह सराहनीय है।

जब भी मैं उनके पास जाता, वे हमेशा भोजपुरी में ही मुझे सम्बोधित करते और गरमी की छुट्टियों में सदा ही पूछते कि कौन-कौन-सी बाहरी पुस्तक पढ़ी है तुमने। जब मैं उन्हें बताता था कि अमुक-अमुक किताबें मैं पढ़ रहा हूँ, तो अपने पुत्रों से भी पूछते कि क्या तुम लोगों ने इन किताबों को पढ़ा है; यदि नहीं पढ़ा है तो उन पुस्तकों को पढ डालो। फिर मुझे आदेश देते कि अमुक-अमुक किताबें भी पढ़ लो। फिर वे संस्कृत ज्ञान के बारे में भी पूछते; मेरे बतलाने पर कहते कि तुम्हारा संस्कृत का ज्ञान कम है और परिश्रम करो, बिना अभ्यास के संस्कृत नहीं आती है। उनके हर वाक्य में एक सीख रहती थी। उनका एक क्षण भी बेकार नहीं जाता था, या तो वे पढ़ते थे या लिखते रहते थे।

पण्डित जी भाग्यशाली पुरुष थे। उनके सभी लड़के उच्च पदों पर थे और हैं। इससे उनको अन्तिम समय में बहुत सुख मिला। सभी लड़के उनके विद्वान भी हैं। जीवन में ऐसे सत्पुरुष से हमेशा अच्छी सीख मिलती है और ग्रहण करने वाला मनुष्य सन्मार्ग पर चल कर सुख प्राप्त करता है। अब न पण्डित जी हैं, न हमारे पूज्य पिताजी हैं। इस प्रकार की मित्रता भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। दोनों व्यक्तियों का सम्बन्ध अन्त समय तक वैसे ही था, जैसे जीवन के प्रारम्भ में। अब तो ये लोग स्वर्ग में विराजमान हैं और हम लोगों को उनका आशीर्वाद सदैव मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

वाङ्मय-मन्थन

विद्यानिवास मिश्र

उपनिषदों और बौद्धदर्शन के ग्रन्थों का मनन देश के और विदेशों के विद्वानों ने बार-बार किया है। एक तरह से निरन्तर मन्थन के प्रयत्न से हमारा वैचारिक वाङ्मय और समृद्ध हुआ है। लोग अपने को पहचानने के लिए अपनी परम्परा का जब प्रत्यवगाहन करते हैं, तो उनका प्रयत्न पूरे समाज के लिए मार्गदर्शक हो जाता है। उपनिषदों और भगवद्गीता पर व्याख्याएँ जब-जब हुईं, उनकी गुणवत्ता के अनुपात में उनका पाठक-समाज न केवल प्रबुद्ध हुआ, बल्कि वह स्वयं अभिप्रेरित हुआ कि हम भी अपनी गहराइयों में डुबकी लगायें। इसी प्रकार बौद्ध वाङ्मय में भी डुबकी लगा कर मोती निकालने का प्रयत्न पाठक को पर्युत्सुक बनाता है कि एक बिसरी हुई थाती को सम्भालने के लिए हम पात्रता पायें। ऐसे दो मन्थनों की चर्चा हम यहाँ करना चाहते हैं। एक है पुनर्मुद्रित ***बौद्ध धर्म-दर्शन*** जो स्व. आचार्य नरेन्द्र देव की ज्ञान-साधना की चरम परिणति है, दूसरा है स्व. पं. चन्द्रबली त्रिपाठी की कृति ***उपनिषद् रहस्य*** । दोनों ज्ञान साधकों ने एकाग्र होकर अपने-अपने ग्रन्थ लिखे, उन्हें किसी सम्मान की आकांक्षा नहीं थी, न यह कार्य उनके जीवन-क्रम से साक्षात सम्बन्ध रखता था। आचार्य जी राजनीति के अखाड़े के धुरन्धर थे, जेल में रहते हुए उन्होंने दो ही काम किये। भारत की अमूल्य विरासत की जानकारी पं. नेहरू को करायी और स्वयं इस ग्रन्थ के अध्ययन में लगे रहे। पं. चन्द्रबली जी महामना मालवीय के निजी सचिव रहे। उसके बाद वे उपनिषदों के अनुशीलन में अहैतुक भाव से लगे और लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में अपने अनुशीलन के फलस्वरूप यह ग्रन्थ लिखना शुरू किया, लगातार पाँच वर्षों में पूरा किया। इन दोनों अध्ययनों को चुनने का विशेष प्रयोजन है। आचार्यजी का ग्रन्थ बहुत दिनों पूर्व प्रकाशित हुआ था, मिल नहीं रहा था, पुनः इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र के सहयोग से नयी भूमिकाओं के साथ प्रकाशित हुआ। पहले संस्करण में स्व. महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की लम्बी और गम्भीर भूमिका थी। भूमिका क्या थी, एक तरह से पूरक ग्रन्थ ही था। इन सबके साथ देखने पर भारतीय ज्ञान-साधना की सम्यता की झाँकी मिलती है। पं. चन्द्रबली का अनुशीलन भी उपनिषदों के ज्ञान को दैनन्दिन जीवन के अनुभव से जोड़ने का समग्र प्रयत्न है, आज के विकलीकृत विश्व में सकलीकरण के इन प्रयासों की ओर ध्यान दिलाना बहुत समीचीन और सामयिक जान पड़ा है।

अस्तु, ***बौद्ध धर्म-दर्शन*** की विशिष्टता इस माने में है कि यह केवल बौद्ध दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों का परिचय मात्र नहीं है, वह भी है और सर्वांगीण है; पर परिचय के अतिरिक्त बहुत कुछ है, यह सभी प्रस्थानों

का संयोजन और समाकलन भी है, साथ ही ज्ञान का साधना के पक्ष से आचार के पक्ष से समन्वय भी है। आचार्य जी ने अपना जीवन अध्यापन से शुरू किया था, इसलिए वे अपनी बात ऐसे रखते हैं, जैसे मँजा हुआ शिक्षक सम्पूर्ण शास्त्रों को आत्मसात् करके विनयी शिष्य के सामने उसका क्रमबद्ध सार रखता है। आचार्यजी अपना अनुशीलन *भगवद्गीता* से प्रारम्भ किया था, इसलिए स्वभावतः उनकी दृष्टि एकांगी नहीं, उन्होंने मार्क्स के ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया और पुरातत्त्व के योग्य विद्यार्थी होने के कारण उन्होंने इतिहास की पर्तों को शीघ्र ही समझ लिया।

आचार्य जी इसीलिए पहले विचारक हैं, जिन्होंने कहा कि आस्तिक का अर्थ वेदनिन्दक या ईश्वरवादी नहीं हैं; आस्तिक का अर्थ जो पाणिनि ने दिया, वही मूल अर्थ है, वह अर्थ है—ऐसा व्यक्ति जो दिष्ट में विश्वास करता है, परलोक को मानता है। स्वयं बुद्ध ने मिथ्यादृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को नास्तिक कहा है। कर्मफल को मानने वाले जैन और बौद्ध पूर्ण आस्तिक हैं। आचार्य जी के शब्दों में मानव समाज की स्थिति और उन्नति के लिए समाज में व्यवस्था का होना आवश्यक है और यह तभी हो सकती है, जब सब लोग इसमे प्रतिपन्न हों कि अशुभ कर्म का अशुभ, शुभ कर्म का शुभ और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। यह सदाचार तथा नैतिकता की भित्ति है।

बौद्ध धर्म-दर्शन में प्रारम्भ में बुद्ध के जीवन पर प्रकाश डाला गया है और बुद्ध की व्यावहारिक शिक्षा का सार्वभौम महत्त्व समझाया गया है, इसके बाद पालि वाङ्मय का सर्वेक्षणात्मक परिचय दिया गया है, उसके बाद बौद्ध साधना के सोपानों का क्रम समझाया गया है, विशेष रूप से ध्यान के सोपानों का। फिर महायान और महायान वाङ्मय का सर्वेक्षण किया गया है और महायान के अनुसार साधना-क्रम का विस्तृत पर्यालोचन किया गया है।

इसके बाद आचार्य जी का अपना प्रतिपादन शुरू होता है। उन्होंने समग्र दृष्टि से *बौद्ध धर्म-दर्शन* को भारती-प्रज्ञा के परिणाम के रूप में देखने का उपक्रम किया है। वे यह दिग्दर्शित करना चाहते हैं कि हीनयान और महायान में विरोध न देख कर तारतम्य देखना चाहिए। दोनों दो प्रकार के अधिकारियों के लिए है, इसलिए परस्पर विरुद्ध दिखते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं, विरुद्ध नहीं। अन्तिम अध्याय का तर्क भी दूसरी प्रणालियों को आमने-सामने रखते हुए बौद्ध न्याय की स्थापनाओं को समझाना है। आचार्य जी ने सौत्रान्तिक, वैभाषिक विज्ञानवादी और माध्यमिक—चारों प्रस्थानों को एक निर्माण के रूप में देखा और माध्यमिक की स्थापना में पूर्व तीनों की उपयोगिता ही प्रतिपादित की।

इसीलिए उनके अभिन्न मित्र और इस शताब्दी के वरेण्य ज्ञानसाधक कविराज जी ने अपनी भूमिका में यथार्थ ही कहा कि ऐसा समग्र ग्रन्थ हिन्दी में नहीं है, दूसरी भाषाओं में भी नहीं। इस ग्रन्थ की समग्रता और विशिष्ट हो गयी है कविराज जी की भूमिका से, जिसमें उन्होंने नैरात्म्यवाद और आत्मवाद के बीच शैवशाक्त साधना और बौद्ध साधना के बीच अपूर्व सेतु का निर्माण किया है और यह समझाया है कि एक ही भारतीय प्रतिभा कई रूपों में स्फुटित हुई है। आगम परम्परा किस प्रकार शाक्त, शैव, वैष्णव और बौद्ध—सभी में कहीं-न-कहीं एक बिन्दु पर मिलती हैं, यही भारतीय संस्कृति की एकोन्मुखता है।

आचार्य जी ने समतावादी व्यवस्था के लिए आध्यात्मिक आधार की आवश्यकता अनुभव की और उन्हें बौद्ध दर्शन में निहित करुणा उपयुक्त आधार के रूप में दिखी। इस आधार पर उन्होंने आज के युग के अनुरूप नव संस्कृति के प्रवर्तन की बात की। इस दृष्टि से ***बौद्ध धर्म-दर्शन*** समस्त भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए पठनीय है। पं. चन्द्रबली त्रिपाठी का उपनिषद् मन्थन दूसरे प्रकार का प्रयत्न है। उसे आचार्य जी का पूरक प्रयत्न कहा जा सकता है। औपनिषदक विचारधारा में से ही चरम सत्य के शोध की जिज्ञासा तीव्र हुई। उसी तीव्रता का एक रूप श्रमण चिन्तन है। औपनिषदक विचारधारा वेद का अंगभूत होते हुए भी वेद के कर्मकाण्ड पक्ष का अतिक्रमण करती है और वह यज्ञ के व्यापार को अन्तर्मुखी करते-करते ब्रह्मात्मैक्य की ओर जाती है। त्रिपाठीजी ने पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। इसलिए उनका चिन्तन एक ओर यूरोपीय चिन्तन की तर्क पद्धतियों से छना हुआ है, दूसरी ओर अपनी देशी व्याख्या-परम्परा से समेकित है।

त्रिपाठीजी का ***उपनिषद् रहस्य*** वस्तुतः तिलक के ***गीता रहस्य*** से प्रेरित है। और यह रहस्यात्मक भाषा से नहीं लिखा गया है, रहस्य को सुबोध भाषा में यहाँ हृदयंगम कराया गया है। त्रिपाठीजी ने समस्त उपनिषदों का गहरा अध्ययन किया। उनके प्राप्त भाष्यों का अध्ययन किया, रानाडे और राधाकृष्णन समेत विदेशी विद्वानों के उपनिषत्परक ग्रन्थों का अनुशीलन किया। तब उन्होंने औपनिषदक चिन्तन की अन्विति की बात की। समस्त उपनिषदों के वाक्यों को निहित सिद्धान्तों का निष्कर्ष पहले निकाल कर, अलग-अलग उपनिषदों के रहस्य समझाने का प्रयत्न उन्होंने किया है। प्रारम्भ ***कठोपनिषद्*** से किया है और छोटे-बड़े 108 उपनिषदों के रहस्यों का प्रकाशन बहुत मनोयोग से किया है। उनका ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है।

त्रिपाठीजी ने अपने पूर्ववर्ती चिन्तन में जहाँ कहीं विरोध है, जहाँ कहीं संगति नहीं बैठती है, वहाँ संगति बिठलाने का भी प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि ब्रह्मज्ञान में समस्त मनुष्यों का समान अधिकार है, प्रतिबन्ध यही है कि उसे प्राप्त करने की उत्कट इच्छा हो, और सभी इच्छाएँ इसके आगे नगण्य हो जायें। उन्होंने ***ब्रह्मसूत्र*** और ***शांकर भाष्य*** से असहमति जतलाते हुए समग्र दृष्टि से उपनिषदों का यही मंतव्य निकाला कि ब्रह्मज्ञान सार्वभौम है। त्रिपाठीजी ने उपनिषदों में ब्रह्म और आनन्द की एकता पर शास्त्रार्थ का निचोड़ देते हुए यह संगति दिखलायी है कि "उपनिषद में आन्दमय आत्म सांसारिक जीव को उद्दिष्ट करना निर्दिष्ट नहीं है, बल्कि उसकी प्रस्तावना ब्रह्म से जीव की एकता प्रतिपादन करने के निमित्त की गयी है। भेद को अवास्तविक दिखा कर जीव और ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादन करना उपनिषद् का प्रयोजन है। इसलिए आनन्दमय आत्मा से सांसारिक जीव न समझ कर ब्रह्म समझना उपयुक्त है। जीवात्मा और ब्रह्म अभेद होते हुए जीव अविद्या के कारण शरीरादि के संयोग से अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है, उसे यह उपदेश करना कि वह शरीरी नहीं अशरीरी ब्रह्म है, इस भेद को समझाने के लिए कहा गया—*रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति*—वह अर्थात् परमात्मा सचमुच रस है। यह अर्थात् संसारी जीव रस को ही प्राप्त करके आनन्दी होता है। यहाँ जीव और ब्रह्म का भेद इस प्रकार दिखाया गया कि जीव को जो कुछ आनन्द मिलता है, वह उसे रसरूप ब्रह्म के रस अर्थात् आनन्द के मिलने से ही होता है। इसका निष्कर्ष यह है कि जीव में स्वतः रूप-आनन्द-नहीं है और उसे जो आनन्द मिलता है, वह परमात्मा के आनन्द सागर का एक बिन्दु मात्र है। समस्या यह है कि रस (आनन्द) का प्राप्तकर्ता जीव जिस ब्रह्म से रस की प्राप्ति करता है, ब्रह्म से

भिन्न ज्ञात होता है, ऐसी अवस्था में जीवात्मा और ब्रह्म एक नहीं हो सकते। इस परिप्रेक्ष्य में शंकर तर्क करते हैं कि जो प्राप्त करने वाला है, वही प्राप्तव्य नहीं हो सकता, इसका अभिप्राय यह है कि यह बात सिद्ध है कि आनन्द प्राप्त करने वाला संसारी जीव तथा आनन्द एक नहीं, अलग-अलग (पृथक-पृथक) हैं।''

इस अलग होने का भाव तभी तक है, जब तक आनन्द के अपार सागर के साथ एकता नहीं होती, होने पर अपने आप इस प्रकार के ज्ञान के लिए अवकाश नहीं रह जाता। इस लम्बे अवतरण को देने का अभिप्राय यह भी है कि इससे त्रिपाठीजी कि प्रतिपादन शैली की झलक मिल जायेगी। इसी शैली में समस्त उपनिषदों की व्याख्या की गयी है। शंका उठायी गयी है। उसका समाधान किया गया है, अन्य उपनिषदों के वाक्यों से संगति बिठलायी गयी है।

उपनिषद् रहस्य न केवल उपनिषदों की सत्यान्वेषी परम्परा का दिग्दर्शन करायेगा, अपितु कैसे भारतीय किसी तत्त्व को समझने की कोशिश सहज भाव से करता है, इसका भी ज्ञान होगा। हम लोगों की विचार-भाषा कितनी गँठीली होती है, यह हम जानते हैं, त्रिपाठीजी की भाषा अथवा आचार्य जी की भाषा उतनी ही सुलझी हुई क्रमबद्ध और सहज है। यह सहजता अपनी परम्परा को समग्र रूप से ग्रहण करने से अपने आप आती है। ये दोनों ही ग्रन्थ आज के जिज्ञासु पाठक के लिए अमूल्य निधि हैं।

लेखक परिचय

गोविन्द चन्द्र पाण्डे	:	दार्शनिक एवं चिन्तक; पूर्व कुलपति, राजस्थान एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय
स्वामी लोकेश्वरानन्द	:	रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी; निदेशक, रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ़ कल्चर, कलकत्ता
रामनारायण त्रिपाठी	:	पूर्व प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
ब्रजमोहन चतुर्वेदी	:	पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
स्व. मधुसूदन ओझा	:	प्रसिद्ध वैदिक विद्वान
कर्ण सिंह	:	चिन्तक, लेखक, राजनयिक, पूर्व केन्द्रीय मंत्री
रेवतीरमण पाण्डेय	:	प्रोफ़ेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
उषा चौधुरी	:	प्रोफ़ेसर, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ब्रजबिहारी चौबे	:	प्रोफ़ेसर, विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर
दयानन्द भार्गव	:	प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय
सिद्धेश्वर प्रसाद	:	पूर्व केन्द्रीय मंत्री एवं लेखक
रुद्रदेव त्रिपाठी	:	निदेशक, बृजमोहन बिड़ला शोध केन्द्र, उज्जैन
रामशंकर त्रिपाठी	:	पूर्व प्रोफ़ेसर, बौद्ध दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; रिसर्च प्रोफ़ेसर, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ
इ. पाण्डुरंगराव	:	साहित्यकार, बहुभाषाविद्; निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
वाचस्पति उपाध्याय	:	पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय; कुलपति, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
किरीट जोशी	:	दर्शन तथा धर्म के विद्वान; पूर्व विशेष सचिव, केन्द्रीय शिक्षा विभाग, नई दिल्ली
मुनीश जोशी	:	पूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण; सदस्य-सचिव, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली
करुणेश शुक्ल	:	प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

विद्यानिवास मिश्र	:	चिन्तक एवं साहित्यकार; पूर्व कुलपति, काशी विद्यापीठ एवं सम्पूर्णानन्द वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; पूर्व प्रधान सम्पादक, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली
चन्द्रमौलि मणि	:	पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी के द्वितीय पुत्र, अवकाश प्राप्त अतिरिक्त महाप्रबन्धक, पूर्वोत्तर रेलवे
सीताराम चतुर्वेदी	:	धर्म, दर्शन एवं संस्कृत के विद्वान, महामना पंडित मदन मोहन मालवीय के सचिव
चन्द्रचूड़ मणि	:	पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी के ज्येष्ठ पुत्र, पूर्व प्रोफ़ेसर, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ
चन्द्रभाल त्रिपाठी	:	पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी के तृतीय पुत्र; मानव विज्ञानवेत्ता; अवकाश प्राप्त उपायुक्त, अनुसूचित जातियॉं तथा अनुसूचित जन जातियॉं, भारत सरकार
अरुणा त्रिपाठी	:	पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी के चतुर्थ पुत्र श्री चन्द्रधर त्रिपाठी की पत्नी, प्राचीन भारतीय इतिहास में पीएच.डी.
बुद्धरश्मि मणि	:	श्री चन्द्रचूड़ मणि के पुत्र; अधीक्षक पुरातत्वविद्, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, दिल्ली मडल
वैद्यनाथ सरस्वती	:	पूर्व प्रोफ़ेसर, मानव विज्ञान विभाग, नार्थ-ईस्ट हिल यूनिवर्सिटी, शिलांग, विज़िटिंग प्रोफ़ेसर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली
रामफेर त्रिपाठी	:	पूर्व रीडर, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
भवानी शंकर शुक्ल	:	प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृत के विद्वान, सेवानिवृत्त आई.ए.एस. अधिकारी
शिवाशंकर पाण्डेय	:	साहित्यकार, पूर्व उपनिदेशक, राजभाषा विभाग, भारत सरकार
पारसनाथ मिश्र	:	संस्कृत विद्वान (पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी के पैतृक निवास के पड़ोसी ग्राम के निवासी)
रामदेव दुबे	:	पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी की भतीजी के पति, गोरखपुर
विश्वनाथ उपाध्याय	:	पूर्व सदस्य, असम विधानसभा (मूलतः बलिया निवासी), सिलचर
श्रीनिवास मणि त्रिपाठी	:	पंडित चन्द्रबली त्रिपाठी के अनन्य मित्र पंडित सुरतिनारायण मणि त्रिपाठी के ज्येष्ठ पुत्र; पूर्व सदस्य, उत्तर प्रदेश विधानसभा; ऐडवोकेट, गोरखपुर

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
25	ऊपर से पाँचवीं	प्रमाण्यम्	प्रामाण्यम्
25	नीचे से तीसरी	प्रामाप्यस्य	प्रामाण्यस्य
26	ऊपर से आठवीं	प्रत्यक्षादिप्रमाण्यम्य	प्रत्यक्षादिप्रामाण्यस्य
27	ऊपर से दूसरी	प्रबुद्धवद्धिहिरण्यगर्भादीनां	प्रबुद्धवद्धिहिरण्यगर्भादीनां
27	ऊपर से छठी	सदर्थसिद्धये	सदर्थसिद्ध्यै
27	नीचे से दूसरी	र्मीः	धीः
28	ऊपर से तीसरी	वलादनुमितेन	बलादनुमितेन
28	ऊपर से पाँचवीं	सच्चिदानन्दस्वरूपात्	सच्चिदानन्दस्वरूपात्
28	नीचे से पहली	बुद्धिवृत्तिर्विषया	बुद्धिवृत्तिर्विषया
29	नीचे से पहली	हीयेत	हीयते
35	नीचे से बारहवीं	सिद्धयति	सिद्ध्यति
35	नीचे से सातवीं	तेन	तेन
39	ऊपर से ग्यारहवीं	जुहुमस्तन्नों	जुहुमस्तन्नो
46	ऊपर से पाँचवीं	वघु	लघु
46	ऊपर से तेरहवीं	नद्यः	नद्यः
46	ऊपर से पंद्रहवीं	विद्वान	विद्वान्
48	ऊपर से चौथी	वेदाहमेतम पुरुषं	वेदाहमेतम्पुरुषं
48	ऊपर से चौथी	परस्तात	परस्तात्
48	नीचे से दूसरी	ज्योतिर्गिमय	ज्योतिर्गमय
50	ऊपर से नौवीं	उस	उत
50	ऊपर से दसवीं	निष्टतक्षुः	निष्ठतक्षुः
50	ऊपर से ग्यारहवीं	मनीषणो	मनीषिणो
52	ऊपर से चौदहवीं	तेषामल्पराधे	तेषामल्पापराधे
53	ऊपर से चौदहवीं	योगाग्रतयः	योगाग्रतः
57	नीचे से छठी	उत्पुरंधीरुदम्नयः	उत्पुरंध्रीरुदम्नयः
57	नीचे से चौथी	तमसापगूल्लाविष्कृण्वन्त्युषसो	तमसापगुल्याविष्कृण्वन्त्युषसो
57	नीचे से पहली	पुरंघी	पुरंध्री
57	नीचे से पहली	ताः	ता
58	ऊपर से पहली	अह्वनीयाद्यः	आह्वनीयाद्या·
58	ऊपर से पहली	अस्तुः	अस्तु
58	ऊपर से तीसरी	अपगूह्यनि	अपगुह्यनि
60	ऊपर से चौथी	अस्मे	अस्मै
60	ऊपर से पाँचवीं	(वीरवत्)	(वीरवद्)
60	नीचे से सातवीं	मतिर्जरन्ते	मतिभिर्जरन्ते
62	ऊपर से पंद्रहवीं	भद्रंमप्नः	भद्रमप्नः
65	ऊपर से सातवीं	हर्मेभ्यः	हर्म्येभ्यः
69	नीचे से ग्यारहवीं	ज्योष्मती	ज्योतिष्मती
72	नीचे से ग्यारहवीं	अर्थववेद	अथर्ववेद
72	नीचे से चौथी	अवे.	अथर्ववेद
88	ऊपर से बारहवीं	प्रसिद्धयति	प्रसिद्ध्यति
89	ऊपर से पंद्रहवीं	द्विशतात्मों	द्विशतात्मा
89	नीचे से छठी	सिद्धयस्तु	सिद्ध्यस्तु
93	नीचे से पाँचवीं	स्थिरमिन्द्रियधारणाम	स्थिरमिन्द्रियधारणाम्
98	नीचे से पहली	प्रवुद्धोऽस्तु	प्रवुद्धोऽयं
109	नीचे से तेरहवीं	यथावत्सम्प्रकाशितम्	यथावत्सम्प्रकाशितम्
112	ऊपर से पाँचवीं	धर्म	धर्मं
112	ऊपर से ग्यारहवीं	रूपेतः	रूपतः
113	ऊपर से पहली	चनो	वनो

113	ऊपर स दूसरी	सिद्ध	सिद्धे
113	ऊपर स स आठवीं	पदय	पद्य
126	नीच से वारहवी	महिष्मती	माहिष्मती
126	नीचे से वारहवी	कलराजाधानीम्	कलराजधानीम्
126	ऊपर से दसवीं	रक्ताबर	रक्ताम्बर
128	ऊपर से ग्यारहवीं	ध्यायेन्म हाबलाविजृम्भितकार्तवीर्यम्	ध्यायेन्महाबलविजृम्भितकार्त्तवीर्यम्
129	नीचे स ग्यारहवीं	नवरात्रि	नवरात्र
133	ऊपर से दूसरी	पड्ज्ञाशन्यास	षड्ज्ञासन्यास
133	नीचे से पाचवी	श्री राग	श्रीराग
135	ऊपर स ग्यारहवीं	वोधौ	वोधौ
139	ऊपर से आठवी	वोधित्तिम्	बोधिचित्तम्
150	ऊपर से दूसरी	सात्पिकम	सात्विकम्
176	नीचे से तीसरी	जन्मुमुक्षो	जन्ममुक्षो
178	ऊपर से आठवीं	चाणरादि	चाणूरादि
212	नीचे से सातवीं	विद्वता	विद्वत्ता
213	ऊपर से चौदहवीं	श्वेताश्वेतर	श्वेताश्वतर
213	ऊपर से चौदहवी	विद्वतापूर्ण	विद्वत्तापूर्ण
213	नीचे मे तीसरी	सानिध्य	सान्निध्य
221	ऊपर से तेरहवीं	वायुमती	वसुमती
221	नीचे से तरहवीं	तक	एक
221	नीचे से चौथी	23 मई	28 मई
221	नीच से दूसरी	साधु के	साधु
222	ऊपर स आठवी	थिवो	थिबो
223	ऊपर से दूसरी	ओ३म्	ओऽम
223	ऊपर से आठवीं	ब्रह्म	ब्रह्मा
223	नीचे से पहली	दधिकानन्दन	दधिकान्दो
224	नीचे से पाँचवीं	बुद्ध-पूर्णिमा की जयन्ती	बुद्ध जयन्ती
230	ऊपर से पद्रहवीं	यौवनशास्त्र	यौनशास्त्र
230	नीचे से छठी	जीवन	जीव
230	नीचे से तीसरी	आनन्दोमयोअभ्यासात्	आनन्दमयोऽभ्यासात्
230	नीचे से दूसरी	रानाडे	रानडे
231	ऊपर से पाँचवीं	आते ही	चाहे
231	नीचे से पहली	किश्चद्धर्मोअ्स्मात्	कश्चिद्धर्मोऽस्मात्
238	नीचे से पहली	30.8 86	३०.८.८६
239	ऊपर से आठवीं	डॉ	श्री -
248	नीचे से चौदहवीं	दुशाला	शॉल
250	ऊपर से पन्द्रहवीं	बच्चे	बच्चो
256	ऊपर से सातवीं	रामूर्ति	राममूर्ति
256	नीचे से तेरहवीं	- मुनियों को	- मुनियो मे
263	ऊपर से छठी	श्रीमद्भागवत्गीता	श्रीमद्भगवत्गीता
267	ऊपर से दूसरी	फ्रैडरिक	फ्रेडरिक
267	ऊपर से छठी	UpnishaDs$	upanishads
269	ऊपर से दूसरी	सौम्य के	सौम्य
269	नीचे से ग्यारहवीं	किरातार्जुनीयम	किरातार्जुनीयम्
269	नीचे से दसवीं	मग्न मापत्ययोधौ	मग्नमापत्ययोधौ
269	नीचे से नौवीं	लक्ष्मी स्त्वासमभ्येतु	लक्ष्मीस्त्वासमभ्येतु
273	ऊपर से ग्यारहवीं	गणमान्य	गण्यमान्य
273	ऊपर से ग्यारहवीं	लडकों का	लडको को
273	ऊपर से तेहरवीं	जलाहा	जुलाहा
273	नीचे से पाँचवीं	डिस्ट्रिक	डिस्ट्रिक्ट
274	ऊपर से पाँचवीं	गणमान्य	गण्यमान्य
274	नीचे से ग्यारहवीं	उपनी	अपनी